एकलव्य का प्रकाशन

बचपन से पलायन

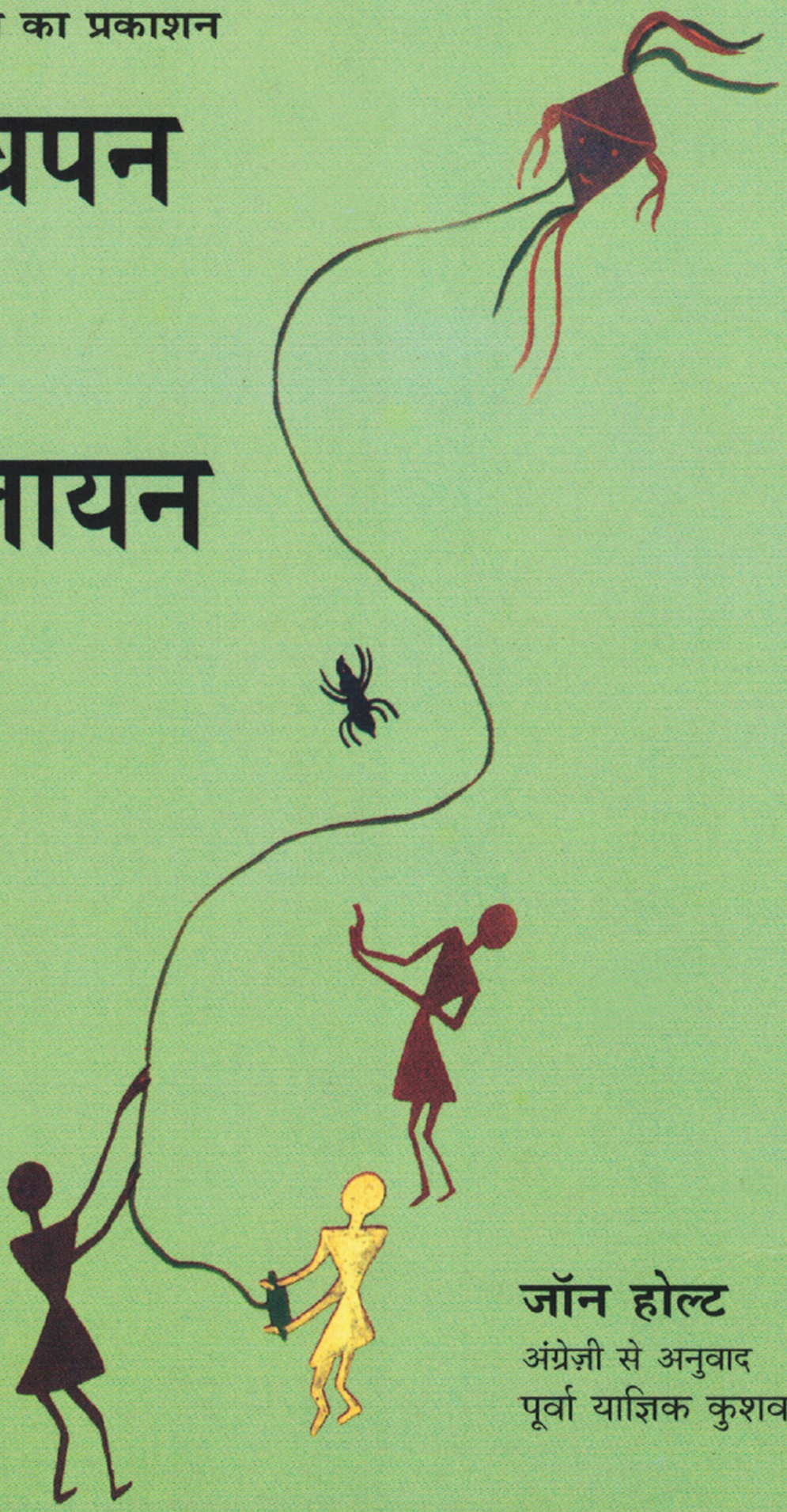

जॉन होल्ट

अंग्रेज़ी से अनुवाद
पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

बचपन से पलायन

बच्चों की आवश्यकताएँ व अधिकार

जॉन होल्ट

अँग्रेज़ी से अनुवाद

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

एकलव्य का प्रकाशन

बचपन से पलायन
Bachpan se Palayan
लेखकः जॉन होल्ट
अँग्रेज़ी से अनुवादः पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा
रेखांकनः मनस्विनी ल.र.
आवरण चित्रः आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के लिए अलारिप्पु द्वारा तैयार डायरी-कैलेण्डर (1988-1990) से आभार

संस्करणः अक्तूबर 2005 / 2000 प्रतियाँ
पहला पुनर्मुद्रणः सितम्बर 2008 / 3000 प्रतियाँ
दूसरा पुनर्मुद्रणः मई 2014 / 3000 प्रतियाँ
तीसरा पुनर्मुद्रणः फरवरी 2021 / 1000 प्रतियाँ
कागज़ः 70 gsm नेचुरल शेड व 300 gsm पेपर बोर्ड (कवर)
ISBN: 978-81-87171-63-8
मूल्यः ₹ 300.00

प्रकाशकः **एकलव्य फाउंडेशन**
जमनालाल बजाज परिसर
फॉर्च्यून कस्तूरी के पास, जाटखेड़ी,
भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः +91 755 - 297 7770, 71, 72, 73
www.eklavya.in / books@eklavya.in

मुद्रकः बॉक्स कॉरोगेटर्स एंड ऑफसेट प्रिंटर्स, भोपाल, फोन +91 755 258 7551

विषयवस्तु

आभार v
प्राक्कथन vii
1. बाल्यावस्था की समस्या / 2
2. बाल्यावस्था की संस्था / 8
3. इतिहास में बाल्यावस्था / 16
4. परिवार तथा उसके उद्देश्य / 28
5. बड़ों की सत्ता का लोप / 36
6. जीवन की असंख्य "विपदाएँ" / 41
7. बच्चों का बोझ / 46
8. बाल्यावस्था का एक उपयोग / 55
9. "मदद" व "मददगार" / 57
10. बच्चों की क्षमताएँ / 64
11. प्रेम का पात्र बच्चा / 76
12. बच्चों को "प्यारे-प्यारे" मानना / 84
13. बच्चे प्यारेपन को कैसे भुनाते हैं / 92
14. प्यार हर चीज का उपचार नहीं हो सकता / 100
15. जो बच्चों की आवश्यकताएँ हैं, वही हमारी भी हैं / 110
16. "अधिकार" शब्द के उपयोग पर / 116
17. मताधिकार / 120
18. काम करने का अधिकार / 133
19. सम्पत्ति का अधिकार / 148
20. यात्रा का अधिकार / 153
21. अभिभावक चुनने का अधिकार / 162
22. सुनिश्चित आय का अधिकार / 174
23. कानूनी व वित्तीय दायित्व का अधिकार / 177
24. अपने शिक्षण को नियंत्रित करने का अधिकार / 191
25. नशीली दवाओं के उपयोग का अधिकार / 198
26. वाहन चलाने का अधिकार / 213
27. कानून, युवा तथा सेक्स / 216
28. कदम जो उठाए जाने चाहिए / 222

पाँचवीं कक्षा के बच्चों के साथ जॉन होल्ट

आभार

बच्चों, वयस्कों के साथ उनके सम्बन्धों तथा समाज में उनके स्थान पर वर्षों तक मेरा सोचना-विचारना चलता रहा। इसमें मुझे मेरी बहनों जेन पिचर तथा सूसन बॉन्टेक, और मेरे मित्रों तथा सहकर्मियों पैगी ह्यू, टैरी क्रॉस तथा मार्गोट प्रीस्ट की बहुत मदद मिली। इस पुस्तक की तैयारी के हर चरण में मार्गोट प्रीस्ट ने मुझसे चर्चाएँ कीं और अपने मूल्यवान सुझाव व अन्तर्दृष्टियाँ जोड़ीं।

पॉल गुडमैन ने अपनी पुस्तक *ग्रोइंग अप एब्सर्ड* तथा बाद में पीटर मान ने अपने आलेख "द ओपन ट्रुथ एण्ड फायरी वेहमन्स ऑफ यूथ" के द्वारा पहले-पहल मेरे मन में यह विचार जगाया था कि आधुनिक बाल्यावस्था शायद उतनी सुखद न हो। जे.एच. वैन डेन बर्ग की पुस्तक *द चेंजिंग नेचर ऑफ मैन* पढ़कर लगा कि यह विचार बिलकुल ही नया है। इसके बाद मैंने उस पुस्तक से बहुत कुछ सीखा जो अब आधुनिक बाल्यावस्था के इतिहास की मूल पाठ्य पुस्तक बन चुकी है। यह पुस्तक थी फिलिप एरिस की *सेन्चुरीस ऑफ चाइल्डहुड*। एलिज़ाबेथ जेनवे की पुस्तक *मैनस् वर्ल्ड, वुमेन्स प्लेस,* शूलामिथ फायरस्टोन की *द डायलैक्टिक्स ऑफ सेक्स* तथा एडगर फ्रीडनबर्ग की युवाओं पर कई पुस्तकें व आलेख पढ़कर भी मुझे महत्वपूर्ण व अतिरिक्त जानकारी और अन्तर्दृष्टि मिल सकी।

उपरोक्त सभी के प्रति में कृतज्ञ हूँ। मैं उन सभी के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने इन विचारों पर मुझसे चर्चाएँ कीं।

जॉन होल्ट

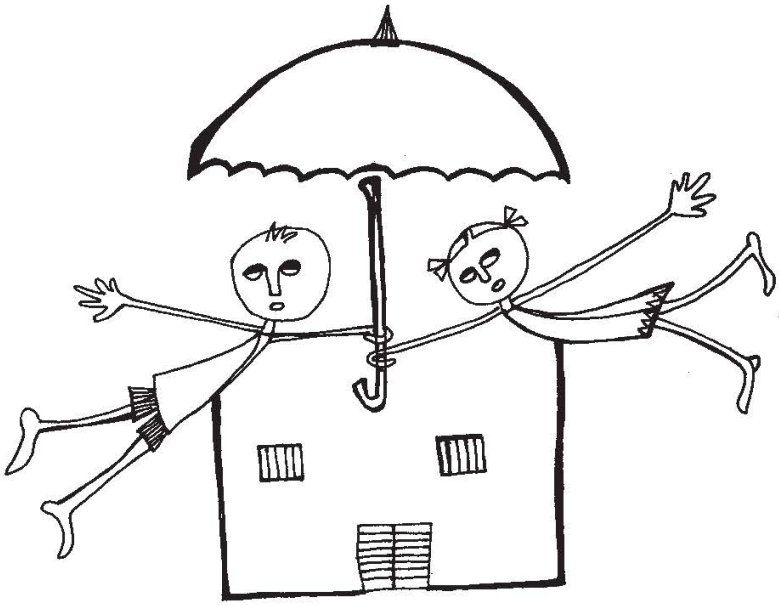

प्राक्कथन

डच ऐतिहासिक मनोविज्ञानी जे.एच. वैन डेन बर्ग अपनी पुस्तक *द चेंजिंग नेचर ऑफ मैन* में दार्शनिक मार्टिन बूबेर की एक कथा बताते हैं। एक भाषण के बाद बूबेर अपने कुछ मित्रों के साथ एक रेस्तराँ में बैठे चर्चा कर रहे थे। एक अधेड़ यहूदी सज्जन आए, उन्होंने अपना परिचय दिया, पास बैठे और बड़े ध्यान से, चुपचाप बातचीत सुनने लगे। चर्चा खत्म होने के बाद वे बूबेर के पास आए। वे उनसे एक युवक के बारे में कुछ प्रश्न पूछना चाहते थे जिससे उनकी बेटी ब्याह करना चाहती थी। उनको यह प्रश्न परेशान कर रहा था कि उनके भावी दामाद को बैरिस्टर बनना चाहिए या सॉलिसिटर। बूबेर ने उत्तर दिया कि क्योंकि वे युवक से अपरिचित थे, वे प्रश्न का जवाब देने में असमर्थ थे। और अगर वे उसे जानते भी होते, तो भी शायद बता नहीं पाते। उस व्यक्ति ने बूबेर को धन्यवाद दिया और हताश लौट गया।

इस घटना पर वैन डेन बर्ग लिखते हैं:

> इस वार्तालाप में एक प्राचीन निश्चितता आधुनिक अक्षमता के कारण खण्डित हुई। निश्चितता यह कि जो लोग ज्ञानी हैं वे सब जानते हैं। बूबेर को कहना चाहिए था, "उसे सॉलिसिटर बनना चाहिए" या "उसे बैरिस्टर बनना चाहिए।"
>
> बूबेर की तरह के आज के दार्शनिक कहेंगे, "उसे कैसे पता चलता?" मानो सभी कर्म ज्ञान पर आधारित हों। ज़ाहिर है बूबेर उपरोक्त युवक के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। पर उनसे जानने को कहा ही कब गया था। उनसे तो सिर्फ सलाह माँगी गई थी। उनकी राय माँगी गई थी, ज्ञान नहीं। क्या सत्य, दो व्यक्तियों के बीच रिश्तों का सत्य, मूलतः एक-दूसरे के प्रति भयमुक्त होने का नतीजा नहीं है?
>
> क्या सत्य अन्ततः एक नतीजा नहीं है, एक गढ़ी हुई वस्तु, किसी ज्ञानी की रचना? जो व्यक्ति जानता है, वही बोलकर भविष्य को रचता है।

हमारे युग में अधिकाधिक लोग सत्य को कुछ यूँ परिभाषित करते हैं मानो वह किसी "वैज्ञानिक" प्रयोग का परिणाम हो, जहाँ चीज़ों को नापा-तोला गया हो, उन्हें साफ आँकड़ों के रूप में तालिकाबद्ध किया गया हो। कुछ उद्देश्यों के सन्दर्भ में यह परिभाषा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है, पर कुछ दूसरों के सन्दर्भ में, जिनमें हमारे गम्भीरतम उद्देश्य भी शामिल हैं, यह बिलकुल व्यर्थ है। ऐसे "प्रयोगों" से हम कभी भी यह पता नहीं लगा पाएँगे कि हम साथ-साथ कैसे जी सकते हैं। जहाँ तक भविष्य का सवाल है, अधिकतर लोग उसके बारे में कुछ इस प्रकार लिखते-बोलते हैं मानो वह भविष्य अस्तित्व में आ चुका हो, मानो हम शर्तिया उसकी दिशा में बढ़े जा रहे हों। ठीक उस रेलगाड़ी में सवार यात्रियों की तरह जो उस जगह की ओर बढ़ रही हो जिसे उन्होंने अब तक देखा नहीं है, जिसकी उन्होंने सिर्फ कल्पना की है। ज़ाहिर है कि यह सच्चाई नहीं है। भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। वह बनाया नहीं जा चुका है। वह तो हमारे बनाते-बनाते ही बनेगा। हमें खुद से यह प्रश्न करना चाहिए कि हम किस प्रकार का भविष्य चाहते हैं। इस प्रश्न के मेरे जवाब को मैंने इस पुस्तक में कुछ हद तक समेटा है।

बचपन से पलायन

बच्चों की आवश्यकताएँ व अधिकार

1. बाल्यावस्था की समस्या

यह पुस्तक बच्चों और किशोरों के विषय में है, आधुनिक समाज में उनके स्थान, या कहें स्थान के अभाव के विषय में है। यह पुस्तक आधुनिक बाल्यावस्था की *संस्था* पर है। उन दृष्टिकोणों, प्रथाओं और नियमों के विषय में है जो आधुनिक जीवन में बच्चों को परिभाषित व स्थापित करते हैं, और काफी हद तक यह तय करते हैं कि बच्चों के जीवन कैसे होंगे और हम, अर्थात् उनके बड़े-बुजुर्ग, उनसे कैसा व्यवहार करेंगे। मुझे लगता है कि बाल्यावस्था कई अर्थों में उन अधिकांश बच्चों के लिए बड़ी खराब अवस्था है जिन्हें इसके तहत जीना पड़ता है। इसे बदलना चाहिए। और इसे कैसे बदला जाए यह भी इस पुस्तक की विषयवस्तु है।

एक लम्बे समय तक इस संस्था पर सवाल उठाने का विचार तक मुझे नहीं सूझा था। हाल ही के वर्षों में मैं सोचने लगा कि क्या बच्चों और किशोरों के जीने के अन्य व बेहतर तरीके भी हो सकते हैं। अब मुझे लगने लगा है कि "बच्चा" होना, पूरी तरह अधीन व परावलम्बी होना, अपने बड़ों द्वारा एक महँगे सिरदर्द, एक गुलाम या पालतू जीव के रूप में देखा जाना, उन्हें फायदे से कहीं अधिक नुकसान पहुँचाता है।

मेरा प्रस्ताव है कि हम वयस्क नागरिकों के हक, विशेषाधिकार, दायित्व व ज़िम्मेदारियाँ उन बच्चों को भी *उपलब्ध कराएँ* जो उन्हें उठाना चाहते हों। फिर उनकी आयु कुछ भी क्यों न हो। इसमें तमाम दूसरी चीज़ों के साथ निम्नांकित बातें भी शामिल होंगीः

1. कानून से समान व्यवहार पाने का अधिकार, अर्थात् बच्चों से किसी भी स्थिति में किसी वयस्क से अधिक खराब व्यवहार न किया जाए।
2. मत देने का और राजनैतिक मामलों में पूर्ण भागीदारी का अधिकार।
3. अपने जीवन तथा कृत्यों के विषय में कानूनी रूप से ज़िम्मेदार होने का अधिकार।
4. पैसों के लिए काम करने का अधिकार।
5. एकान्तता (प्राइवेसी) का अधिकार।

6. वित्तीय स्वतंत्रता व दायित्व का अधिकार, अर्थात् सम्पत्ति रखने, खरीदने या बेचने, ऋण लेने, साख स्थापित करने, अनुबन्ध करने का अधिकार।
7. अपनी शिक्षा को स्वयं निर्देशित व प्रबन्धित करने का अधिकार।
8. यात्रा करने, घर से अलग रहने, अपना घर स्वयं चुनने या बनाने का अधिकार।
9. सरकार जो न्यूनतम सुनिश्चित आय वयस्कों को उपलब्ध करवाती है, ठीक वही आय प्राप्त करने का अधिकार।
10. पारस्परिक सहमति से अपने परिवार के अतिरिक्त दूसरे लोगों से अर्द्ध-पारिवारिक रिश्ते बनाने और स्थापित करने का अधिकार। अर्थात् अपने माता-पिता के अलावा किसी व्यक्ति को अपने अभिभावक के रूप में स्वयं चुनने का तथा कानूनी रूप से उस पर निर्भर बनने का अधिकार।
11. सामान्यतः वह सब करने का अधिकार जो कोई वयस्क कानूनी रूप से कर सकता है।

मैंने अपनी सूची को महत्ता के क्रम में बनाने की कोशिश नहीं की है। सम्भव है कुछ बच्चों और किशोरों को एक अधिकार सबसे महत्वपूर्ण लगे तो दूसरों को कोई दूसरा ही। ना ही मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि इस सूची में समेटे गए सभी अधिकार या दायित्व एकमुश्त हों, यानी अगर किसी बच्चे या किशोर को इनमें से कोई एक पसन्द हो तो उस पर शेष भी लाद दिए जाएँ। उसे इनमें से चुनने का अधिकार हो। परन्तु फिर भी इस सूची में कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो स्वाभाविक रूप से दूसरे अधिकारों से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, यात्रा का या स्वयं अपना घर चुनने का अधिकार उस स्थिति में निरर्थक सिद्ध होगा जब उस बच्चे को कानूनी व वित्तीय ज़िम्मेदारी का, काम करने और आय प्राप्त करने का अधिकार न हो।

इनमें से कुछ अधिकार कानून, प्रथाओं तथा दृष्टिकोणों सम्बन्धी बदलावों से दूसरों के बनिस्बत कहीं अधिक जुड़े हैं और उन पर निर्भर हैं। अतः सम्भवतः हम चौदह वर्ष के किसी किशोर को वाहन चलाने का अधिकार मतदान के अधिकार से पहले दे दें। और मतदान का अधिकार विवाह करने के अधिकार या अपने यौन जीवन को स्वयं नियंत्रित करने के अधिकार से पहले दे दें। और यह भी सम्भव है कि बेरोज़गारी और गरीबी को सहने वाले 1973 के संयुक्त राज्य अमरीका जैसे समाज में बच्चों और किशोरों को काम करने के अधिकार कभी मिले ही नहीं। किसी भी देश को गरीबी हटाने के लिए और रोज़गार का ऊँचा स्तर बनाए रखने के लिए स्वीडन या डेनमार्क की तरह कठोर राजनैतिक निर्णय लेने होंगे। और केवल तब ही उस देश के वयस्क बच्चों को उन

नौकरियों के लिए खुद से स्पर्धा करने की इजाज़त देंगे। इसी तर्क के आधार पर कोई भी समाज अपने बच्चों और किशोरों को कानून की नज़र में समानता का अधिकार उस स्थिति में कभी देगा ही नहीं जब वह समाज वयस्क महिलाओं या किसी खास नस्ल के सदस्यों या अल्पसंख्यकों को यह अधिकार न देता हो।

मैं जिन परिवर्तनों की पैरवी कर रहा हूँ वे एकबारगी नहीं आएँगे। अगर वे कभी आते भी हैं, तो उनका आगमन एक धीमी प्रकिया होगी, जिसमें कई सालों तक कुछ कदम उठाए जाएँगे। हाल में हमने मतदान के अधिकार के लिए न्यूनतम आयु इक्कीस वर्ष से घटाकर अठारह वर्ष कर दी है। हमें इसे और कम कर सोलह या पन्द्रह और फिर क्रमशः चौदह या बारह कर डालना चाहिए। ताकि यह बाधा तथा वे तमाम अन्य बाधाएँ भी पूरी तरह खत्म हो जाएँ जो युवाओं को अपने इर्दगिर्द की दुनिया में गम्भीर, स्वतंत्र तथा ज़िम्मेदार भागीदारी से रोकती हैं। पर इसमें समय लगेगा। सम्भव है कि यह विलम्ब ज़रूरी भी हो।

एक अश्वेत महिला ने एक बैठक में आधुनिक युग में बाल्यावस्था के सवाल पर चर्चाएँ सुनने के बाद मुझसे विनम्रता से, पर साग्रह पूछा कि जब हमारे सामने इतनी अधिक गम्भीर और दुखद समस्याएँ हैं तो मैं क्योंकर इस समस्या विशेष पर लिखने-बोलने में समय लगाता हूँ। पहली बात पहले क्यों नहीं उठाता हूँ। उनके दिमाग में ज़रूर अमरीका में बसे (और शायद दूसरे देशों के भी) अश्वेतों की समस्या रही होगी। प्रजाति, लिंग, आयु, नस्लभेद या गरीबी आदि के बजाए बाल्यावस्था में दमन की तमाम समस्याओं, जिनसे मेरा सरोकार है, को चुनने के कई कारण हैं। पहला तो यह कि मेरा यह सरोकार और मेरी मान्यताएँ एक शिक्षक, एक छात्र और तमाम बच्चों के मित्र के रूप में मेरे निजी अनुभवों से उपजे हैं। दूसरे, मैं स्वयं को इस विषय पर बच्चों का बिन बुलाया प्रवक्ता बना चुका हूँ। इसलिए क्योंकि दूसरे प्रवक्ता हैं ही नहीं और बच्चे स्वयं अपना पक्ष रख पाने की स्थिति में नहीं हैं। तीसरे, मैं इस उम्मीद से यह सब लिखता हूँ कि जो पाठक यह मान लें कि मैं बच्चों का आदर करता हूँ, उनका शुभचिन्तक हूँ, वे शायद मेरी बात अधिक खुलेपन से सुनें, चाहे उन्हें मेरा कहा कितना ही विचित्र या डरावना क्यों न लगे।

पुराने विचारों और प्रथाओं को बदलना कभी आसान नहीं होता। किसी ने अपनी दादी के बारे में लिखा था कि कोई नया विचार सुनने के बाद उनकी प्रतिक्रिया दो प्रकार की होती थी। पहली, यह पागलपन है, और दूसरी, मैं हमेशा से यह जानती थी। जिन बातों को हम जानते हैं और जिन पर हमारा विश्वास है, वे दरअसल हमारा ही हिस्सा हैं। हमें लगता है कि वे हमें हमेशा से पता थीं। उससे इतर कोई भी बात, जो हमारे ज्ञान के ढाँचे में ठीक से नहीं

बैठती, या वास्तविकता के हमारे अपने मानसिक प्रारूप से भिन्न लगती है, हमें विचित्र, जंगली, डरावनी, खतरनाक और असम्भव भी लगती है। लोग जिस चीज़ के आदी हों उसका पक्ष ज़रूर लेते हैं, फिर चाहे वह उन्हें कितना ही नुकसान क्यों न पहुँचा रही हो। इस पुस्तक में मैं जो परिवर्तन प्रस्तावित कर रहा हूँ, उन्हें लेकर कोई भी आशान्वित नहीं है। आगे क्या कुछ होगा, यह भी कोई नहीं जानता। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि *अगर* हम एक ऐसा समाज, ऐसी दुनिया बनाना चाहते हैं जिसमें लोग न केवल जी पाएँ बल्कि खुश होकर जिएँ, जिसमें जीना अपने आप में उन्हें अधिक समझदार, ज़िम्मेदार और सक्षम बनाए, *तो फिर* कुछ चीज़ों को हमें एकदम अलग तरह से करना सीखना ही होगा।

इन परिवर्तनों के प्रति शंकालु लोग पूछ सकते हैं, "अगर हम यह मान भी लें कि आपके द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन एक बेहतर वास्तविकता ला सकते हैं, तो क्या आप यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि वह वास्तविकता बेहतर बनी रहेगी? क्या वह अपनी ही तरह से दूसरी समस्याएँ, खतरे और विपत्तियाँ नहीं उपजाएगी?" उत्तर है, हाँ, ऐसा होगा। कोई भी स्थिति स्थाई रूप से आदर्श नहीं रहती। पुराने अनिष्टों के इलाज जल्दी ही नए अनिष्ट, नई विपत्तियाँ पैदा करते हैं। हम केवल इतना भर कर सकते हैं कि जिसे हम आज गलत मानते हैं उसका इलाज करें और नई विपत्तियों से तब निपटें जब वे सामने आएँ। ज़ाहिर है कि भविष्य में हमें अतीत में सीखे हुए को काम में लेने की कोशिश करनी होगी। यह सच है कि अनुभव से काफी कुछ सीखा जा सकता है, पर सब कुछ नहीं। हम अपने द्वारा रचे गए भविष्य की कुछ समस्याओं का पूर्वानुमान लगा सकते हैं, उनको टालने के उपाय कर सकते हैं, पर सभी समस्याओं का अनुमान लगाना, उन्हें टालना असम्भव है।

कई दूसरों की तरह पहले मैं भी सोचता था कि लोग चर्चा, विवाद या जिसे कुछ लोग "संवाद" कहते हैं, के द्वारा सत्य तक पहुँचते हैं। यह मानो संघर्ष द्वारा सच को स्थापित करने जैसा था। हरेक अपना तर्क एक घोड़े पर रखता, तब उसे दूसरे के तर्क की ओर पूरी गति से छोड़ देता। जिसका घोड़ा दूसरे को धराशाई करता, वही संघर्ष जीत लेता। और तब दूसरे को कहना पड़ता, "तुम जीते, तुम सही हो।" परन्तु समय और अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि यह महसूस करवा देने से कि उसके विचार बेवकूफी भरे, तर्कहीन और असंगत हैं, व्यक्ति न तो बदलता है, न उसे जीता ही जा सकता है। अब मेरे नज़रिए में दुनिया जैसी है, और जैसी हो सकती है, दोनों ही शामिल हैं। मैं इसे उन लोगों के साथ बाँट सकता हूँ जो इसे देखना चाहते हों। पर इसे मैं दूसरों के दिमाग में रोप नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति वास्तविकता का अपना ही प्रारूप

बनाता है। अपने अनुभव का प्रकाश अगर मैं डालूँ तो सम्भव है कि वे चीज़ों को ज़रा भिन्न ढंग से देखें और वास्तविकता का अपना नया ही सपना रचें।

जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, यह साफ है कि अगर ये बदलाव आएँगे तो विभिन्न कदम उठाने पर ही आ सकेंगे। ज़ाहिर है कि इन कदमों को उठाने में सालों-साल लगेंगे। और जब तक दूसरे प्रकार के सामाजिक बदलाव नहीं हो जाते, या हो रहे हों, तो ये सम्भव भी नहीं होंगे। ऐसे बदलावों को कितना बड़ा होना होगा? कुछ लोग कहेंगे - व्यापक। मैं जो प्रस्तावित कर रहा हूँ वह किसी बुद्धिमान, ईमानदार, दयालु और मानवतावादी देश में ही सम्भव हो सकता है। ऐसे देश में जहाँ लोग दूसरों को पछाड़कर अव्वल नम्बर पर खुद को देखने को आतुर न रहते हों। या भयानक गरीबी, निरर्थकता और असफलता की दहशत में न जीते हों। एक दूसरे का शोषण या लूटमार न करते हों। पर शायद ये बदलाव किसी ऐसे देश में भी सम्भव हों जहाँ उपरोक्त बातें न हों। बात दरअसल यह है कि बदलाव सम्भव है या नहीं इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। असल बात है वह सब करना जो हम कर सकते हैं।

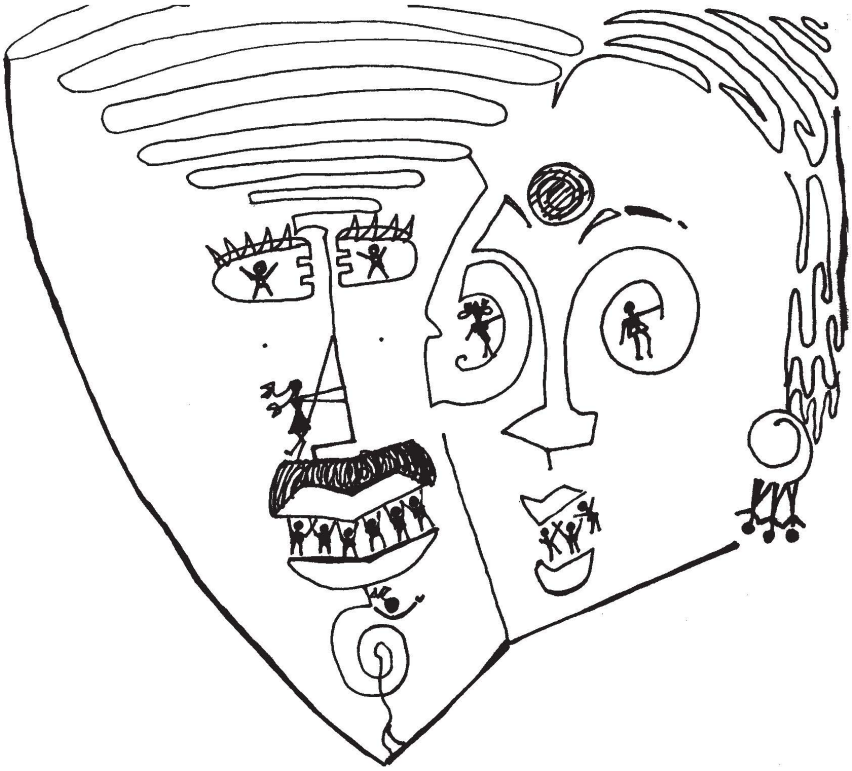

2. बाल्यावस्था की संस्था

एक अर्थ में बाल्यावस्था मानवीय जीवन की एक संस्था न होकर उसका एक तथ्य है। जन्म के समय हम जीने के लिए दूसरों की देखभाल पर निर्भर होते हैं। वे ही हमें खिलाते-पिलाते हैं, हमें साफ रखते हैं, सर्दी-गर्मी से बचाते हैं और सभी प्रकार के खतरों से हमारी रक्षा करते हैं। इस मामले में हम पशुओं के समान हैं। पर पशुओं की तरह हम अपनी असहायता और दूसरों पर निर्भरता की स्थिति से कुछ महीनों में नहीं निकल पाते। हमें इसमें सालों-साल लगते हैं। यह बचपन की सच्चाई है। ऐसी सच्चाई जो उतनी ही पुरानी है जितना पुराना स्वयं मनुष्य है। पर सच्चाई यह भी है कि जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं, हम अपनी देखभाल स्वयं करने में भी अधिक सक्षम होते जाते हैं।

जिन दिनों मैं कॉलोरैडो के एक स्कूल में पढ़ा रहा था, इटली से दो जुड़वाँ लड़के वहाँ आए। स्कूल से कुछ दूर एक घाटी में रहने वाले एक अमरीकी सज्जन कुछ साल पहले इटली यात्रा पर गए थे। उन्होंने वहाँ इन जुड़वाँ बच्चों के बारे में सुना और उन्हें गोद ले लिया। उस वक्त ये बच्चे काफी छोटे, शायद चार या पाँच साल के थे। उनके माता-पिता द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान गायब हो गए थे। सम्भव है वे मारे गए हों या फिर बन्दी बना लिए गए हों। फिर भी इन बच्चों ने अपने आपको कई सालों तक बचाए रखा। वे एक ऐसे देश के बड़े शहर में रहे जो युद्ध से त्रस्त और खण्डित था। भयानक गरीबी और विपन्नता के बावजूद उन्होंने किसी तरह *अकेले ही* खुद की देखभाल की। उन्होंने एक कब्रिस्तान में पनाह ली, भीख माँगी, ज़रूरत पड़ने पर चोरी भी की। कई सालों बाद अधिकारियों को उनका पता चला और उन्हें राजकीय प्रश्रय में लिया गया। जब इस अमरीकी सज्जन को उनके बारे में पता चला उस वक्त वे एक अनाथाश्रम में रह रहे थे। उन्होंने इनकी परवरिश और शिक्षा में रुचि ली। उन बच्चों को कुछ समय के लिए हमारे स्कूल में भेजा गया। अमरीकी सज्जन को लगा कि अँग्रेज़ी सीखना इन बच्चों के लिए अच्छा होगा और शायद यहाँ वे नई भाषा अच्छी तरह सीख पाएँगे।

कोई यह न समझे कि मैं यह कह रहा हूँ कि कब्रिस्तान में अकेले रहना छोटे बच्चों के लिए सही है, या यह कि अपनी परिस्थितियों को लेकर इन दोनों

भाइयों की जो प्रतिक्रिया थी, वह सभी बच्चों की स्वाभाविक या सामान्य प्रतिक्रिया होती है। फिर भी यह तथ्य था कि अपने अनुभवों का उनमें कोई गहरा या स्थाई आघात नज़र नहीं आया। अपनी उम्र के अमरीकी बच्चों की तुलना में उनका कद छोटा ज़रूर था, पर वे फुर्तीले थे, ताकतवर और सन्तुलित थे और स्कूल के सबसे अच्छे सॉकर खिलाड़ी भी थे। वे अच्छे छात्र नहीं थे, और अँग्रेज़ी सीखने में उनकी खास रुचि नहीं थी - बोलोग्ना में इसका भला क्या उपयोग होता? लेकिन उनका व्यवहार दोस्ताना था। वे जीवन्त, जिज्ञासु और उत्साही थे। भाषा की बाधा के बावजूद स्कूल में जानने वाले सब बच्चे उन्हें पसन्द करते थे। ज़ाहिर है लोग जितना सोचते हैं उससे काफी पहले ही हम अपनी शारीरिक असहायता और निर्भरता से मुक्त हो सकते हैं।

अगर हम मानव जीवन को एक वक्र रेखा के रूप में देखें तो पाएँगे कि वह जन्म से प्रारम्भ होती है तथा शारीरिक, मानसिक व सामाजिक क्षमताओं के शिखर तक उठती है। फिर कुछ समय तक पठार पर टिकती है और तब धीमे-धीमे वृद्धावस्था और मृत्यु की दिशा में नीचे उतरती है। यह वक्र रेखा सभी मनुष्यों में भिन्न-भिन्न होती है। कभी अकाल मृत्यु से झटके से खत्म भी हो जाती है। पर प्रत्येक मनुष्य में यह एकल वक्र के रूप में होती है, समग्रता लिए हुए। यह सतत् बढ़त और परिवर्तन का वक्र है। किसी न किसी रूप में हम हर दिन गुज़रे दिन से कुछ अलग होते हैं। यह विकास और बदलाव निरन्तरता लिए है। इसमें कोई टूटन या रिक्त स्थान नहीं होते। हम कुछ कीटों की तरह अचानक एक झटके से, एक प्रकार के जीव से दूसरे प्रकार के जीव में रूपान्तरित नहीं हो जाते।

यहाँ बाल्यावस्था का तथ्य समाप्त हो जाता है और उसका संस्थागत रूप प्रारम्भ होता है। आज जिसे हम बाल्यावस्था कहते हैं, वह जीवन वक्र की उस समग्रता को दो हिस्सों में काट देती है। एक को हम बाल्यावस्था कहते हैं, तो दूसरे को वयस्कावस्था या परिपक्वता। इससे मानव जीवन में एक *गहरी खाई* खुद गई है। हम यह मानने लगे हैं कि इस खाई के दोनों ओर रहने वाले, बच्चे और वयस्क, भिन्न-भिन्न हैं। हम यूँ *व्यवहार करते हैं* मानों एक सोलह वर्षीय किशोर और एक बाईस वर्षीय युवक में जो अन्तर है, वह एक दो वर्षीय बालक और सोलह वर्षीय किशोर से कहीं अधिक है। इसलिए क्योंकि अपने जीवन पर नियंत्रण रखने और महत्वपूर्ण विकल्पों के चयन के मामलों में एक सोलह वर्षीय किशोर की स्थिति एक बाईस वर्षीय युवक की तुलना में एक दो वर्षीय बालक के कहीं अधिक निकट है।

संक्षेप में, संस्थागत बाल्यावस्था से मेरा आशय उन दृष्टिकोणों, भावनाओं, रिवाज़ों तथा नियमों से है जो एक बच्चे और उसके बुज़ुर्गों के बीच गहरी खाई

खोदते हैं या बाधाएँ खड़ी करते हैं। इससे बच्चों और युवाओं को अपने इर्द-गिर्द के व्यापक समाज से सम्पर्क स्थापित करने में कठिनाई आती है, या यह सम्पर्क असम्भव हो जाता है। और तो और वे समाज में किसी प्रकार की सक्रिय ज़िम्मेदार या उपयोगी भूमिका भी नहीं निभा पाते। और यूँ हम उन्हें अठारह या उससे कुछ अधिक वर्षों के लिए अधीनता और निर्भरता में कैद कर देते हैं और एक खर्चीली मुसीबत, नाज़ुक धरोहर तथा गुलाम व पालतू जीव का मिलाजुला रूप दे देते हैं।

कुछ समय तक मैंने इस पुस्तक को "बचपन का कारागार" शीर्षक देना चाहा था या मित्रों के सुझाव पर शीर्षक में "मुक्ति" शब्द का उपयोग करना चाहा था। पर एक दोस्त को *बचपन का कारागार* पर आपत्ति थी। उनका कहना था कि इससे ऐसी ध्वनि आती है मानो जो भी बाल्यावस्था की संस्था का समर्थक है वह बच्चों को नापसन्द करता है, उन्हें किसी तरह की कैद में रखना चाहता है। उन्होंने कहा कि दरअसल यह सच नहीं है। जो लोग बच्चों के लालन-पालन के मौजूदा तौर-तरीकों में विश्वास करते हैं, वे इस पुस्तक में प्रकट किए गए अधिकांश विचारों को सख्त नापसन्द भी करेंगे। फिर भी ये वे लोग हैं जो बच्चों से प्यार करते हैं और जो चीज़ उनकी नज़र में बच्चों के लिए सबसे उत्तम है, वे वही करना चाहेंगे।

मैं सहमत हुआ और "कारागार" तथा "मुक्ति" दोनों शब्दों को छोड़ दिया। क्योंकि इनका निहितार्थ यह होता कि बच्चों को उस खराब जगह से निकालना चाहिए जहाँ दुष्ट लोगों ने उन्हें बन्दी बना रखा है। यह ध्वनि "पलायन" शब्द में नहीं आती। अगर हम घर में हों और उसमें आग लग जाए या हमारी नाव डूबने लगे तो हम उससे ज़रूर पलायन करना चाहेंगे। पर इसका मतलब यह नहीं लगाया जाएगा कि कोई हमें बहला-फुसलाकर घर या नाव में ले गया था। साथ ही "पलायन" एक क्रिया है, किसी कर्म को करने का संकेत इस शब्द में है। किसी खतरे से पलायन करने के लिए हमें पहले यह तय करना पड़ता है कि *खतरा है*, और तब ऐसा कुछ करना पड़ता है जिससे उस खतरे से दूर हुआ जा सके। मैं चाहता भी हूँ कि बच्चों और किशोरों को स्वयं ही यह निर्णय लेने का अधिकार हो, और तब उसके लिए कुछ करने का भी अधिकार हो।

बाल्यावस्था की हमारी मौजूदा संस्था में विश्वास करने वाले ज़्यादातर लोग उसे दीवारों से घिरे एक बाग के रूप में देखते हैं। ऐसा बाग जहाँ छोटे और कमज़ोर बच्चों को बाहरी दुनिया की कठोरता से तब तक सुरक्षित रखा जाता है जब तक वे उससे निपटने के लिए बलवान और चतुर नहीं बन जाते। बाल्यावस्था को कुछ बच्चे ठीक इसी प्रकार अनुभव भी करते हैं। मैं उनका बाग न तो उजाड़ना चाहता हूँ, न लतियाकर बच्चों को वहाँ से खदेड़ना चाहता

हूँ। अगर उन्हें वह पसन्द है तो बेशक वे वहाँ रहें। परन्तु मेरा विश्वास है कि अधिकांश बच्चे व किशोर काफी कम उम्र में ही यह महसूस करने लगते हैं कि बचपन एक बगिया नहीं, कैदखाना है। मैं जो करना चाहता हूँ वह है बाग को घेरने वाली दीवार में एक दरवाज़ा या कुछ दरवाज़े बनाना। ताकि जिन्हें वहाँ सुरक्षा का अहसास न होता हो या मदद न मिलती हो, बल्कि घुटन और अपमान महसूस होता हो, वे कुछ समय के लिए बाहर निकल सकें, एक अधिक बड़े स्थान में जीने की कोशिश करें। पर अगर वे ऐसा न कर पाएँ तो हमेशा वापस बाग में लौट सकें। और अगर हमें ज़रूरत महसूस हो तो शायद दीवारों से घिरे बाग में हमारे लिए भी पनाह लेने की जगह होनी चाहिए।

मैं यह नहीं कह रहा कि बचपन सभी बच्चों के लिए हमेशा ही एक बुरी चीज़ है। परन्तु कई बच्चों के लिए बचपन का अनुभव खुशनुमा, निरापद, सुरक्षित और निष्कपट नहीं होता। कुछ दूसरे बच्चों के लिए बचपन का अनुभव सकारात्मक होने के बावजूद ज़रूरत से ज़्यादा खिंचता जाता है। उससे बाहर निकल पाने या उसे पीछे छोड़ देने का कोई क्रमिक, सूझबूझ भरा और कष्टरहित रास्ता भी ऐसे बच्चों के सामने नहीं होता।

कुछ बच्चों के परिवार नहीं होते। माता-पिता का देहान्त हो चुका होता है या वे बच्चों को त्याग चुके होते हैं, या फिर कानून ही उन्हें उनके माँ-बाप से छीन लेता है, शायद इसलिए कि उन्होंने बच्चों को मारा-पीटा हो या उनकी उपेक्षा की हो। या इसलिए कि उनकी राजनीति पर ही सरकार को आपत्ति हो। जिन बच्चों के परिवार नहीं होते वे सरकार के आश्रय में होते हैं। अर्थात् वे बन्दी होते हैं। कानून इसमें बच्चों को कोई विकल्प नहीं देता। अगर आप एक बच्चा नहीं बने रह सकते (या नहीं बने रहना चाहते हैं) तो फिर आप किसी जेल में रखे गए अभियुक्त मात्र हो सकते हैं, जहाँ आप पर ऐसे लोग नज़र रखेंगे जिनका एकमात्र सरोकार है भागने से आपको रोकना।

कई बच्चे सामान्य लगने वाले परिवारों में सामान्य लगने वाला जीवन बिताते हैं। पर उनका बचपन कुछ अर्थो में निरापद होते हुए भी सुखद, सुरक्षित या निरापद नहीं होता। बल्कि इसके विपरीत उनका शोषण होता है। उन्हें धमकाया और अपमानित किया जाता है। उनसे दुर्व्यवहार किया जाता है। परन्तु अगर उन्हें कुछ समय तक अपने माता-पिता या प्रतिस्पर्धी भाइयों या बहनों से दूर रहने का अवसर मिल पाता तो ऐसे परिवारों में जीना भी बच्चों के लिए इतना दुखदाई और विनाशकारी नहीं होता।

कुछ ऐसे भी बच्चे होते हैं जिनका बचपन सुखद और आदर्श होने के बावजूद एक लम्बे अर्से तक चलता ही चला जाता है। कई परिवारों में, जिनसे मैं अच्छी

तरह वाकिफ हूँ, बच्चे लम्बे समय तक अपने माता-पिता के साथ बेहद खुश रहते हैं। पर तब अचानक उन्हें वे ही माता-पिता असह्य लगने लगते हैं और वे अपने माता-पिता के लिए असह्य बन जाते हैं। पहले का जीवन जितना अधिक खुशनुमा रहा हो, इस नई स्थिति में उतनी ही अधिक तकलीफ माता-पिता और शायद बच्चों को भी होती है। "हमारी कितनी अच्छी पटती थी।" "वह कितना खुश रहता था।" "पता नहीं उसे क्या हो गया है।" "हमसे ज़रूर कोई भूल हुई है। पर हमें समझ नहीं आता हमने गलती कहाँ की है।" कई बार मैंने किशोरों या बीस वर्ष के आसपास के युवाओं को भी यह कहते सुना है, "मैं अपने माता-पिता को प्यार करता हूँ, हमारी हमेशा अच्छी बनी है, पर अब वे चाहते हैं कि मैं अमुक-अमुक करूँ। पर मैं यह करना ही नहीं चाहता। मैं दूसरा ही कुछ करना चाहता हूँ, जो उन्हें नापसन्द है। मैं अपराधबोध से घिर गया हूँ, बड़ा भ्रमित हूँ। क्या करूँ, समझ ही नहीं आता। मैं उन्हें ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। पर अपनी ज़िन्दगी अपनी तरह से जीना भी चाहता हूँ।" लगता है कि उन्हीं लोगों को अपने बचपन का अन्त सबसे दुखदाई लगता है जिनका बचपन बेहद सुखद था।

बचपन की अवधि लम्बे समय तक खिंचती जाती है और उससे निकलकर एक अलग दुनिया में जाने, माता-पिता से अपने रिश्ते बदलने का कोई सूझबूझ वाला और क्रमिक रास्ता बिरले ही मिलता है। जब बच्चे माता-पिता से बाँधने वाली डोरियाँ खोल नहीं पाते तो उनके पास उन्हें तोड़ने के अलावा कोई उपाय नहीं रह जाता। जितने मज़बूत ये जोड़ने वाले बन्धन होंगे, उन्हें तोड़ने में उतनी ही ताकत लगेगी। और ऐसे में बड़ी भयावह, कभी न भुलाई जाने वाली दुर्भावनाएँ पैदा होंगी, आघात पहुँचेगा, दर्द होगा। यह कुछ ऐसा होगा, मानो घोंसले से निकलने का कोई तरीका ही न सूझे तो घोंसले को ही उजाड़ डालो।

बॉस्टन के भूमिगत रेल स्टेशन में एक इबारत लिखी है : **एक खुशहाल घर से कोई कभी नहीं भागता।** पर शायद सबसे प्रसन्न घरों में ही बच्चों को वह अतिरिक्त आत्मविश्वास, जिज्ञासा और ऊर्जा मिलती है, जो उन्हें एक बड़ी दुनिया में अपनी ताकत, अपनी क्षमताओं को जाँचने को उकसाए। और अगर उन्हें ऐसा न करने दिया जाए, तब दुख प्रारम्भ होता है।

कुछ समय पहले अमरीका के एक मध्य पश्चिमी शहर के निम्न मध्यमवर्गीय उपनगर में स्थित स्कूल की कुछ बैठकों में मुझसे बोलने का आग्रह किया गया। सभी लोग या तो बड़े उद्योगों में अच्छी मज़दूरी पाते थे या निचले स्तर की सफेदपोश नौकरियाँ करते थे। अधिकांश वयस्क विदेशों से आकर बसे लोगों के बच्चे या पोते-पोती थे। सभी चाहते थे कि उनके बच्चे कॉलेजों में पढ़ें और

मध्यमवर्ग में अपना स्थान पक्का कर लें। परम्परागत रूप से इलाके की राजनीति भी काफी दक्षिणपन्थी थी।

तय यह रहा कि मैं वहाँ के एक जूनियर हाई-स्कूल में दोपहर को एक कक्षा-काल बिताऊँ और नवीं कक्षा के दोनों सेक्शन एक साथ लूँ। इस दौरान उस विषय पर चर्चाएँ करूँ जो विद्यार्थियों को और मुझे पसन्द आए। सहमति इस बात पर भी हुई थी कि चर्चा के दौरान समूह में मैं एकमात्र वयस्क होऊँगा। पर जो अधिकारी मुझे स्कूल भवन दिखा रहे थे, वे भी न जाने किस कारण मेरे पीछे-पीछे कक्षा में घुस आए। सत्ता के इन प्रतीकों के सामने किसी प्रकार की खुली और स्पष्ट चर्चा की सम्भावनाएँ खत्म हो गईं। जो कुछ कहा गया वह कुछ गिने-चुने छात्रों ने ही कहा। ज़ाहिर था कि ये बोलने वाले बच्चे या तो स्वभाव से निडर थे या फिर इतने सफल थे कि उन्हें बाद में किसी तरह की परेशानी में उलझने का डर नहीं था। यह भी सम्भव है कि वे पहले ही इतनी परेशानी में रहे हों कि परेशानी बढ़ने की उन्हें परवाह नहीं थी।

मैं स्कूलों और स्कूलों में सुधार पर बोल रहा था। घण्टे के अन्तिम मिनटों में मुझे सूझा कि मैं इन किशोरों से यह भी पूछ लूँ कि वे बाल्यावस्था की संस्था के बारे में क्या सोचते हैं। एक बार फिर रेखांकित कर दूँ कि ये बच्चे क्रान्तिकारी तो छोड़ ही दें, उदारवादी विचारधारा वाले भी नहीं थे। स्थानीय हाईस्कूल में पहने जाने वाले कपड़ों में कुछ परिवर्तन हुआ था। फिर भी इस जूनियर हाई स्कूल में लड़कों को कोट व टाई पहननी पड़ती थी और लड़कियों को ड्रेस या स्कर्ट। स्कूल काफी सख्ती के साथ चलाया जाता था। और फिर स्कूल के उच्चतम अधिकारी भी बच्चों के सामने मौजूद थे।

मैंने तीन सवाल पूछे जिनके उत्तर हाथ उठाकर देने थे। पहला प्रश्न था, "अगर आपको मताधिकार मिले तो आप में से कितने राजनैतिक चुनावों में मत डालने जाएँगे?" करीब दो-तिहाई बच्चों ने हाथ उठाया। कुछ ने तो काफी धीरे-धीरे सोचते हुए ऐसा किया। दूसरा प्रश्न था, "अगर आपको कानूनन पैसों के लिए काम करने की अनुमति हो तो आप में से कितने, पूरे समय नहीं तो कुछ समय के लिए काम करेंगे?" फिर करीब दो-तिहाई बच्चों ने हाथ उठाया। सामने की सीट पर बैठे एक लड़के ने, जो चर्चा के दौरान पूरे समय चुप रहा था, कहा, "अरे भई, हमें तो पूरी ज़िन्दगी काम करते ही बितानी है, तो काम शुरू करने की इतनी जल्दी भी क्या है?" लोग हँसे, पर उठे हुए हाथ ऊपर ही रहे। अन्ततः बिना प्रतिक्रिया की उम्मीद के मैंने तीसरा प्रश्न पूछा, "अगर आपको कानूनन घर से अलग रहने की अनुमति हो तो आप में से कितने, कम से कम कुछ समय के लिए घर से दूर रहेंगे?" हर हाथ इस झटके से, इतनी तेज़ी से उठा कि मुझे लगा कि कहीं कन्धों के जोड़ बाहर ही न निकल आएँ।

चेहरों पर चमक आ गई। ज़ाहिर है मैंने जादुई खटका दबा दिया था। मैंने सोचा, काश मैंने यह सवाल पहले पूछा होता तो मुझे कितना कुछ सीखने को मिलता। पर समय खत्म हो रहा था। मैंने छात्रों को धन्यवाद दिया। उन्हें शुभकामनाएँ दीं और वे कमरे से निकल गए। मेरे मेज़बानों और मैंने स्कूल का दौरा जारी रखा। अन्तिम प्रतिक्रिया का उल्लेख नहीं हुआ और मैंने भी मसले को नहीं उठाया।

कुछ लोग कहेंगे कि सभी बच्चे और किशोर घर से इसलिए दूर रहना चाहते होंगे ताकि ना-नुकुर करने वाले माता-पिता से दूर रह वे वर्जित वयस्क सुखों - धूम्रपान, शराब और यौन - का आनन्द उठा सकें। सम्भव है कि यह बात भी वे बच्चे कहना चाहते हों, पर यह आंशिक सच्चाई ही होती। मुझे लगता है कि वे शायद यह भी कहना चाहते थे कि वे कुछ समय उन लोगों के साथ भी बिताना चाहते हैं जो उन्हें लोगों के रूप में देखें, सिर्फ बच्चों के रूप में नहीं।

3. इतिहास में बाल्यावस्था

बाल्यावस्था की संस्था की रक्षा करने तथा उसके औचित्य को स्थापित करने के लिए हम अक्सर पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श छवियाँ बनाते हैं जिनका वास्तविकता से खास लेना-देना नहीं होता। एक दिन मेरी एक पुरानी मित्र ने अपने दोनों बच्चों के साथ हुई बातचीत के बारे में बताया। इन बच्चों को मैंने बढ़ते देखा है। इस परिवार के साथ मैंने काफी समय बिताया है। यहाँ रात के खाने का समय हमेशा मज़े और बातचीत का मौका होता है। कुछ समय पहले वह अपने दोनों बच्चों के साथ एक टी.वी. कार्यक्रम "एक अमरीकी परिवार" देख रही थी। बाद में बच्चों से चर्चा करते हुए उसने कहा कि उसे वह कार्यक्रम बड़ा बनावटी लगा। क्योंकि कौन कल्पना कर सकता है कि कोई परिवार खाना खाने बैठे और पूरे समय कोई बात ही न हो? इस पर उसके बच्चों ने कहा कि यह गलत है। बड़े वाले का कहना था, "मुझे कितनी बार बताना पड़ेगा कि जब मैं अपने दोस्तों के घर खाने जाता हूँ तो वहाँ कोई *कुछ भी* नहीं बोलता। अगर कुछ कहा जाता है तो सिर्फ यह 'भई ज़रा यह दे देना', या 'अपना नैपकिन इस्तेमाल करो'। *हमारा ही* अकेला परिवार है जो मेज़ पर हमेशा बतियाता है।" छोटे ने बताया कि जब *वह* अपने दोस्तों के घर जाता है तो कोई मेज़ पर बैठता ही नहीं है। सब रसोई में इधर-उधर खड़े हो जाते हैं और जो कुछ खाने के लिए रखा गया हो, वह झपट लेते हैं।

इस बातचीत ने एक पुरानी स्मृति उभार दी। 1956 की गर्मियों में "अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के एक प्रयोग" के तहत मैं 10 अमरीकी बच्चों को फ्रांस की यात्रा के लिए ले गया था। एक माह तक हम सब दक्षिण-पूर्वी फ्रांस के एक छोटे कस्बे - गैप - में अलग-अलग परिवारों के साथ रहे। गर्मियाँ बीतने के बाद जहाज़ से घर लौटते समय हमने अपने अनुभवों पर बातचीत की। मैंने अपने साथियों से जानना चाहा कि उन्हें देखी या की गई बातों में से सबसे ज़्यादा किसने प्रभावित किया? वे किसे अपनी ज़िन्दगी का हिस्सा बनाना चाहते थे? लगभग सभी ने कहा, "हमें रोज़ाना होने वाले पारिवारिक रात्रि भोजन का रिवाज़ बड़ा अच्छा लगा। पूरा परिवार एक साथ होता है, बच्चे, बड़े और दरमियाना उम्र वाले सब। खूब समय लगाते हैं। बड़े आराम से गपशप करते हैं। हरेक को अपनी बात कहने का मौका मिलता है। कोई भी छूटा नहीं रह जाता।" वे जिस

विरह, लालसा और पछतावे के साथ यह कह रहे थे वह आश्चर्यजनक था। सभी अमरीकी बच्चों ने बताया कि उनके परिवारों में, और जितने परिवारों को वे जानते हैं उनमें भी, ऐसा पारिवारिक भोजन आमतौर से होता ही नहीं है। केवल क्रिसमस, थैंक्सगिविंग या विशेष पर्वो पर ही वे साथ-साथ खाते हैं। अमूमन सभी सदस्य अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते हैं। अलग-अलग समय पर लौटकर फ्रिज में रखा या चूल्हे पर रखा खाना खाते हैं। ज़रूरत पड़ने पर एक-दूसरे के लिए एकाध सन्देश छोड़ देते हैं कि वे कहाँ जा रहे हैं। और फिर अपनी राह चल देते हैं।

जब किसी प्रथा, किसी कर्मकाण्ड, किसी परम्परा या किसी संस्था को बचाए रखने की ज़रूरत सबसे ज़्यादा महसूस होती है, शायद तभी पता चलता है कि वह बचाए रखने के परे चली गई है और लगभग चुक गई है। शायद आधुनिक परिवार उस वक्त लगभग मर चुका था जब लोग सार्वजनिक रूप से उसके पक्ष या विपक्ष में बोलने लगे थे। जो वस्तु हमारे जीवन में मूल्यवान है, उसे सुरक्षित रखने के लिए हमें ज़ोरदार सफाई नहीं देनी पड़ती। वह उतनी ही स्वाभाविक और अवश्यम्भावी होती है जितना साँस लेना। पर जिस वस्तु को हम कीमती मानना चाहते तो हैं पर दिल ही दिल में इतना मूल्य नहीं देते, उसी के पक्ष में हम गर्मजोशी से बोलते हैं। हम तब ही ऐसी संस्थाओं के स्वास्थ्य की ओर तवज्जो देते हैं जब वे गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाती हैं। वैसे ही जैसे हम अपने शरीर के साथ करते हैं।

हाल ही में बाल्यावस्था के उद्‌भव और इतिहास का अध्ययन शुरू करने वालों ने पाया है कि बाल्यावस्था, मातृत्व, घर व परिवार जैसी संस्थाएँ आज जिस रूप में मिलती हैं, वह कुछ महत्वपूर्ण अर्थों में न केवल स्थानीय हैं, बल्कि हाल में ईजाद हुई संस्थाएँ हैं। वे मानवीय परिस्थिति का सार्वभौमिक सत्य नहीं हैं।

शूलामिथ फायरस्टोन ने अपनी पुस्तक *द डाएलेक्टिक्स ऑफ सेक्स* में संकेत किया हैः

> चौदहवीं शताब्दी के बाद बुर्जुआ वर्ग तथा प्रयोगाश्रित विज्ञान के विकास के बाद स्थिति क्रमशः बदली। आधुनिक परिवार के एक गौण हिस्से के रूप में बाल्यावस्था की अवधारणा विकसित हुई। ....बच्चे सत्रहवीं शताब्दी में फैशन में आए। ...सन् 1600 के पहले बच्चों के खिलौनों का अस्तित्व तक नहीं था और तब भी उनका उपयोग तीन या चार वर्ष के बच्चों तक ही सीमित था। ...परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक बच्चों के लिए खास खिलौने और खेल भी आम हो गए। ...*बाल्यावस्था की अवधारणा बालिकाओं पर*

> *लागू नहीं होती थी*। वे झबलों से सीधे वयस्क महिलाओं के कपड़े पहनने लगती थीं। बालिका को स्कूल नहीं भेजा जाता था, हालाँकि स्कूल बाल्यावस्था की संस्था के ढाँचे का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। नौ-दस साल की उम्र में ही वह एक "नन्ही देवीजी" का सा व्यवहार करने लगती थी। उसकी गतिविधियाँ किसी वयस्क महिला से भिन्न नहीं होती थीं। वयःसंधि प्राप्त करते ही, और कभी-कभी तो दस-बारह साल की उम्र में ही, उसका विवाह उससे काफी बड़ी उम्र के पुरुष से कर दिया जाता था।

एरीस ने हैरॉर्ड की पुस्तक *लूई तेरहवें की बाल्यावस्था की कथा* को उद्धृत करते हुए डॉफिन की बाल्यावस्था का वर्णन दिया है। यह वर्णन मूलतः डॉफिन के चिकित्सक ने लिखा था। वर्णन कहता है कि सत्रह माह की उम्र में डॉफिन गाते और वॉयलिन बजाते थे। वे आगे कहते हैं कि इसी उम्र में डॉफिन मौल नामक एक खेल भी खेलते थे जो गोल्फ या क्रॉके के समान होता था। वे बतियाते थे, और सामरिक रणनीति के खेल खेलते थे। तीन-चार वर्ष की आयु में उन्होंने पढ़ना-लिखना सीखा। इसी उम्र में गुड़ियों से खेलने के बावजूद उन्होंने धनुर्विद्या सीखी, ताश और शतरंज खेलना भी सीखा। मैं जिन पाँच साला बच्चों को जानता हूँ वे खेल के नियमों की कठोरता का विरोध करते हैं। और हारने लगें तो उन्हें मनमर्ज़ी से बदलना चाहते हैं। पर सम्भवतः डॉफिन खेलों का अधिक आदी रहा होगा। मैं एक बार एक छह वर्षीय लड़के के साथ चैकर्स खेल रहा था। उसने तिहरी कूद के जाल में मुझे फँसाने की पूरी तैयारी कर ली थी। मैं तो फँस ही जाता, अगर मैंने उसे पूरी तल्लीनता और उत्तेजना के साथ मुझे घूरते हुए न देखा होता। डॉफिन के विषय में यह भी बताया जाता है कि जबसे उसने चलना सीखा, वह वयस्कों से समानता के स्तर पर मिलता था और नृत्य, अभिनय आदि जैसी सभी गतिविधियों में भाग लेता था। हमें यह तो पता नहीं है कि वह यह सब करने में कितना माहिर था। भावी राजा के रूप में उसकी स्थिति भी उसके पक्ष में रही होगी। सम्भव है कि उसके आसपास के बड़े-बुज़ुर्ग उसकी अकुशलता को दूसरे निचले तबकों के बच्चों की तुलना में अधिक अनदेखा कर देते हों। पर इससे एक मुख्य बात नज़रअन्दाज़ हो जाती है। वह यह कि उस युग के वयस्कों को लगता था कि वे नन्हे राजकुमार से अपने समान व्यक्ति का सा व्यवहार करें।

बाल्यावस्था को हम जिस रूप में जानते हैं वह न केवल एक आधुनिक आविष्कार है, बल्कि वह परिवार भी आधुनिक ही है जिसे बचाने की हम इतनी चर्चा करते हैं। एलिज़ाबेथ जेनवे अपनी पुस्तक *मैन्स् वर्ल्ड, वुमन्स प्लेस* में लिखती हैं:

> एरीस सुझाते हैं (और ऐसा करने वाले वे अकेले भी नहीं हैं) कि "घर" की हमारी परिकल्पना, जो माता-पिता व बच्चों के एक अन्तरंग समूह पर आधारित है, वास्तव में ऐतिहासिक रूप से बहुत पुरानी नहीं है। न ही उसका भौगोलिक विस्तार सर्वव्यापी है। ...एक घर में रहने वाला परिवार क्रमशः "एकल परिवार" का रूप लेने लगा, जिसमें केवल माता-पिता व बच्चे हों। ये परिवार पुराने समय के उत्तरी यूरोप व अन्य क्षेत्रों में प्रचलित व्यापक सामुदायिक जीवन से कटकर अपनी एकान्तता में जीने लगे। इसी समय सेवकों की एक भिन्न व अधीनस्थ श्रेणी बनी। ये परिवार में रहने वाले सदस्यों की सुख-सुविधा के लिए काम करने लगे। जबकि ये ही लोग पहले विभिन्न उत्पादकों के पास प्रशिक्षुओं के रूप में काम करते थे और बाज़ार के लिए वस्तुओं का निर्माण करते थे। अब *मकान* (हाउस) बदलकर *घर* (होम) का रूप लेने लगा था। घर शेष दुनिया से कटे हुए पारिवारिक जीवन और आराम का गढ़ था। [पृष्ठ 14]

सन् 1700 के पूर्व घर, चूल्हा और बच्चे के मिथक के उदाहरण बिरले ही मिलते हैं। अर्थात् उस समय के घर आज की तरह के न थे, जिनके लिए कहा जाता है कि महिलाओं का स्थान एक घर ही हैः

> तो अगर पहले महिलाएँ घर में नहीं होती थीं, तो भला कहाँ थीं? अगर परिवार-केन्द्रित जीवन मध्यमवर्ग का आविष्कार है तो पहले ज़माने में लोग कैसे रहते थे? ...वे दो प्रकार के आवासों में से किसी एक में रहते थे। बड़ा मकान या झोपड़ी। ...बड़े मकानों में शिष्ट वर्ग रहता था, पर अकेले अपने परिवार के साथ नहीं, क्योंकि बड़ा मकान केवल रहने का स्थान नहीं था। वे या तो गढ़ थे या वित्तीय गतिविधियों के केन्द्र, या फिर दोनों थे। बड़े मकान के दरवाज़ों के अन्दर रहने वाला परिवार नौकर-चाकरों, प्रशिक्षुओं, हर स्तर के कर्मचारियों, कारिन्दों, प्रबन्धकों, क्लर्क, पादरी और असंख्य मेहमानों व निठल्लों से घिरा रहता था। लगभग बीस प्रतिशत आबादी ऐसे आवासों में निवास करती थी जहाँ मालिक व सेवक साथ रहते थे। उनके कमरे... ऐसे थे जहाँ कोई, कभी अकेला नहीं होता था।
>
> शेष आबादी शहरों या गाँवों में छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहती थी। सीधे साफ शब्दों में ये उस समय की कच्ची बस्तियाँ थीं। [पृष्ठ 15]

बच्चे वयस्कों के जीवन में अंशतः तो इसलिए होते थे क्योंकि उन्हें उससे बाहर रखने का कोई उपाय ही नहीं था। गरीबों के पास आज की तरह तब भी इतना कम स्थान था कि बच्चों को जीवन की सभी वास्तविकताओं को देखना-जानना पड़ता था। सम्पन्न से सम्पन्न परिवारों में भी उस एकान्तता का पूर्ण अभाव था जिसे हम आज इतना ज़रूरी मानते हैं। बड़े घरों में, महलनुमा किलों में भी अलग-थलग निजी कमरे नहीं थे जो एक साझे हॉल में खुलते हों। कमरे एक कतार में और एक दूसरे से जुड़े हुए होते थे। अर्थात् अगर एक कमरे से दूर किसी दूसरे कमरे में जाना हो तो बीच में आने वाले शेष सभी कमरों से गुज़रना पड़ता था। हरेक व्यक्ति वह सब देखता था जो दूसरे कर रहे हों, न देखने का कोई उपाय ही नहीं था। अतः जीवन के स्वाभाविक कार्यों के बारे में वे वर्जनाएँ भी नहीं थीं, जो बाद में आईं।

वास्तव में मातृत्व भी कोई सार्वकालिक और सार्वभौमिक सम्बन्ध नहीं है और न ही इसकी ज़रूरत है, जैसा आज हम उसे मान बैठे हैं। सुश्री जेनवे लिखती हैं:

> हम याद रखें कि अतीत में माताएँ कठोर परिश्रम करती थीं और अपना पूरा समय परिवारों के साथ ही नहीं बिताती थीं। शताब्दी दर शताब्दी करोड़ों बच्चे ऐसी महिलाओं की देखरेख में पले-बढ़े हैं जो उनकी नैसर्गिक माताएँ नहीं थीं। मेरा आशय केवल कबीलों के बच्चों से नहीं बल्कि उन सभी बच्चों से है जिन्हें धाय माँ, नानियों, दादियों या बड़ी बहनों के पास और समझदार होने पर स्कूलों (या स्कूलों के पहले बड़े घरों) में भेज दिया जाता था। समझदारी की उम्र दुनियाभर में लगभग समान रूप से सात वर्ष मानी जाती रही थी। हमारे अपने सांस्कृतिक अतीत में (अर्थात् मध्ययुगीन यूरोप में) एकमात्र औपचारिक स्कूल वे थे जो लड़कों को गिरजे के लिए तैयार करते थे। शेष सभी लोग - सामन्त, सामान्य जन और दास - काम करते हुए सीखते थे। सीखने की यह प्रक्रिया वयस्क दुनिया में एक प्रकार के सामान्य प्रशिक्षु काल के दौरान होती थी। वे सीखने का काम ज़्यादातर घर से दूर रहकर करते थे। औपचारिक शिक्षा को जब जन-साधारण के लिए उपयोगी माना जाने लगा, तब भी केवल उच्च वर्ग के लड़कों को स्कूल भेजा जाता था। लड़कियाँ और निम्न वर्ग के लड़के पुरानी रीति से ही सीखते थे। केवल सम्पन्न और महान परिवारों की बेटियाँ ही निजी शिक्षिकाओं (गवर्नेस) के पास, घरों में रखी जाती थीं। बाकी बच्चे कुछ समय अपने माता-पिता के साथ काम करते हुए सीखते थे। पर अधिकतर

> अपने मित्रों, रिश्तेदारों या जाने-माने हुनरमन्दों के पास रहकर शिष्ट आचरण के साथ किसी कौशल को सीखते थे। ज़रूरी नहीं था कि माता-पिता अपने बच्चों के साथ अपरिचितों से अधिक कोमल व्यवहार करते हों।
>
> आप कह सकते हैं कि ठीक है, ऐसा होता था। पर क्या यह व्यवस्था बच्चों के लिए अच्छी थी? इसका जवाब इसके अलावा और क्या हो सकता है कि मानवजाति का अस्तित्व इस व्यवस्था के तहत भी बना रहा। जैसे वह आज अजीबो-गरीब लगने वाली दूसरी जीवन शैलियों में भी बचा हुआ है। ज़ाहिर है कि ये प्रथाएँ भी सामाजिक रूप से उपयोगी और मनोवैज्ञानिक रूप से सन्तोषजनक रही होंगी। तभी वे टिकी भी रहीं। [पृष्ठ 187]

पॉल मरी केण्डल ने रिचर्ड तृतीय पर रचित जीवनी में एक जगह लिखा है कि इंग्लैण्ड प्रवास पर आए एक इतालवी यात्री को यह जानकर बड़ा सदमा पहुँचा कि यहाँ सम्पन्न और सामन्ती परिवारों के लोग भी अपने बच्चों को आठ-नौ साल की उम्र में दूसरों के घरों में भेज देते हैं। वयस्क बनने तक वे यहीं रहते थे। इस दौरान वे नौकरों की तरह काम करते, भोजन के समय परोसगारी करते और विभिन्न कलाओं व शिल्पों को सीखते थे। ये बच्चे कभी अपने घर वापस नहीं लौटते थे, कम से कम रहने के लिए तो नहीं ही। बेटे अपना जीवन खुद बनाते थे और बेटियों के विवाह उन परिवारों द्वारा तय कर दिए जाते थे जिनके साथ वे रहने के लिए भेजी गई होती थीं।

मैं यह दावा नहीं करता कि आधुनिक बाल्यावस्था के आविष्कार के पहले बच्चे व किशोर अधिक सुखी थे। या कि आधुनिक बाल्यावस्था ने कुछ बच्चों के जीवन को नहीं सुधारा है। या यह कि बाल्यावस्था आज हर जगह, हर बच्चे के लिए बुरी है। मैं सिर्फ इतना भर कह रहा हूँ कि कई बच्चों के लिए यह कारगर नहीं सिद्ध होती। और ऐसे बच्चों को दूसरा तरीका अपनाने की अनुमति दी जानी चाहिए।

न ही मेरा दावा यह है कि आधुनिक बाल्यावस्था इसलिए बुरी है क्योंकि यह नई है या यह कि अतीत में प्रचलित प्रथाओं से यह हर अर्थ में बिल्कुल भिन्न है। जितनी दूर तक हमें अपने इतिहास का ज्ञान है बच्चे हमेशा से वयस्कों की मिल्कियत रहे हैं और उनके ही द्वारा नियंत्रित किए जाते रहे हैं। आधुनिक बाल्यावस्था में जो नई बात है, और जो उसकी बुराई भी है, वह यह है कि बच्चे वयस्कों की दुनिया से इस कदर कट गए हैं। बच्चों पर हमेशा ही माता-पिता ने अपनी धौंस चलाई है। *केवल* माता-पिता की इस धौंसपट्टी में अब नवीनता

यह है कि बच्चों का अपने माता-पिता से *इतर* किसी भी अन्य वयस्क से कोई रिश्ता नहीं रहा है।

बच्चों को वयस्क दुनिया का ही एक हिस्सा मानना उनसे निपटने का पुराना तरीका था। यह कोई सुनियोजित और सुविचारित तरीका नहीं था। यह जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों से उभरा था। जिस समाज में किए जाने वाले काम उपलब्ध लोगों से कहीं अधिक हों, वहाँ स्वाभाविक रूप से बच्चों से यह उम्मीद रखी जाएगी कि जितना जल्दी सम्भव हो और जितना उनसे बन पड़े वे उतना काम शुरू कर दें। और जिस समय उनकी उम्र मदद कर पाने की न हो तब भी उनके इर्द-गिर्द ऐसे लोग हमेशा नहीं होंगे, जिन्हें उनकी देखभाल के अलावा कोई दूसरा काम ही न हो। हम हमेशा चिन्ताग्रस्त और दुखी होकर पूछते हैं, "बच्चों के लिए सबसे उत्तम क्या है, उनके लिए सही क्या है, हमें बच्चों के लिए भला क्या करना चाहिए?" यह प्रश्न आधुनिक बाल्यावस्था का नतीजा भी है और उसका कारण भी। बाल्यावस्था की संस्था का आविष्कार नहीं होने तक यह प्रश्न किसी को सूझा तक नहीं था। और सूझा भी हो तो यह नहीं सूझा था कि जो बच्चों के लिए सबसे अच्छा है वह दूसरों के लिए अच्छे से कुछ अलग है।

जे.एच. वैन डेन बर्ग अपनी पुस्तक *द चेंजिंग नेचर ऑफ मैन* में कई बार और कई तरह से दूरी की उपमा का प्रयोग करते हैं। वयस्क स्वयं को बच्चे से दूर करता है। वह बच्चे को दूर धकेलता है। बच्चा और वयस्क एक लगातार बढ़ती खाई के दो विपरीत छोरों पर खड़े हैं। इस खाई को बनाने में कई चीज़ों का योगदान है। एक हद तक यह खाई वयस्कों ने जानबूझकर बनाई है। सम्भवतः ऐसा कुछ हद तक रूसो के प्रभाव के कारण किया गया हो। रूसो ने घोषणा की थी कि बच्चा एक भिन्न प्रकार का जीव है और उससे भिन्न प्रकार का बर्ताव किया जाना चाहिए। इसलिए वयस्कों ने बच्चे को अपनी दुनिया से दूर किया (या कहें अपनी दुनिया को बच्चों से दूर किया)। उन्होंने सोचा कि ऐसा करना बच्चे के लिए बेहतर होगा। पर इससे भी अधिक बड़े पैमाने पर यह हुआ कि दुनिया ने ही स्वयं को बच्चों से (और साथ में वयस्कों से भी) दूर कर लिया। दुनिया क्रमशः अधिक अमूर्त और अपारदर्शी बनने लगी। यह देखना और जानना कठिन हो चला कि दरअसल हो क्या रहा है या कौन, क्या और किसलिए कर रहा है।

बच्चों से दुनिया को दूर करने वाली तमाम चीज़ों में एक थी काम की प्रकृति में बदलाव। मनुष्य जब से अस्तित्व में आया उसे तभी से कठोर, जी तोड़, थकाऊ और खतरनाक काम करने पड़ते रहे थे। अधिकतर कामों के लिए उसे शारीरिक शक्ति, कौशल तथा निर्णय शक्ति की आवश्यकता पड़ती रही थी।

वह अपने अधिकतर कामों पर और उन्हें अच्छी तरह कर पाने पर गर्व करता था। लोगों को कोई काम निरर्थक नहीं लगता था क्योंकि वे अपने काम से कटे नहीं थे, उससे अलगाव नहीं महसूस करते थे। उन्हें पता था कि वे क्या और क्यों कर रहे हैं। साथ ही वे अधिकांश काम अपने घर में या उसके आसपास ही करते थे। क्रमशः विशेषज्ञता, औद्योगीकरण और केन्द्रीकरण के चलते काम से मनुष्य की दूरी बनने लगी। वह निरर्थक और घृणास्पद हो चला। ज़्यादा से ज़्यादा लोग ऐसी जगह काम करने लगे जहाँ बच्चे उन्हें काम करते हुए देख नहीं सकते थे। और देख पाते थे तो उन कामों को समझ नहीं सकते थे। स्थिति यह भी बनी कि अधिकांश वयस्क चाहने लगे कि उनके बच्चे वह काम न करें जो वे स्वयं कर रहे हैं। सच तो यह था कि वे स्वयं भी उसे नहीं करना चाहते थे।

सुश्री जेनवे लिखती हैंः

> ...कम्प्यूटर प्रोगामर अपना काम कैसे करता है यह सामान्य लोगों के लिए जादुई ज्ञान से कम नहीं है। यह मसला वैसा नहीं है जैसा पूर्व काल के सुरक्षित "कौशल रहस्यों" का था। यह तो जीवन के एक हिस्से की दूसरे हिस्से से दूरी का मसला है, जो आज मौजूद है। [पृष्ठ 78]

यहाँ एक बार फिर दूरी की उपमा का उल्लेख है। यह उपमा काम में इतनी बार इसलिए ली जाती है क्योंकि आज जीवन ही खण्डित है। उसके विभिन्न हिस्से एक दूसरे से कट चुके हैं। जेनवे का कथन है कि व्यक्तिगत भूमिकाएँ लोगों के लिए अत्यावश्यक हैं। इसलिए क्योंकि ये ही वे भूमिकाएँ हैं जिन्हें लोग समझ पाते हैं, जिनके बारे में वे सुनिश्चित हैं। वे कह सकते हैं, "हम अधिकतर समय क्या करते हैं, नहीं जानते। पर जब हम माता या पिता की भूमिका निभाते हैं, तो हमें बखूबी पता होता है कि हम क्या रहे हैं।" जेनवे आगे कहती हैं कि वे महिलाएँ जिन्हें लगता है कि अपने जीवन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है, ठीक उन्हें ही अपने बच्चों को नियंत्रित करने की आवश्यकता सबसे अधिक महसूस होती है।

परन्तु आज बढ़ते बच्चों को अपने से बड़ों के साथ अधिक से अधिक सम्पर्क की आवश्यकता है। इसलिए कि समाज इतना पेचीदा हो गया है, वयस्क इतने भिन्न-भिन्न प्रकार से आचरण करते हैं, लोग इतनी सारी भूमिकाएँ निभाते प्रतीत होते हैं और जीवन जीने व काम करने की शैलियाँ इतनी अलग-अलग हैं। एक सरल और स्थायित्व लिए समाज में यह सम्भावना कहीं अधिक रहती है कि कोई भी एक व्यक्ति शेष लोगों का प्रतीक बन सके। परन्तु एक अधिक

व्यापक और पेचीदा समाज में यह सम्भव नहीं है। एक सरल समाज में शायद यह समझना आसान है कि आपके पिता घर या कार्यस्थल पर क्या करते हैं। और तब यह भी समझा जा सकता है कि शेष बच्चों के पिता क्या-क्या करते हैं। लेकिन हमारे जैसे पेचीदा और विविधता लिए समाज पर यह बात लागू नहीं होती।

यह दुनिया और दुनिया में जीवन तब ही अर्थपूर्ण बनते हैं, जब अधिकांश लोग समझते हों कि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होती है। पर जब लोगों को यह समझ ही न आता हो तो अर्थ ही लुप्त हो जाता है। मैक्सिको में नए भवनों का निर्माण उसी पुरानी शैली के अनुरूप किया जाता है। खम्भा, शहतीर और कॉन्क्रीट से भवन को बनते देख कोई भी कुछ समय बाद निर्माण प्रक्रिया के सभी चरण सीख लेता है और जल्दी ही स्वयं भी निर्माण कार्य में भागीदारी कर सकता है, भवन निर्माण में मदद कर सकता है। वहाँ पलने-बढ़ने वाला कोई भी युवा यह समझता है कि मकान या भवन कैसे बनाए जा सकते हैं, कि उन्हें बनाना कितना आसान है और अपने लिए घर बनाना हो तो निर्माण का काम सीखा जा सकता है। परन्तु आधुनिक युग की गगनचुम्बी इमारतों को बनाना सीखना आसान नहीं। ऐसी इमारतें अब मैक्सिको के महानगरों समेत बड़े शहरों में नज़र आती हैं। यहाँ निर्माण कार्य में लगे लोगों में से भी कुछ ही लोग यह समझते हैं कि पूरी प्रक्रिया क्या है। सड़क के किनारे खड़े देखने वालों के लिए तो यह एक रहस्य ही होता है। उन्हें लगता है, और ठीक ही लगता है, कि भवन निर्माण की पूरी प्रक्रिया समझनी हो तो पूरी ज़िन्दगी ही खप जाएगी। यही बात सभी लोगों पर, उन सभी चीज़ों पर लागू होती है जिन्हें वे अपनी ज़िन्दगी में देखते हैं या जिनका वे उपयोग करते हैं।

पर वैन डेन बर्ग का कहना है कि बच्चे और वयस्क तथा वयस्क और उसकी दुनिया के बीच की दूरी का एक अधिक मूलभूत कारण भी है। इसका सम्बन्ध चीज़ों को देखने के हमारे नज़रिए से है। मनुष्य की दुनिया का अधिकांश अर्थ उस समय नष्ट हो गया जब दार्शनिकों ने कार्य-कारण के सिद्धान्त का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने वर्तमान की वास्तविकता का अर्थ अतीत में स्थापित कर दिया। ऐसे अतीत में जो मानवीय जीवन के बदलाव की गति के कारण क्रमशः अधिकाधिक अज्ञेय और अर्थहीन बनने लगा था। कार्य-कारण सिद्धान्त हमें बताता है कि जो कुछ होता है वह सब, उससे पहले जो हुआ हो उसका ही परिणाम है। अर्थात् जो हो रहा है वह पूर्व में हुई घटनाओं के कारण होता है। उनसे ही *निर्धारित* होता है। बच्चा जानना चाहता है कि आग क्यों जली? क्योंकि किसी ने माचिस लगाई। माचिस क्यों जली? क्योंकि किसी ने तीली को माचिस के डिब्बे पर रगड़ा। रगड़ने से तीली क्यों जली? क्योंकि

उस पर एक प्रकार का रसायन था और डिबिया पर दूसरी तरह का। तीली के सिरे पर रसायन क्यों था? क्योंकि किसी ने तीली के सिरे को रसायन के घोल में डुबोया था...। पीछे, बीते समय में, और पीछे। वैन डेन बर्ग एक मार्मिक घटना का उल्लेख करते हैं जिसमें उनके आठ वर्षीय पुत्र ने उनसे पूछा कि पेड़ की पत्तियाँ लाल क्यों हो रही हैं। वह दूसरे बच्चों की तरह यह जानना चाहता था कि इसका उद्देश्य भला क्या है, क्या मकसद है। पर इसके बदले पिता उसे जीव विज्ञान और रसायनशास्त्र की निरर्थक भूल-भुलैया की ओर ले गए। यह जानते हुए भी कि वे बच्चे के सवाल, उसके सरोकार से भटक रहे हैं, वे खुद को रोक नहीं पाए। इसलिए क्योंकि वे अपने वैज्ञानिक प्रशिक्षण से लाचार थे। बच्चे को, जो वह देख रहा था उसका उद्देश्य, उसका अर्थ समझना था, पर उसे जवाब नहीं मिल पाया। क्योंकि अगर सभी कुछ अतीत में हुए किसी कर्म का नतीजा है तो *किसी चीज़ या बात का कोई अर्थ ही नहीं है।*

पहले लोग जीवन का अर्थ उसके उद्देश्य के सन्दर्भ में देखा करते थे। एक तात्कालिक अर्थ में उन्हें समझ आता था कि जो हो रहा है उसका उद्देश्य क्या है। बच्चे के इस प्रश्न का उत्तर कि "यह क्यों हो रहा है?" अतीत में नहीं छुपा होता था। कोई चीज़ इसलिए नहीं होती थी कि कल-परसों कुछ हुआ था। बल्कि जो हो रहा था वह इसलिए होता था ताकि आगे कुछ हो सके। पेड़ इसलिए काटा जा रहा है क्योंकि उससे तख्तियाँ बनेंगी, जिनसे मकान बनाया जाएगा, या उस लकड़ी से उनके लिए रात का खाना पकेगा। वह व्यक्ति चमड़ा इसलिए काट रहा है क्योंकि उससे जूता बनेगा, जिसे कोई पहनेगा ताकि उबड़-खाबड़ रास्ते पर उसे चोट न लगे। एक अधिक व्यापक अर्थ में भी दुनिया और जीवन का उद्देश्य था, हालाँकि यह ईश्वरीय उद्देश्य था। और इस उद्देश्य के बारे में जन साधारण खास नहीं जानता था। न ही जानने के लिए उसे खास प्रोत्साहित किया जाता था।

पर हमने यह सब नष्ट कर दिया है। अब हरेक वस्तु का कोई न कोई कारण ज़रूर है। पर अर्थ किसी चीज़ का नहीं। ब्रह्माण्ड अब एक मशीन है जिसे बहुत पहले, बड़े रहस्यात्मक तरीके से चालू कर दिया गया था। पर अब उसकी चाल धीरे-धीरे चुकती-खपती जा रही है। और हम सब भी छोटी-मोटी मशीनें हैं जो धीरे-धीरे चुकती जा रही हैं। इधर हमारे इर्द-गिर्द बसी दुनिया और तेज़ रफ्तार से बदलती जाती है। इसके कारण हमारा अतीत भी लुप्त हो जाता है। अपनी महत्ता खो बैठता है। मार्गरेट मीड ने हाल ही में कहा था कि आज की युवा पीढ़ी दुनिया के विषय में कई अर्थों में अपने बड़े-बुज़ुर्गों से कहीं अधिक जानती है। आज के बड़े-बूढ़ों ने जिन चीज़ों को सीखने में अपने जीवन का अधिकतर हिस्सा लगा दिया, वे सब न जाने कब की लोप हो चुकी हैं। कुछ अर्थों में ऐसी

दुनिया में बड़ा होना बड़ी डरावनी बात है, जहाँ आपके दादा-दादी या नाना-नानी को आपसे सवाल पूछने पड़ें ताकि जो हो रहा है उसे वे समझ सकें। हम अपनी दुनिया में स्थायित्व भाव और मानवीय व मानवोचित उद्देश्य का भाव कैसे वापस लाएँ? जब तक हम यह नहीं करते दुनिया की सार्थकता का भाव वापस नहीं लौटेगा, और हम सब, बच्चे व बुज़ुर्ग, स्वयं को हमेशा ही भ्रमित और खोया हुआ पाएँगे।

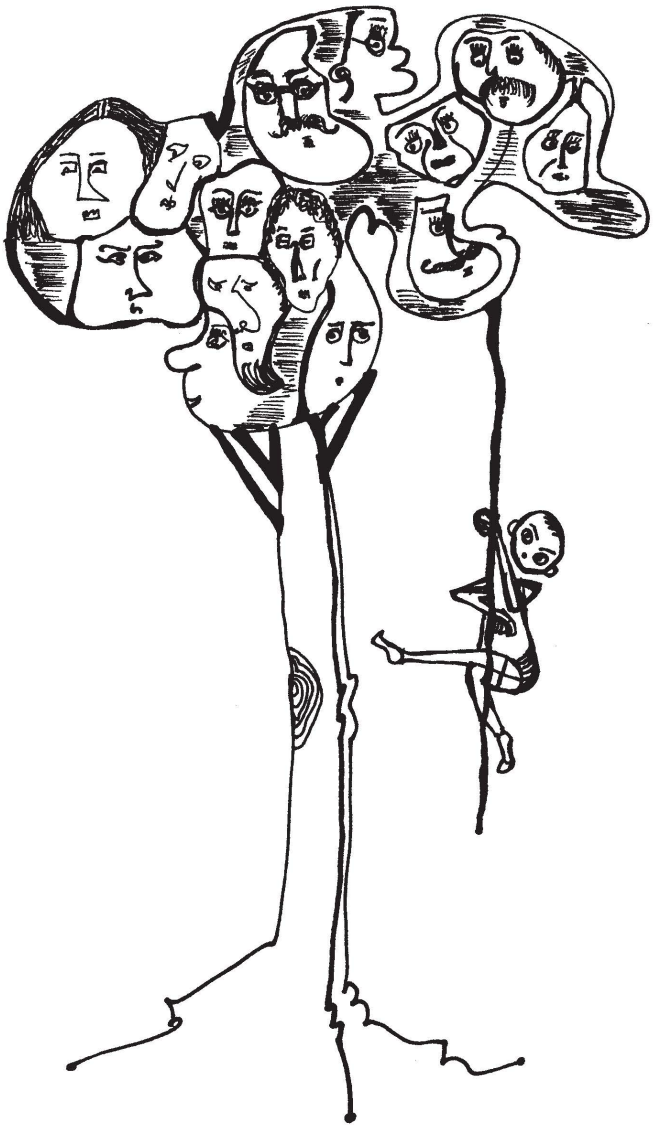

4. परिवार तथा उसके उद्देश्य

कुछ लोगों को यह भय है कि बच्चों को अधिक स्वतंत्रता का अधिकार देने से "परिवार की संस्था" कमज़ोर हो जाएगी या टूट ही जाएगी। परन्तु जिस परिवार की बात अधिकांश लोग आज करते हैं - अम्मा, पापा व बच्चे - वह तो एक आधुनिक आविष्कार है। जिस परिवार को इसी देश के लोग सौ साल पहले तक जानते थे उसे तो मोटरगाड़ियों तथा उनसे उपजे अधीर व जड़हीन समाज ने पूरी तरह नष्ट कर दिया है। और वह परिवार भी तीन सौ साल पुराने यूरोपीय परिवार से भिन्न था। उस समय तक घर व परिवार दोनों ही के निजी होने का विचार जन्मा ही नहीं था। बहरहाल आज हमारे पास तमाम प्रमाण उपलब्ध हैं जो सिद्ध करते हैं कि आधुनिक एकल परिवार न केवल कई लोगों की गम्भीरतम समस्याओं की जड़ है, बल्कि कई रूपों में टूट रहा है और नई शक्लें अख्तियार कर रहा है।

मैं यहाँ जो चीज़ प्रस्तावित कर रहा हूँ उससे परिवारों में जो कुछ स्वास्थ्यकर है, जो वास्तविक मानवीय आवश्यकताओं कि पूर्ति करता है और हमारे जीवन को समृद्ध बनाता है, उसे न तो कोई खतरा पहुँच सकता है, न पहुँचेगा। जो संस्था सच में कारगर है वह हमले से सुरक्षित भी होगी, फिर चाहे यह हमला कितना भी ज़ोरदार क्यों न हो। वास्तविकता की अपनी ही ताकत होती है। जिन लोगों की धार्मिक आस्थाएँ सच में मज़बूत हों, वे ऐसे कथनों से कतई विचलित नहीं होते कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है या वह मर चुका है। विवाह औरतों के शोषण का उपाय है या कुछ और है - यह सुनने पर सुखी वैवाहिक जीवन बिता रहे दम्पत्ति और एक-दूसरे के साथ से ताकत व आनन्द पाते दम्पत्ति मुस्कुरा भर देते हैं और अपना जीवन जीते जाते हैं। क्योंकि उनका अनुभव उन्हें कुछ और ही बताता है।

अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में परिवार एक कठोर दुनिया में स्वीकृति और प्रेम का एक द्वीप भर है। ऐसा कई लोगों ने कहा भी है। पर अक्सर परिवार के अन्दर ही लोग अपने जीवन की उन तकलीफों और कुण्ठाओं को एक-दूसरे पर निकालते हैं जिन्हें वे किसी दूसरे पर निकाल नहीं सकते। अर्थात् परिवार एक बनी-बनाई मित्र मण्डली का स्रोत होने की बजाए, पीड़ितों और दुश्मनों का एक तैयारशुदा स्रोत बन जाता है। एक ऐसी जगह जहाँ एक-दूसरे से सबसे स्नेहमय नहीं, बल्कि कठोरतम शब्द बोले जाते हैं।

सम्भव है हमें इस बात से कुछ निराशा हो, पर हमें आश्चर्यचकित या आतंकित नहीं होना चाहिए। परिवार का आविष्कार बच्चों को खुश रखने के लिए, उन्हें बड़े होने के लिए एक सुरक्षित भावनात्मक व मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि उपलब्ध करवाने के लिए नहीं किया गया था। मानवजाति ने परिवार का आविष्कार बेहद छोटे व अस्थिर समाजों की एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था। वह ज़रूरत थी यह सुनिश्चित करना कि यथासम्भव ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे पैदा हों, पैदा होने के बाद उनकी तब तक शारीरिक रूप से देखभाल की जाए, जब तक वे स्वयं ऐसा करने के लायक नहीं हो जाते। बाईबल का आदेश था, "फलो-फूलो, फैलो।" जो समाज ऐसा नहीं करता था, उसका सूखे, अकाल, महामारी या युद्ध में समाप्त हो जाना निश्चित था। ऐसे समाजों के शासक अपनी समस्याओं का समाधान एक ऐसे तरीके से करते थे जो आज हमारे समाज की नैतिक संहिता की नींव है। यद्यपि यह संहिता हमारे अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति आज नहीं करती, बल्कि उनके विपरीत ही जाती है। उस युग के शासक नौजवानों की कामेच्छाओं का उपयोग बच्चे पैदा करने और उन्हें पालने-पोसने के काम में लेते थे। संक्षेप में इन नैतिक नियमों का सार यह था कि आप सम्भोग केवल बच्चा पैदा करने के लिए ही कर सकते हैं। आपको उस औरत की देखभाल करनी है जो आपके बच्चे की माँ बनेगी। और जब बच्चा पैदा हो जाए तो आपको उसकी भी देखभाल करनी होगी। आज ही की तरह अधिकांश नौजवानों पर उस वक्त भी यह एक ऐसा बोझ था जिसे अगर वे टाल सकते तो कभी न ढोते। पर बचाव के सारे रास्ते बन्द थे और नैतिक नियम यौनेच्छाओं की पूर्ति या सुख पाने का कोई दूसरा रास्ता नहीं छोड़ते थे। पर इस कड़वे सौदे में समाज कुछ चाशनी घोल देता था। वह औरत तथा बच्चों को उस नौजवान के हाथों में उसकी निजी सम्पत्ति के रूप में सौंप देता था। उन्हें उस व्यक्ति के लिए काम करना पड़ता था। उसकी हर बात माननी पड़ती थी, क्योंकि मानवीय ऊर्जा एक दुर्लभ संसाधन और कीमती पूँजी थी। जिस व्यक्ति का परिवार बड़ा होता, उसे सम्पन्न और भाग्यवान माना जाता। समाज का यह आविष्कार कारगर रहा और लोगों की संख्या बढ़ने लगी। और किस कदर बढ़ी उनकी संख्या! संक्षेप में परिवार वह संस्था थी जिसमें कुछ लोगों पर दूसरों का स्वामित्व था। औरतें पुरुषों की मिल्कियत थीं और बच्चे स्वयं लोगों की सम्पत्ति होना या सम्पत्ति का मालिक बनना सीख लेते थे।

परिवार अगर इसके अलावा कुछ बन सके, जैसा वे अक्सर बने भी हैं, तो केवल इस कारण कि जब लोग लम्बे समय तक साथ-साथ रहते हैं तो उन्हें इस स्थिति को हज़म करने लायक बनाने के लिए कुछ रास्ते निकालने ही पड़ते हैं।

दूसरा कारण यह भी है कि मनुष्य सामाजिक व स्नेही प्राणी है। वह उन लोगों को चाहने भी लगता है जो उसके काफी करीब आते हैं। परन्तु परिवारों का आविष्कार इसलिए नहीं किया गया था कि लोगों को प्रेम करने वाले व्यक्ति उपलब्ध करवाए जा सकें। जिस हद तक प्रेम आ पाया वह एक अतिरिक्त बात ही थी। परिवार मूलतः एक नन्हा-सा साम्राज्य होता था, और आज भी है। एक निरंकुश राजतंत्र। रोमन विधान में पिता का अपनी पत्नी व बच्चों के जीवन के साथ-साथ उनकी मृत्यु पर भी पूर्ण अधिकार था। ठीक उसी तरह जैसे गुलामों पर। कुछ अरब देशों में आज भी पिता के लगभग वैसे ही अधिकार होते हैं। पिछले ही कुछ महीनों में एक अरबी पिता ने अपनी पन्द्रह साल की बेटी को मार डाला। कारण था उसका लड़कों से दोस्ती रखना। ध्यान रहे, उस पर किसी प्रकार के यौन सम्बन्ध का आरोप नहीं था। सात महीने कारागार में बिताने के बाद पिता को रिहा कर दिया गया। उस देश के सुल्तान ने उसे पूरी माफी दे दी। यह निर्णय बेहद लोकप्रिय फैसला था। पिछले सप्ताहों में प्रमुख समाचार पत्रों व पत्रिकाओं में मैं माता-पिता द्वारा अपने ही बच्चों के अपहरण की वारदातें पढ़ता रहा हूँ। अपहृत बच्चे अपने जीवन का दूसरा दशक पार कर चुके थे। माता-पिता ने उन्हें कई सप्ताहों तक कैद रखा ताकि वे कुछ धार्मिक समुदायों के प्रभाव से मुक्त हो सकें। अब तक किसी ने यह नहीं सुझाया है कि इन मामलों में भी हमारे अपहरण सम्बन्धी कठोर कानून लागू किए जाएँ। लगता है कि अगर बच्चा आपका खुद का है तो उसका अपहरण करना अनुचित नहीं है, फिर चाहे उसकी उम्र कुछ भी क्यों न हो।

परिवार के इसी रूप की गर्मजोशी से पैरवी की जाती है। जो लोग गुस्से से परिवार को बचाने, उसके सद्गुणों को फिर से स्थापित करने की बात करते हैं, उनमें से अधिकांश लोग परिवार को विकास और आज़ादी का माध्यम नहीं मानते। वे उसे आधिपत्य और गुलामी का माध्यम मानते हैं। उसे एक लघु तानाशाही (जिसका औचित्य कई बार प्रेम के नाम पर दिया जाता है) मानते हैं, जिसमें बच्चा निरंकुश व निर्विवाद सत्ता के तहत जीना, उसके सामने घुटने टेकना सीखता है। यह गुलामी का प्रशिक्षण है।

कुछ अधिक दयालु नज़रिए वालों का आग्रह रहता है कि परिवार ही वह स्थान है जहाँ बच्चों का स्वस्थ लालन-पालन होता है। एलिज़ाबैथ जेनवे इस बात को यूँ रखती हैं:

> ...यह सच है कि बच्चों को पालन-पोषण की ज़रूरत होती है। यह भी कि ऐसा पालन-पोषण अन्तरंग और परिचित परिवेश में हो। उन्हें प्रेम, स्थायित्व, सुसंगत तथा असन्दिग्ध देखभाल की ज़रूरत

> होती है। उन्हें ऐसे लोगों के साथ स्थाई सम्बन्धों की भी आवश्यकता पड़ती है जो उनमें गहरी रुचि लेते हों, जो स्नेह के साथ, प्रफुल्ल मन से, धीरज से उनकी देखरेख करें।

यह विचार आधुनिक है कि बच्चे तब तक स्वस्थ रूप से पल नहीं पाएँगे जब तक उन पर नज़र रखने वाले वयस्क के पास बच्चे की देखभाल के अलावा कोई दूसरा काम न हो।

जेनवे ने अपनी पुस्तक के अन्य भागों में बारबार यह स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार की देखरेख को आधुनिक कट्टरवादी नज़रिया ज़रूरी मानता है वैसी देखरेख अधिकांश बच्चों को कभी मिलती ही नहीं है। वे लिखती हैं किः

> ...ज़्यादातर महिलाएँ काम इसलिए करती हैं क्योंकि उन्हें पैसों कि ज़रूरत होती है। वे अपने पेशे (कैरियर) को बनाने में नहीं जुटतीं। उन्हें नितान्त उबाऊ काम करने पड़ते हैं, और हमेशा से ही करने पड़े हैं।
>
> इससे उस मिथक का एक रोचक सन्दर्भ सूझता है - कि महिलाओं का स्थान घर ही में है। इतिहास बताता है कि यह एक निहायत मध्यवर्गीय मिथक है।...यह मिथक उस समाज को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें महिलाओं को श्रम-बाज़ार से काटकर घरों में, कमोबेश निष्क्रियता की स्थिति में, रखने का सामर्थ्य था। [पृष्ठ 180]

एक और आधुनिक विचार यह है कि वयस्क जीवन के तमाम आदर्श, यानी स्त्री या पुरुष होने का मतलब दरअसल क्या है जैसे विचार बच्चे परिवार में ही पाते हैं। जेनवे यहाँ टैलकॉट पार्सन्स् नामक समाजशास्त्री को उद्धृत करती हैं, "बच्चे जिस दुनिया और संस्कृति में जीते हैं, उसके बारे में वे उस संस्कृति के एक हिस्से में बढ़ते हुए सीखते हैं। इस हिस्से को हम परिवार कहते हैं। ...बाद में बच्चा यह भी सीखता है कि उसके परिवार के सदस्य उन सामाजिक रिश्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो दुनिया के शेष भाग में भी मिलते हैं।" आज इस कथन में सच्चाई खोज पाना कठिन है। और फिर बच्चों को ऐसे आदर्शों की दरकार भी क्या थी? खासकर तब, जब वयस्कों के जीवन खुले में ही जिए जाते थे। और बच्चे खुद भी अपना जीवन वयस्कों के जीवन के बीचों-बीच जीते थे। वे अक्सर वयस्कों के साथ काम करते थे, खेलते थे, धर्मानुष्ठान, त्यौहार, मृत्यु, शोक आदि में शामिल होते थे। आज के बच्चे के सम्मुख वयस्क जीवन का किस प्रकार का आदर्श प्रस्तुत होता है? जब वह अपने पिता को देर शाम घर लौटकर सोफे पर धम्म से बैठते, शायद अखबार पढ़ते या फिर पूरी शाम और

सप्ताहान्त टी.वी. देखते पाता है या जब वह अपनी माँ को दिन भर घरेलू काम करते पाता है? क्या सभी स्त्री-पुरुष बस यही करते हैं? अधूरा और विकृत होने की वजह से आधुनिक एकल परिवार न केवल वयस्क और सामाजिक जीवन का एक घटिया आदर्श प्रस्तुत करता है बल्कि शेष दुनिया से इस प्रकार कटे होने के कारण ही नए आदर्श गढ़ने की आवश्यकता भी पैदा करता है।

बच्चों को लोगों से सम्पर्क बनाने के लिए एक अधिक बड़े नेटवर्क की ज़रूरत कई कारणों से पड़ती है। छोटा परिवार अक्सर छोटा होने के कारण इसमें मददगार सिद्ध नहीं हो पाता है या विनाशकारी बन जाता है। वहाँ सम्बन्ध बेहद तीव्र होते हैं। हमेशा इतना कुछ दाँव पर लगा होता है। बच्चों के साथ उनके आदर्श सम्बन्ध को खतरा पहुँचने के अन्देशे के कारण कई माता-पिता अपने बच्चों से ना नहीं कह पाते हैं। यद्यपि वे ज़रूरत से ज़्यादा बार ना कह जाते हैं। ना कहने के पहले उन्हें गुस्साना पड़ता है। फिर वे बच्चे से दुगना नाराज़ इसलिए होते हैं क्योंकि उसने उन्हें ना कहने पर "बाध्य" किया। परिवार इन उत्कट भावनाओं पर इस कदर निर्भर होता है, अपने आप में बन्द होता है, दूसरों से या समुदाय से इस कदर बेरुख होता है कि वह बेहद नाज़ुक बन जाता है। एक झगड़े से ही उसके टूटने का खतरा बन जाता है। मानवीय सम्बन्ध केवल मनुष्यों के सम्बन्ध के बारे में नहीं हैं। अगर परिवार में भावनाओं के अलावा कुछ नहीं है, अगर वह भावनाओं का अखाड़ा मात्र है, अगर उसका जीवन इस तथ्य पर ही निर्भर है कि सभी सदस्य खुश हैं, सभी सबसे प्यार करते हैं, अगर परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए इसके अलावा किसी दूसरे अर्थ में वास्तव में उपयोगी ही नहीं होते, तो इस खुशी की भावना को डिगाती ऐसी किसी भी घटना से उसे खतरा होगा। और बिलकुल स्वाभाविक मतभेद और आपसी लड़ाइयाँ ज़रूरत से ज़्यादा अहमियत ले लेंगी।

मैं कभी-कभार अपनी सात वर्षीय मित्र को ना कहता हूँ (और वह भी कभी-कभार मेरे साथ ऐसा करती है।) पर ना कहने से पहले मुझे सोचना नहीं पड़ता। ये सवाल मुझे नहीं सताते कि मेरे बारे में कल उसकी भावना क्या होगी। क्या मैं ज़रूरत से ज़्यादा बार ना कहता रहा हूँ? क्या इससे हमारी दोस्ती पर आँच आएगी? और क्योंकि मुझे इस सबकी चिन्ता नहीं सताती, उसे भी फिक्र करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसे में ना केवल उस पल की चीज़ बन जाता है। उसका सम्बन्ध केवल उस कृत्य से होता है जो उस पल का था। इस हाँ या ना का एक व्यापक अर्थ में उसके व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः वह उस ना को उसी रूप में स्वीकारती है जो उसका वास्तविक अर्थ है, और जीवन आगे बढ़ जाता है। हम एक-दूसरे को निरन्तर बढ़ते-बदलते इंसानों के रूप में जानते रहते हैं जो एक दूसरे को जितना ज्ञान और

आनन्द दे सकते हैं उतना देते और पाते हैं। क्योंकि हम एक-दूसरे पर पूरी तरह निर्भर नहीं हैं, इसलिए हमारा रिश्ता इतना नाजुक भी नहीं है।

हमारे युग का एक प्रचलित मुहावरा है "सहोदर स्पर्धा" (सिबलिंग राइवैलरी)। वह बात जो केवल इस अर्थ में "सामान्य" है कि वह हर जगह नज़र आती है, उसे हम स्वस्थ और सही मान लेते हैं। ऐसी ही एक बात यह है कि परिवार में बच्चे एक दूसरे को नापसन्द करते हैं। यह उनके व्यवहार में झलकता है। अपने माता-पिता के स्वल्प वात्सल्य और ध्यान को अपनी ओर खींचने के लिए वे एक-दूसरे से कड़ी स्पर्धा करते हैं। यह स्पर्धा इतनी उग्र क्यों होती है? इसलिए, क्योंकि चाहे गए और आवश्यक ध्यान, सरोकार, सलाह, सहचर्य और सुरक्षा का इतना अभाव है। और अभाव भला क्यों है? इसलिए क्योंकि यह सब देने वाले सिर्फ माता-पिता ही हैं।

बच्चों को ढेरों वयस्क मित्रों की दरकार होती है। ऐसे मित्रों की जिनके साथ उनके रिश्ते सहज हों। ऐसे रिश्ते जिनसे ज़रूरत पड़ने पर या मन करने पर पास या दूर हुआ जा सके। सम्भव है कि उन्हें ऐसे रिश्ते अपने संयुक्त या विस्तृत परिवारों में, दादा-दादियों, नाना-नानियों, मौसा-मौसियों, चाचा-चाचियों, हर प्रकार के भाई-बहनों और समधियों के परिवारों में मिलते रहे हों। या फिर छोटे समुदायों, गाँवों, कस्बों या बड़े शहरों के मुहल्लों में मिलते हों। परन्तु ऐसे समुदाय जहाँ लोगों में इस बात का भाव होता है कि दूसरों के जीवन में उनका एक स्थान है व दूसरों के प्रति सरोकार है अब बिरले ही मिलते हैं। गाँवों और शहरों दोनों ही स्थानों से वे लुप्त हो गए हैं। मोटरगाड़ी और हवाई जहाज़ों ने विस्तृत परिवार बिखेर दिए हैं। उन्हें वापस लाने का कोई उपाय नहीं है जिससे बच्चे ऐसे ढेरों बड़े-बुज़ुर्गों के साथ जी सकें जिनकी उनमें रुचि हो, जो उनसे सरोकार रखते हों।

हमें ज़रूरत है विस्तृत परिवार को फिर से बनाने की। या कहें कि हमें छोटों को अपने विस्तृत परिवार बनाने की अनुमति देनी होगी। उन्हें प्रोत्साहित करना होगा और इसमें उनकी मदद करनी होगी। ज़रूरी नहीं है कि बच्चे के वयस्क मित्र उसके माता-पिता के भी दोस्त हों। माता-पिता अक्सर ऐसे दोस्त चाहते हैं जो उनके जैसे हों। परन्तु सम्भव है बच्चे को अधिक विविधता पसन्द आए ताकि वह किसी से कुछ तो किसी और से कुछ दूसरा ही पा सके। मेरी बहन के बड़े होने के दौरान उसकी निकटतम सहेली, जो उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण थी, एक बुज़ुर्ग महिला थी। उसे हमारे माता-पिता नहीं जानते थे और जानते होते तो सम्भव है कि वे उसे नापसन्द भी करते। बीस से तीस वर्ष की आयु के युवा व्यक्ति अब खोए हुए विस्तृत परिवार या समुदाय की तलाश किसी न किसी प्रकार के संगठनों में करते हैं। अक्सर ये उनके लिए अच्छे सिद्ध

होते हैं, पर ज़रूरी नहीं कि वे बच्चों के लिए भी लाभदायक हों। शायद इसलिए क्योंकि ऐसे साझे समुदायों में रहने वाले लोग अक्सर एक जैसे होते हैं। कोई कारण नहीं कि जिन लोगों से हम या हमारे बच्चे निकटता से जुड़े हैं, उन्हें हमारे पास या साथ रहना ही हो।

रॉबर्ट फ्रॉस्ट ने अपनी कविता "डेथ ऑफ द हायर्ड मैन" में इसे बड़ी खूबसूरती से समेटा है। जिस मज़दूर को काम के लिए रखा गया था वह अब काम कर पाने में असमर्थ है। वह बूढ़ा हो चुका है और बीमार है। वह थका-सा, एक युवा किसान दम्पत्ति की रसोई में बैठा है। पति उसके लिए या उसका क्या करे समझ नहीं पाता है। वह सोचता है कि मज़दूर पास में रहने वाले अपने रिश्तेदारों के यहाँ क्यों नहीं गया होगा। इस पर उसकी पत्नी के उत्तर को और खूबसूरती से कहा ही नहीं जा सकता है - घर वह जगह है जहाँ आप जब चाहें जा सकें।

बच्चों को ठीक ऐसे ही तमाम घरों की ज़रूरत पड़ती है। शायद हम सबों को भी उनकी ज़रूरत है। पर मुझे लगता है बच्चों की तुलना में कई वयस्कों को यह अहसास होता है कि उनके कई घर हैं। ज़रूरत पड़ने पर या कठिनाई में फँसने पर वे इस विश्वास के साथ वहाँ जा सकते हैं कि उनको मदद मिलेगी या कम से कम आश्रय तो मिलेगा ही। पर इस प्रकार के घर बनाने या खोजने का काम समाज लोगों के लिए नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन जीते हुए स्वयं अपने घर बनाने पड़ते हैं। यही करने की अनुमति मैं बच्चों को देना चाहता हूँ, इसमें उनकी मदद करना चाहता हूँ।

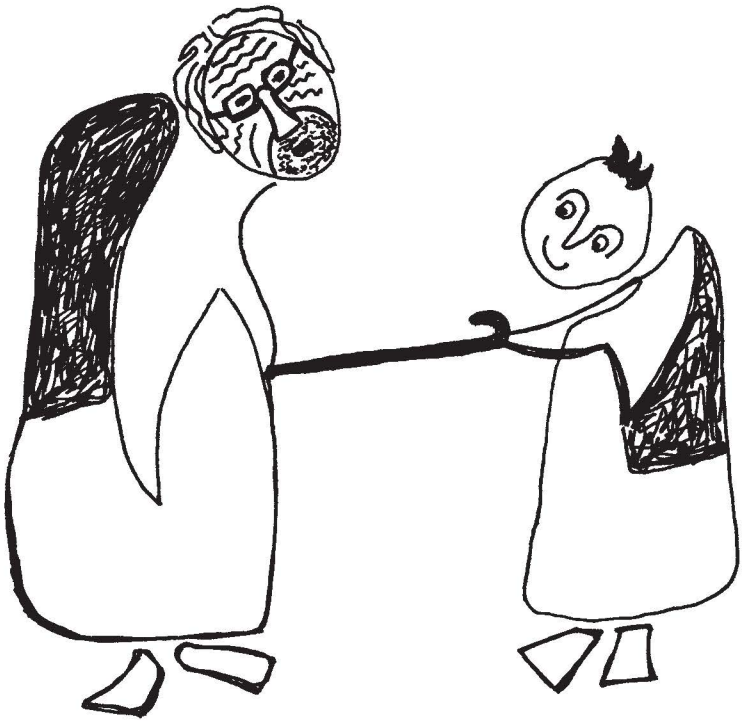

5. बड़ों की सत्ता का लोप

आजकल हम इस विषय पर बड़ी बातचीत करते हैं (शायद लोग हमेशा ही करते रहे हैं) कि पुरानी पीढ़ी की युवा पीढ़ी पर सत्ता कैसे और क्यों खो गई। यह सवाल पूछने वाले ज़्यादातर लोग यह भी कहते हैं कि बुज़ुर्ग कुछ ज़्यादा ही सहज और कोमल रहे हैं और उन्होंने युवाओं को अपनी मनमर्ज़ी करने की कुछ ज़्यादा ही छूट दी। खुद से डराकर रखा ही नहीं। पर हम यह जानते हैं कि स्कूल या स्कूल से बाहर हमारे सबसे उपद्रवी बच्चे व युवा जो हर प्रकार की सत्ता का घोर व हिंसक विरोध करते हैं, जो अपने गुण्डादल बनाते हैं, अपराध करते हैं, वास्तव में वे बच्चे व युवा होते हैं जिन्हें कठोरतम अनुशासन और दण्ड के साथ पाला गया है।

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर का एक महत्वपूर्ण हिस्सा दरअसल कहीं और है। जब भी मैं पुरानी पीढ़ी की सत्ता खोने की बात सुनता हूँ तो मुझे 1959 की एक घटना याद आती है। उस वक्त मैं पॉचवीं जमात में था। दिन में एक समय ऐसा होता जब बच्चे अपनी कक्षा में इधर-उधर घूम सकते थे, बातचीत कर सकते थे। एक दिन मैंने चार-पॉच बच्चों के समूह में से एक को कहते सुना, "अगर मैं बड़ा हो सका...।" यह भला क्या बातचीत हो रही थी? "अगर मैं बड़ा हो सका।" मैं दस वर्षीय बच्चों को बखूबी जानता था। वे इस कदर चुनौती भरे और ढीठ होते हैं, कोई बात बेवकूफी भरी या गलत लगे तो फौरन उसकी खाल खींचने लगते हैं। अतः मुझे उम्मीद थी कि समूह में कोई दूसरा तुरन्त बात पकड़ेगा और कहेगा, "क्या मतलब है तुम्हारा, '*अगर* मैं बड़ा हो सका...?' क्या तुम बीमार-वीमार हो?" पर किसी ने उसे टोका नहीं। कुछ देर बाद मुझे अहसास हुआ कि वह सबके दिल की बात कह रहा था।

मुझे पैरों तले की ज़मीन खिसकती लगी। "अगर मैं बड़ा हो सका।" दस साल की उम्र में अपने जीवन की स्मृति हो आई। तब मेरी अपनी दुश्चिन्ताएँ, समस्याएँ थीं और डर था। पर उनमें यह दुश्चिन्ता शामिल नहीं थी कि मैं बड़ा हो सकूँगा या नहीं। ज़ाहिर था कि मैं बड़ा हो ही जाऊँगा। भविष्य की मेरी छवि काफी धूमिल-सी थी। मेरी कल्पना या महत्वाकांक्षा मुझे इस उम्मीद से आगे नहीं ले जाती थी कि किसी रोज़ मैं किसी कॉलेज की फुटबॉल टीम में खेल पाऊँगा। पर उसके परे मुझे कुछ नहीं सूझता था। और इसके छह साल बाद

भी भविष्य बहुत स्पष्ट नहीं था। पर मुझे कम से कम यह विश्वास ज़रूर था कि मेरा भी एक भविष्य होगा। मेरा जीवन कहीं दूर, पर फिर भी मेरे सामने था।

मेरी पाँचवीं जमात के बच्चों ने कई दूसरी चीज़ें भी कही या लिखीं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि उनमें से ज़्यादातर बच्चों के मन में भविष्य के प्रति आश्वस्ति का भाव नहीं था। ये मध्यमवर्ग या सम्पन्न परिवारों के बच्चे थे। एक जीवन उनका इन्तज़ार कर रहा है, यह भाव नहीं था। कुछ सालों बाद मैंने पढ़ा कि इस उम्र के कई बच्चों ने मनोवैज्ञानिकों और मनोचिकित्सकों को बताया कि उन्हें आणविक बम के, दुनिया के खत्म हो जाने आदि के दुःस्वप्न आते थे। इन बच्चों को युद्ध के दौरान आणविक बम से सुरक्षा की ड्रिलें करवाई जाती थीं। अपनी मेज़ों के नीचे दुबकने-छिपने का अभ्यास करवाया जाता था। मैंने अपना काफी समय एटम बम के बारे में, उसके बारे में क्या किया जाना चाहिए आदि पर सोचने-विचारने में बिताया था। उन बच्चों की तुलना में कहीं ज़्यादा समय। पर न तब, न उसके बाद कभी, मुझे आणविक युद्ध या दुनिया के विनाश का सपना आया। अपने अन्दर की गहराइयों में, अकारण ही, मैं यह मानता हूँ कि विस्फोट नहीं होगा। पर तमाम बच्चे और किशोर मानते हैं कि आणविक बम ज़रूर फटेगा। बचपन में, सुखी या दुखी दोनों ही स्थितियों में, मुझे यह विश्वास रहा था कि मेरे आगे एक भविष्य है। पर मेरी पाँचवीं जमात के बच्चे ऐसा नहीं मानते थे। अपनी उम्र के तमाम दूसरे बच्चों के साथ ये दस वर्ष बाद सबसे उपद्रवी कॉलेज छात्रों की पीढ़ी में शामिल होने वाले थे। मैंने कई बार यह भी पढ़ा है कि जब किशोरों से यह पूछा गया कि वे धूम्रपान क्यों करते हैं, तो जवाब मिला कि वैसे भी हम चालीस के पार कब जीने वाले हैं। शायद लूइस मम्फोर्ड ने कहा था कि कई युवा लोग जिनसे उन्होंने बातचीत की थी, एक तीसरे विश्वयुद्ध के परिणाम और विध्वंस के डर में जी रहे हैं। मानों हमारी तमाम दुष्कल्पनाएँ वास्तव में *घट चुकी हों*। यह भाव युवाओं द्वारा लिखी गई पुस्तकों तथा अखबारों व पत्रिकाओं में छपे उनके आलेखों से भी साफ-साफ उभरता है।

निश्चय ही इस भावना का सम्बन्ध बड़ों की सत्ता खो जाने से है। सत्ता कभी किसी एक शक्ति पर आधारित नहीं होती। जो सत्ता केवल शक्ति पर निर्भर करती हो वह तो पहले ही मृत है और शीघ्र लुप्त भी हो जानी है। वास्तविक सत्ता भी यदाकदा स्वयं को ताकत में अभिव्यक्त करती है, ताकि वह याद दिला सके या बाहरी तत्वों को नियंत्रित कर सके। पर अगर सत्ता वास्तविक और उचित है तो उसका आधार नैतिक होता है। हमारी संस्कृति ही वह अकेली संस्कृति नहीं है जिसमें अपने से बड़ों के विरुद्ध युवाओं ने आवाज़ उठाने के

लिए संघर्ष किया हो। जिसमें बड़ों ने पलटकर युवाओं को धकियाते हुए कहा हो, रुको, अभी नहीं, अभी नहीं। पर पूर्वगामी संस्कृतियों में युवा यह जानते थे कि भविष्य की कुंजी बुज़ुर्गों के हाथों में है। बड़े ही एक समाज, एक जीवन शैली, एक चालू कारोबार को नियंत्रित करते थे। और जब उन्हें लगता कि युवा तैयार हो चुके हैं तो वे बागडोर युवावर्ग को थमा देते थे। अतः जब बड़े कहते थे कि हमारी तरह करो, हम पर भरोसा रखो, हम जानते हैं, तुम नहीं जानते, तुम अभी पूरी तरह तैयार नहीं हो, तो युवाओं की प्रतिक्रिया यह होती कि शायद वे सही कह रहे हैं। शायद इन बड़े-बुज़ुर्गों को सच में, कभी-कभार यह तो पता होता ही होगा कि वे दरअसल क्या कर रहे हैं।

परन्तु जब दुनिया के सबसे भाग्यवान देश के सबसे भाग्यवान परिवारों के दस वर्षीय बच्चे अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त न हों, जब उन्हें यह भी भरोसा न हो कि वे कभी बड़े भी हो सकेंगे, तो हमारे पास वह दुनिया ही नहीं है जहाँ कोई यह कह सके कि, पापा ही सबसे सही जानते हैं।

बच्चे चेहरे भाँप सकते हैं। सभी गुलामों और शक्तिहीन लोगों की तरह वे भी अपने शासकों के चेहरे देखना और पढ़ना सीख लेते हैं, ताकि अनुमान लगा सकें कि आगे क्या होगा। वे चेहरे पढ़ने में माहिर होते हैं। और जो कुछ वे कई चेहरों पर देखते हैं, वह उन्हें बहुत बेचैन करता है। एरिक फ्रॉम ने कहीं लिखा था कि उन्होंने एक प्रमुख सचित्र पत्रिका में किसी बड़े शहर के एक मोड़ पर खड़े कुछ लोगों के समूह का एक चित्र देखा था। फोटोग्राफर ने टेलीफोटो लैंस का उपयोग किया था सो उन लोगों को पता नहीं था कि उनका चित्र खींचा जा रहा है। उस समूह के अधिकांश लोगों के चेहरों पर संत्रास, दर्द, भय और जुगुप्सा का जो भाव था उससे फ्रॉम को लगा कि उन्होंने कुछ पल पहले ही किसी भयावह दुर्घटना को देखा होगा। पर ऐसा कुछ भी नहीं था। वे तो सड़क पार करने के लिए हरी बत्ती का इन्तज़ार भर कर रहे थे। इसी तरह लोगों की आवाज़ें भी इससे बहुत अलग नहीं होतीं। और हँसी, वह तो अक्सर सबसे खराब होती है। जो लोग ऐसे दिखाई या सुनाई पड़ते हों, उन पर भरोसा कैसे किया जा सकता है? उन जैसा बनने की इच्छा भला कौन पाल सकता है?

एक ऐसी पीढ़ी जिसे यह विश्वास ही न हो कि वह अपनी पसन्द का कोई भविष्य रच सकती है या जिसे अपनी कल्पना के भविष्य में न तो आस्था हो, न ही वह उसे प्यार कर सके, तो वह पीढ़ी अपने बच्चों को क्या थाती सौंपेगी? उसके पास नौजवानों को कहने के लिए क्या होगा? यह एक विडम्बना लग सकती है कि हमारे समाज में पूर्व के किसी भी समाज से कहीं अधिक घटनाओं, प्रकृति, इंसानों, सब कुछ को नियंत्रित करने की सनक सवार है। एक डूबता इंसान तिनकों का सहारा ढूँढता है, ठीक वैसे ही हम हरेक निश्चितता को

बनाना या पकड़ना चाहते हैं। हम बदलाव और प्रगति की पूजा इस विश्वास से करते हैं कि जो कुछ नया होगा वह पुराने से बेहतर ही होगा। हम मानते हैं कि हम सब कुछ बदल सकते हैं। सबको सुधार सकते हैं। पर फिर भी सच में एक व्यापक अर्थ में यह भरोसा नहीं करते कि हम चीज़ें ठीक उस तरह बदल सकते हैं जैसे हम चाहते हैं।

द सैटरडे रिव्यू ऑफ साइन्स ने हाल में एक आलेख छापा था जिसका शीर्षक था "द अनस्पॉइल्ट प्लेसेस ऑफ द वर्ल्ड" (दुनिया के अविकृत स्थान)। इस शीर्षक के निहितार्थ पर गौर करें कि दुनिया के अधिकांश स्थान खराब किए जा चुके हैं। ये अविकृत स्थान लगभग हमेशा ही भारतीय महासागर में स्थित सेशैल्स जैसे दूरस्थ द्वीप होते हैं। लेखक ने लिखा था कि अब दुनिया के कोने-कोने से लोग इन अविकृत स्थानों में जा रहे हैं, ताकि उनके *विकृत हो जाने से पहले* उन्हें देखा जा सके। जाने वालों में अधिकांश धनाढ्य लोग हैं। आधुनिक मनुष्य के विषय में यह कथन अजीबोगरीब है। एक तरफ हम यह मानते हैं कि मानव में देवताओं के समान शक्तियाँ हैं। वह चाहे जैसी मशीनें बना सकता है। वह पदार्थ से ऊर्जा पैदा कर सकता है, ब्रह्माण्ड की यात्रा कर सकता है। पर उसे लगता है कि उसने दुनिया में लगभग सब कुछ विकृत कर दिया है। उसे यह भरोसा तक नहीं है कि जो स्थान उसने अब तक नहीं बिगाड़े हैं उन्हें विकृत होने से वह रोक भी सकता है। और ऐसे कितने लोग हैं जो यह विश्वास कर सकते हैं कि जिस जगह वे *आज* रहते हैं, चाहे वह शहर हो, कस्बा हो, मुहल्ला हो या उनका देश, आज से दस साल बाद वह जगह एक बेहतर जगह होगी? लोग आज यह सपना तक नहीं देखते कि शायद ऐसा हो जाए या हम शायद अपनी जगह को एक बेहतर जगह बना सकें। ज़्यादा से ज़्यादा वे यही उम्मीद कर सकते हैं कि इस संकट को वे कुछ समय के लिए टाल सकेंगे। और जब सिर पर विपदा आन ही पड़े तो वे इतने धनी तो होंगे कि भागकर उस अविकृत द्वीप पर पनाह ले लें। वहाँ कुछ समय रहें। जब तक वह द्वीप भी विकृत न हो जाए, बिगड़ न जाए।

हमने एक झूठा सपना रचा है और उसे प्रगति का नाम दे डाला है। और अब जब सपना पूरा होता नहीं दिख रहा है तो हम हताश हैं। किसी और चीज़ की कल्पना हम कर ही नहीं पा रहे हैं। अगर नई से नई चीज़ों और वस्तुओं की अधिकाधिक उपलब्धता मिलकर उम्दा जीवन नहीं बनाते, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि अच्छे जीवन जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती। हमारे पास कोई चारा ही नहीं है। हमें तो बस उस ट्रेडमिल पर खड़े भागते जाना है, जो हमें कहीं नहीं पहुँचाएगी।

जीवन की असंख्य "विपदाएँ"

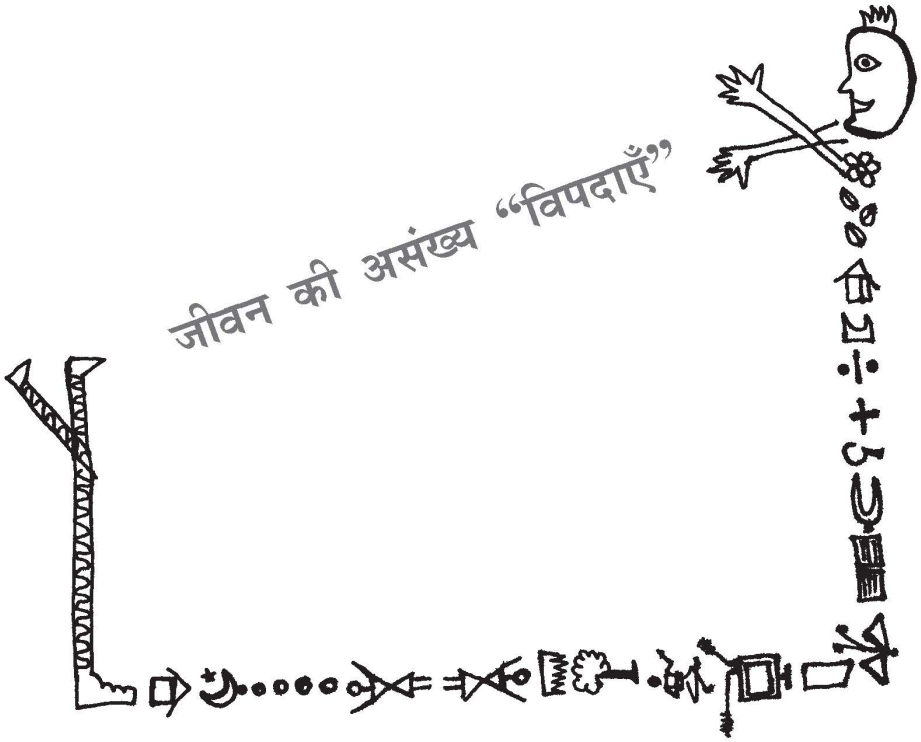

6. जीवन की असंख्य "विपदाएँ"

बाल्यावस्था और शेष जीवन के बीच हमारे द्वारा बनाया गया फासला निरन्तर बढ़ते जा रहे तमाम फासलों में से एक है। जीवन की निरन्तरता एक से अधिक जगहों से तोड़ी जा रही है। हम जानते हैं कि हमारे वृद्ध लोग किस कदर कटे हुए हैं। अपने "वरिष्ठ नागरिकों" की हम कितनी ही बात क्यों न कर लें, हम जानते हैं कि बुढ़ापा जीवन का बेकार जा रहा निरर्थक समय है। वहाँ पहुँचने के बाद किसी को आपकी ज़रूरत नहीं होती, किसी की आप में रुचि नहीं होती। आप बेकार की आफत बन जाते हैं, महज़ एक सिरदर्द। आप कुछ कर नहीं पाते हैं और आप कुछ जानते भी तो नहीं हैं। और जो कुछ जानते भी हैं वह जानने लायक नहीं होता।

पर यह भी जीवन का एकमात्र संकट या बुरा समय नहीं होता। मुझे तमाम सफल और बाहर से खुश नज़र आने वाले लोगों ने बताया है कि उनके चालीसवें जन्मदिन ने उन्हें हिलाकर रख दिया, बहुत बड़ा सदमा पहुँचाया। उस दिन उन्हें यह संकेत भी मिला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ हिस्सा समाप्त हो चुका है। आज वह स्थिति आ चुकी है जब हम मानव जीवन को संकटों की एक निरन्तर श्रृंखला के रूप में देखते हैं। वयःसन्धि का संकट, किशोरावस्था का संकट, मध्यआयु का संकट, वृद्धावस्था का संकट। लगता यह है कि सबको सिर्फ इक्कीस से इक्तीस वर्ष की आयु का ही होना चाहिए।

उपरोक्त पँक्तियाँ लिखने के चन्द दिनों बाद मैं शिकागो जा रहा था। 6 मार्च 1973 के *शिकागो ट्रिब्यून* में मैंने रिजले हंट का एक लेख पढ़ा जिसका शीर्षक था "वैदरिंग द स्टॉर्म ऑफ द मिडिल इयर्स।" इसमें अमरीकी चिकित्सक संघ के आगामी सम्मेलन का उल्लेख करते हुए हंट ने लिखा था (उन्हें शब्दशः उद्धृत करने की अनुमति *ट्रिब्यून* ने नहीं दी है) कि जिस युग में जीवन अधिक सहज था, तब प्रौढ़ वयस्कों को प्रदूषण, सामुदायिक शाला की गुणवत्ता आदि की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। पर जिस समय से लोगों को आराम के लिए खाली समय मिलने लगा है, उनके मन को नौकरियों की ऊब, बच्चों से अपने रिश्तों की फिक्र और अपने यौन जीवन की चिन्ता घेरने लगी है। हंट ने आगे जोड़ा कि इस तीन दिवसीय सम्मेलन में अमरीकी चिकित्सक संघ मध्य आयु के जीवन की गुणवत्ता को जाँचेगा तथा यह जानने की कोशिश करेगा कि इस

उम्र के लोगों का जीवन इतना कष्टदाई क्योंकर होता है। और इसे सुधारने के क्या उपाय किए जा सकते हैं।

इस पर तीन टिप्पणियाँ। पहली यह कि "जिस युग में जीवन सहज था" मुझे शक है कि उस युग में कोई भी "मध्यआयु" जैसे जुमले को काम में लेता होगा। न ही लोग "जीवन की गुणवत्ता" जैसी अमूर्त और अस्पष्ट चीज़ों को लेकर बहुत चिन्तित होते थे। जब उन्हें समस्याएँ होतीं तब उन्हें पता होता था कि कठिनाई दरअसल है क्या! आग, कीट या सूखे से उनकी फसल का चौपट हो जाना। या प्लेग की महामारी का उन्हें बीमार कर जाना। या फिर शासकों के कमरतोड़ कर के बोझ तले दबे रहना। या युद्ध में उनका मर-खप जाना और खेतों का उजड़ जाना। वे बखूबी जानते थे कि इन समस्याओं के बारे में क्या किया जाना चाहिए। भले ही वे वह सब कर पाते हों या नहीं।

अन्तिम टिप्पणी यह है कि यह हमारे युग की सोच का ठेठपन भी दर्शाता है। हम सोचते हैं कि अपना जीवन ठीक से नहीं जी पाने या जीना नहीं जानने की समस्या को कुछ "विशेषज्ञ" ही ठीक कर सकते हैं। यह भ्रान्ति, यह आधुनिक अन्धविश्वास, हमारी समस्याओं के मर्म में बसा हुआ है।

हंट आगे लिखते हैं कि अमरीकी चिकित्सक संघ के अधिकारी डॉ. एफी एलिस, जिन्होंने सम्मेलन के नियोजन में सहायता की, मध्य आयु को "अचीन्हा क्षेत्र" यानी अज्ञात विषय कहते हैं। मुझे पूछना है कि यह किसके लिए अज्ञात है? क्या डॉ. साहब कहना चाहते हैं कि जो लोग मध्य आयु को जीते हैं वे उसके बारे में तब तक कुछ नहीं जानते जब तक कोई विशेषज्ञ उन्हें इसके बारे में बता नहीं देता?

डॉ. एलिस ने ऐसे लोगों का ज़िक्र किया जो अपनी नौकरी या काम से इस कदर पिस चुके थे कि रातों को सो नहीं पाते थे। वे आगे जोड़ते हैं कि पूर्वयुग में "अस्तित्व का संघर्ष" लोगों की इतनी ऊर्जा सोख लेता था कि उनके पास दूसरी समस्याओं के लिए वक्त ही नहीं होता था। परन्तु अब लोग "फुरसत का आनन्द" ले सकते हैं। इन फुरसत और आराम के क्षणों में व्यक्ति तलाक, प्रदूषण, रंगभेद, बुढ़ापा, उच्छृंखल बच्चे, क्षीण होती यौनशक्ति आदि की चिन्ता करता है। ये दुश्चिन्ताएँ उसे मोटा और चिड़चिड़ा बनाती हैं। उसे पेट के नासूर, उच्च रक्तचाप और हृदय रोग आदि की भेंट देती हैं और वह राहत की गुहार करता रहता है।

पर ऐसे जीवन का वर्णन करते समय डॉ. एलिस "फुरसत का आनन्द" जैसे शब्दों का उपयोग क्यों करते हैं? हममें से अधिकांश लोग ऐसे शब्दों को क्योंकर स्वीकारते हैं? क्योंकि इन शब्दों का निहितार्थ तो यह है कि आधुनिक संस्थाओं

ने हमें जो जीवन उपलब्ध करवाया है वह बहुत ही बढ़िया है। केवल हम ही अपनी बेवकूफी और अन्दरूनी उलझनों के कारण उसका आनन्द नहीं उठा पाते हैं। अतः हमें विशेषज्ञ दरकार हैं ताकि वे मिलजुल कर बैठें और चर्चा के बाद हमें बताएँ कि हम उसका आनन्द कैसे लें।

इसी प्रकार मुझे यह भी असम्भव लगता है कि आज तक जितने भी लोगों ने भोजन, वस्त्र व आवास की ज़रूरतें पूरी करने के लिए आवश्यक काम करते हुए और सामुदायिक जीवन के ढाँचों को प्रबन्धित करते हुए अपना जीवन जिया है, वे अपने तमाम उपक्रमों को "अस्तित्व के संघर्ष" के रूप में देखते होंगे। क्या व्यक्ति अपने अन्न को उपजाते समय, जिसे वह खाने वाला है या अपने पहनने के वस्त्र को बनाते समय, अपने घर की मरम्मत करते समय "संघर्ष" कर रहा होता है? यह विचार ही बेतुका है। केवल संकटकाल में जब अन्न या जलावन का अभाव होता होगा या फिर युद्ध अथवा प्राकृतिक विपदा उनके घर उजाड़ देती होगी, तब ही वे संघर्ष की बात सोचते होंगे। आधुनिक मनुष्य की समस्या यह है कि उसने स्वयं को ऐसी संस्थाओं पर निर्भर बना डाला है जिनको न तो वह जान सकता है, न नियंत्रित कर सकता है। स्थिति अधिकाधिक अर्थों में ऐसी बनती जा रही है कि वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं करता या उसे ऐसा करने की अनुमति तक नहीं होती। अब विशेषज्ञों की टोली द्वारा निर्देशित हुए बिना वह स्वयं को "मोटापे" की बीमारी तक से नहीं बचा पाता।

सम्भव है आपको लगे कि ये तमाम विचार बच्चों के प्रति हमारे सरोकारों से बहुत दूर हैं, पर वास्तव में ऐसा है नहीं। बाद में जब मैं बच्चे द्वारा स्वयं अपने संरक्षक को चुनने या स्वयं अपनी सुरक्षा करने के अधिकार की चर्चा करूँगा, तो इस अध्याय पर लौटूँगा। हम बच्चों को यह कैसे बता सकते हैं कि वे अपना जीवन कैसे जिएँ जब यह ज़ाहिर है कि हम खुद ही अपना जीवन जीना नहीं जानते? और जब हम उन्हें इस विषय पर बताते हैं तो वे भला हमारी बात पर ध्यान क्यों दें?

हंट आगे बताते हैं कि अमरीकी चिकित्सक संघ के नवनिर्वाचित अध्यक्ष डॉ. जेम्स प्राइस ने कहा है कि उनके मरीज़ों में से बीस प्रतिशत वे शिशु या बच्चे हैं जिन्हें "निरोग बालक परामर्श" के लिए लाया जाता है, या वे वयस्क हैं जो सामान्य चैकअप या शारीरिक जाँच के लिए आते हैं। ये सब केवल अपनी हालत सुधारना चाहते हैं या बस इतना जानना चाहते हैं कि वे सेहतमन्द कैसे रह सकें। उनके चालीस प्रतिशत रोगियों को किसी अंग विशेष सम्बन्धी रोग होता है। बहुत सम्भव है कि इनके बारे में चिकित्सक कुछ कर सकते हैं। शेष चालीस प्रतिशत को हम जीवन की गुणवत्ता के मरीज़ कह सकते हैं। पेट के

नासूर, दमा, चर्म रोग आदि जैसे इनके आधे रोग चिन्ताओं के कारण होते हैं। बाकि मरीज़ों को कोई भी पहचाना जाने वाला रोग नहीं होता। यद्यपि उनकी पीड़ा बिलकुल वास्तविक होती है।

कुछ और टिप्पणियाँ। अव्वल तो यह "निरोग बालक परामर्श" भला क्या है? जब बीमार होने पर हमें चिकित्सक के पास जाना पड़े, तो यह हमारी मजबूरी है। पर क्या तब भी जाना ज़रूरी है जब हम भले-चंगे हों? "निरोग बालक परामर्श" में क्या होता है? उसका शुल्क क्या है? (मुझे बाद में पता लगा कि यह शुल्क 8 से 25 डॉलर के बीच होता है और कई स्कूलों में यह एक वार्षिक अनिवार्यता होती है।) और वह शारीरिक जाँच? इस दौरान जो चिकित्सक करता है उसे "रूटीन चैकअप" कहते हैं। ऐसी जाँच मुहल्ले की दवा की दुकान में भी की जा सकती है। क्योंकि जब खून या पेशाब की जाँच होती है तो वह भी प्रयोगशाला का कोई ऐसा व्यक्ति ही करता है जो चिकित्सक नहीं होता। तो फिर हमें प्रयोगशाला या उस टेक्निशियन तक पहुँचने के लिए चिकित्सक के मार्फत क्यों जाना पड़ता है? क्या ये जाँचें इतनी मुश्किल हैं कि हम उन्हें कुछ सप्ताह में खुद करना नहीं सीख सकते? (मधुमेह के रोगी हर दिन अपने खून या पेशाब को जाँचकर रक्त में शर्करा का स्तर पता लगाते हैं।) इस सबसे हमें आभास मिलता है कि हमारे स्वास्थ्य का स्रोत हमारी जीवन शैली नहीं बल्कि वह रहस्यमय ज्ञान है जो चिकित्सक के पास ही होता है। ठीक उसी तरह हमारी आय का स्रोत हमारा काम न होकर वह रहस्यमय वस्तु है जो "अर्थव्यवस्था" के नाम से जानी जाती है। ऐसी अर्थव्यवस्था जो किसी भी पल किन्हीं अज्ञात कारणों से हमें बेरोज़गारी और गरीबी की स्थिति में धकेल देती है। इन कारणों के बारे में कोई नहीं जानता और न कुछ कर पाता है।

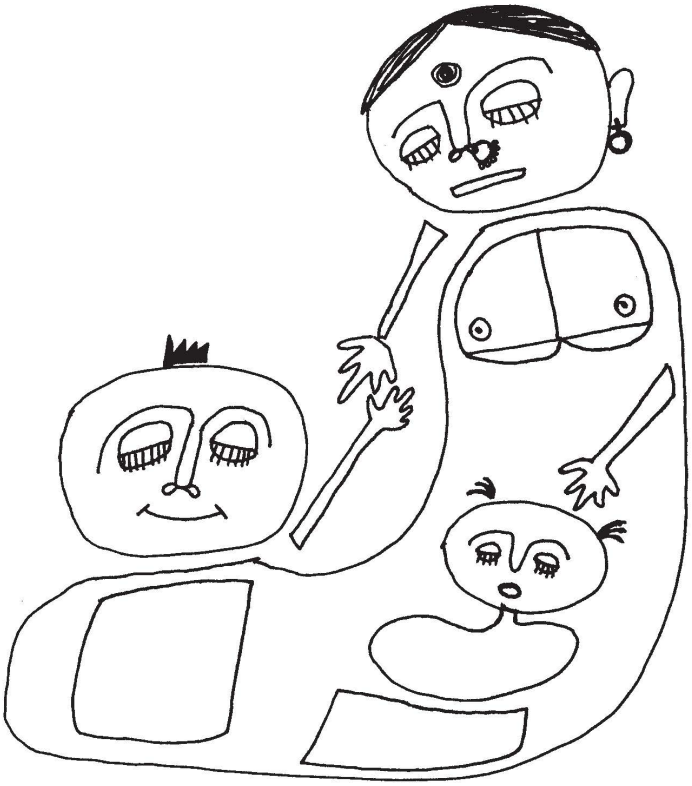

7. बच्चों का बोझ

चारदीवारी से घिरा बाल्यावस्था का बाग अक्सर प्रभावी नहीं होता। क्योंकि इसे बनाने और इसकी देखरेख करने वाले लोग, स्वयं इसमें रह नहीं सकते। इससे उनके मन में उन बच्चों के प्रति दुर्भाव उपजता है जिनके लिए यह बनाया गया है। न जाने कितनी ही बार वयस्कों ने अपने जीवन की तुलना बच्चों के जीवन से की होगी। और कटुता से सोचा होगा, "इनके लिए सब कुछ इतना आसान क्योंकर है, जबकि हमने तो इतनी कठिनाइयाँ झेली थीं?" अक्सर यह बात मन में न रहकर बाहर भी निकलती है। ऐसे में बच्चों को कठोर बाहरी वास्तविकता से बचाने के लिए बाग बनाने वाले लोग, उसी कठोर बाहरी वास्तविकता के नाम पर उसमें खरपतवार, पत्थर, टूटे काँच और कँटीले तार लगाने लगते हैं। "उन्हें भी सीखना चाहिए," वे गुस्से में कहते हैं, "कि दरअसल बाहरी दुनिया होती कैसी है?"

विगत कई सालों से, विविध स्थानों और स्थितियों में मैंने गौर किया है कि वयस्क बच्चों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करते, जैसा वे अपनी पसन्द के लोगों के साथ करते हैं। बल्कि इसका विपरीत व्यवहार ही करते हैं। वे चिन्ताग्रस्त, चिड़चिड़े और अधीर हो जाते हैं। खोट निकालने की कोशिश में लगे रहते हैं। इसमें वे सफल भी होते हैं। उनमें आनन्द छोड़, सहजता तक नहीं होती। यह बात उन लोगों के लिए भी सच है जो छुट्टियाँ मनाने, किसी खुशी के आयोजन में, किसी बाग में सैर करने, या कोई सरकस या मेला देखने गए हों। अर्थात् जो वह सब कर रहे हों जिसे मौज-मस्ती कहा जा सकता है। वातावरण में दबाव, तनाव, संघर्ष होता है। एक भयावह-सा धैर्य जो स्थितियों को हँसी-खुशी स्वीकारने के बदले आक्रोश को सायास रोकने से उपजा हो। सार्वजनिक स्थानों में बच्चों को कोप दृष्टियाँ झेलनी पड़ती हैं, जब तक वे प्यारे अर्थात् छोटे, सुन्दर और सजे-धजे न हों। ये नज़रें बच्चों से मानो पूछती हैं, "तुम भला क्या कर रहे हो? क्या खुराफात सूझ रही है? माँ-बाप कहाँ हैं? तुम उनके साथ क्यों नहीं हो? कोई वयस्क तुम्हारी निगहबानी क्यों नहीं कर रहा है - यानी, तुम क्या करो यह तुम्हें क्यों नहीं बता रहा है?"

इस कुढ़न और नापसन्दगी के कई कारण हैं। आज से कुछ समय पहले तक एक अधिक सरल समाज में बच्चों को पालना इतना कठिन नहीं था। अगर वे

अपने प्रारम्भिक वर्षों में किसी तरह बच जाते, तो जल्द ही उपयोगी बन जाते थे। वे अपनी ज़रूरत से कहीं ज़्यादा कमा लेते थे। अधिक बच्चों वाले पुरुष को भाग्यशाली माना जाता था। बच्चे कीमती सम्पत्ति थे, परिवार के लिए तैयार श्रमजीवी। और जहाँ वे उपयोगी नहीं हो पाते, या जहाँ उनके श्रम की इतनी आवश्यकता नहीं होती थी, वहाँ भी उन्हें इतनी निगरानी की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। कस्बों और शहरों में इतनी भीड़भाड़ नहीं थी। वे कम खतरनाक स्थान थे। वहाँ वाहनों की संख्या कम थी, फलतः वे आज की तुलना में कहीं अधिक सुरक्षित स्थान थे। बच्चों के घूमने-खेलने की खूब जगह थी। 1920 में मैं मैनहैटन में रहता था। वहाँ आज की तरह का आम दिखने वाला ट्रैफिक जैम एक बिरली घटना थी। यातायात का अवरोध शहर के केन्द्र में, छुट्टियों के मौसम में ही दिखता था। मैनहैटन के मुख्य रास्ते, जैसे छियासीवीं स्ट्रीट पर तो यातायात बहुत ही सीमित था। मेरे एक अच्छे मित्र ने बताया कि कुछ वर्षों बाद ब्रूकलिन में वह अपने दोस्तों के साथ दिन भर सड़कों पर फुटबॉल, स्टिकबॉल, हॉकी आदि खेला करता था। उनकी माताएँ बिना फिक्र किए उन्हें घर से बाहर खेलने भगा देती थीं। जब मेरा परिवार शहर छोड़ कनेक्टिकट के उपनगर में रहने गया, तो अपने दोस्तों के साथ मैं तमाम उन जगहों पर पैदल जाता जहाँ बच्चों को आज गाड़ी से ले जाना पड़ता है। हम गाँव के बच्चे नहीं थे। हम बस से स्कूल जाते थे। पर अगर मौसम अच्छा होता तो कुछ मील पैदल चल किसी दोस्त से मिलने या सिनेमा देखने जाने में हमें सोचना नहीं पड़ता था। सड़कें सुरक्षित थीं और किसी को हमारी फिक्र भी नहीं होती थी।

सम्भवतः जब इतने सारे बच्चे बाल रोगों के कारण कम उम्र में ही मर जाते थे, ऐसे में अभिभावकों को उनको चोट लगने की या किसी दूसरी तरह से मर जाने की चिन्ता भी कम ही होती होगी। और अगर चिन्ता करते भी होंगे, तो खुद को दोष कम ही देते होंगे। सम्भव यह भी है कि वे इतने व्यस्त थे कि उन्हें चिन्ता करने की फुरसत ही नहीं रहती होगी। पर अब बच्चों का लालन-पालन कई लोगों के लिए अनन्त चिन्ता का विषय है। एक बड़े परिवार की माँ ने बताया कि पहले बच्चे के पैदा होने के पल से अन्तिम बच्चे के बड़े हो जाने तक वे एक भी रात ढंग से सो नहीं पाईं। इस कारण वे हमेशा ही थकी-थकी रहती थीं। एक शिशु की माँ बच्चे के सोने के साथ खुद भी ऊँघ लेती है, पर प्रकृति का ही कोई नियम होगा कि दो शिशु कभी भी एक साथ नहीं सोते। कई अन्य माताओं ने भी इस प्रकार की थकान की बात कही है।

ब्रिटिश उपन्यासकार मार्गरेट ड्रैबल का एक लेख *न्यू यॉर्क टाइम्स* में 4 अगस्त 1973 को छपा था। शीर्षक था "विद ऑल माय लव, (साइन्ड) ममा"। लेख

बच्चे होने की पैरवी व प्रशंसा में लिखा गया था। उन्होंने कहाः

> छोटे बच्चों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे बेहद थकाऊ होते हैं। आम तौर पर इन्हें ठुमकु (टॉडलर) जैसा अपमानजनक नाम दिया जाता है।...मैं अब सोचती हूँ कि बाल्यावस्था के इस चरण की पीड़ा की तुलना में उसका आनन्द कहीं अधिक है। यद्यपि ज़ाहिर है कि उस समय मैं ऐसा नहीं सोचती थी। उस वक्त को याद कर कभी-कभी सोचती हूँ कि मैं उसे कैसे झेल सकी। लगता है कि व्यक्ति बुरे से बुरे वक्त को झेलने के लिए अनुकूलित होता है। अब इस वक्त मुझे मानना पड़ेगा कि बच्चों का चस्का भयावह और गम्भीर असुविधाओं को साथ लेकर आता है। उस स्थिति के सुन्दर पलों की स्मृतियाँ याद करना अच्छा लगता है, पर बुरे वक्त का क्या करें - वह थकान, बीमारियाँ, नाराज़गी और बीमार कर डालने वाली वह अनन्त दुश्चिन्ता? एक बेहद गहरे स्तर पर देखें तो बच्चे होने के बाद व्यक्ति कभी निश्चिन्त नहीं हो सकता; लगता है मानो हरेक सुख व आनन्द कब्र से छीनकर निकाला गया हो। बच्चे तो भाग्य के बन्धक हैं, मेरे बच्चे होने से पहले मैं कमोबेश एक निश्चिन्त और साहसी इंसान थी। पर अब मुझे निरन्तर सीट बैल्टों की चिन्ता सताती है, भय लगता है कि नीची उड़ान भर रहा कोई हवाई जहाज़ मेरे बच्चों के स्कूल पर तो नहीं जा गिरेगा।

उपरोक्त शब्द लिख रही महिला गरीब नहीं है। वह उस काम को करती है जो उसे सबसे ज़्यादा पसन्द है। इस काम में वह दक्ष है। उसके ढेरों प्रशंसक हैं। वह सफल है। और अगर बच्चे होने के बारे में वह यह सब सोचती है तो उस महिला की कल्पना करें जो गरीब है, या जिसे पैसों की चिन्ता है। जो कारखानों, दुकानों या घर पर सबसे उबाऊ और थकाऊ काम न्यूनतम मज़दूरी के नाम पर या मुफ्त में करने को बाध्य है? कुछ समय पहले एक माँ ने मुझे लिखा थाः

> बच्चे का आप पर इस कदर निर्भर होना आपके लिए एक भारी भावनात्मक बोझ है - न उसके खेलने के लिए कोई सुरक्षित जगह है, ना कोई विस्तृत परिवार जिसके साथ वह समय बिता सके। फलस्वरूप कई माताएँ अपने बच्चों के साथ लगातार रहती हैं। यह न तो बच्चे के लिए सही है, न ही माँ के लिए। तीन वर्षों तक मैं कभी भी दो-तीन घण्टों से ज़्यादा अपनी बच्ची से दूर नहीं हुई। यह भी मैं साल में शायद चार बार कर पाती थी। वह सोती ज़रूर थी पर चौदह-पन्द्रह माह की होने पर उसने दिन में सोना बन्द कर

> दिया। फलस्वरूप मैं बातचीत तक के लिए अपने पति पर पूरी तरह निर्भर हो गई। यह उस पर भी एक बोझ बन गया। मैं पूरी तरह ऊबी हुई थी और बच्ची के साथ मेरा व्यवहार अधीरता भरा था। मैं समझ सकती हूँ कि माँ-बाप बच्चों को क्यों पीटते हैं। दो बार मैं खुद भी यही करने वाली थी। मैं जानती हूँ कि अगर उस वक्त मैं उसके कमरे में घुसी होती या उस पर हाथ उठाया होता तो मैं उसे गम्भीर नुकसान पहुँचाती। मैं स्वयं को खूब थका हुआ पाती थी। कुछ तो इसलिए कि मैं इतनी ऊबी हुई थी - एक दो वर्षीय बच्चे के स्तर पर उतर कर हर रोज़ बारह घण्टे सोचना बड़ा थकाने वाला काम होता है। दूसरा कारण यह था कि वह बस मुझे ही मुझे देखती थी और घर से बाहर खेलने तक नहीं जा सकती थी। उसमें ढेर सी ऊर्जा थी जो लगातार मुझ पर उछाली जाती थी। पूरा परिदृश्य बेहद खराब था। बल्कि मैं तो कहूँगी कि नर्क कि मेरी कल्पना ही यह होगी - एकाध छोटे बच्चे के साथ फिर से किसी फ्लैट में अकेले कैद होना।

इस सबके अलावा बच्चों का मतलब आज बेइन्तहा खर्च भी होता है। कुछ समय पहले *बॉस्टन ग्लोब* में एक खबर छपी थी कि पैदा होने से बी.ए. की पढ़ाई करवाने तक का एक बच्चे का खर्च आजकल लगभग 40,000 डॉलर होता है। पर जो लोग अपने बच्चों को निजी शालाओं में पढ़ाना चाहते हैं, या जिनके बच्चे बीमार रहते हैं, या दुर्घटनाग्रस्त होते हैं, उनके लिए तो यह खर्च और भी ज़्यादा होता है। बहरहाल प्रत्येक माता-पिता पर यह बोझ है और गरीब से गरीब परिवार भी इस व्यय से बच नहीं सकते। कई शहरों और कस्बों में, जहाँ आधे से ज़्यादा लोग गरीब हैं और कुछ तो बेहद गरीब हैं, स्कूल खुलने के एक माह पहले हर कपड़े और दूसरी जिन्सों की दुकान पर *बैक टू स्कूल* (स्कूल चलो) के पोस्टर नज़र आने लगते हैं। ऐसा उस शहर में भी होता है जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। हर दुकान, रेडियो और टेलीविज़न एक ही बात कहता है - खरीदो, खरीदो, खरीदो। कॉपियाँ, किताबें, पेंसिल-पेन, टिफिन डिब्बे, खेलकूद सामग्री और कपड़े। जो गरीब लोग यह सब खरीद नहीं सकते, वे भी कतारों में लगकर खर्च करने पर बाध्य होते हैं। वे बखूबी जानते हैं कि केवल धनी बच्चे ही पुराने, बदरंग, सस्ते या अनौपचारिक कपड़ों में स्कूल जाने की हिम्मत कर सकते हैं। अमीर बच्चे हमेशा अमीर मुहल्लों में ही रहते हैं और ऐसे स्कूलों में जाते हैं जहाँ दूसरे बच्चे भी उन्हीं की तरह ही सम्पन्न होते हैं। अब क्योंकि स्कूल भी जानते हैं कि वे अमीर हैं, इसलिए वे बच्चे मनचाहे कपड़े पहन सकते हैं। पर जिन स्कूलों में ज़्यादातर बच्चे गरीब हों, वहाँ काफी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वह दिखता कैसा है। इस काफी

कुछ में बच्चे की साख और स्कूल में मिलने वाले अवसर, शिक्षकों का उनके प्रति रवैया, आगे उसे कौन-से विषय दिए जाएँगे आदि आते हैं। बच्चा जितना अधिक मध्यमवर्गीय लगेगा, इस बात की सम्भावना उतनी अधिक होगी कि शिक्षक उसे पसन्द करेगा, उसकी मदद करेगा, उसे अच्छे विषय देगा या बेहतर समूह में डालेगा, उसकी गलतियों को अनदेखा करेगा या उसे माफ करेगा। सो गरीब इस सन्देश को न मानने की जुर्रत नहीं कर सकते कि अपने बच्चे को नए कपड़ों में स्कूल भेजो।

भावनात्मक और वित्तीय तौर पर आधुनिक बाल्यावस्था एक असाधारण बोझ है। इस बोझ के कल्पनातीत बनने के साथ ही माता-पिता से यह आग्रह भी बढ़ा है कि उनका *दायित्व* बच्चों को प्यार करना है। और बच्चों से आग्रह है कि उनका फर्ज़ है अपने माँ-बाप से प्यार करना। हम बच्चों और बड़ों को इस असाधारण, तनावपूर्ण और उलझन भरे रिश्ते में बाँध देते हैं। और कहते हैं कि उन्हें इसे पसन्द करना होगा या चाहना होगा। और अगर वे ऐसा नहीं कर पाते तो वे बेहद खराब हैं या फिर दिमागी रूप से बीमार हैं। इस बोझ से जूझते माता-पिता के पास कोई जायज़ तरीका नहीं बचता कि वे बिना शर्म या अपराधबोध के यह स्वीकार लें कि उन्हें उनके घर में रह रहे ये नन्हे इंसान खास पसन्द नहीं। वे उन्हें चिन्ताग्रस्त बनाते हैं और उनका पैसा सोख लेते हैं, या उन्हें लगता है कि काश उन्होंने बच्चे पैदा ही न किए होते या उनके पास कुछ और ही होता। दूसरी ओर बच्चों से यह उम्मीद रहती है कि जो उन्होंने माँगा नहीं और अक्सर जिसकी उन्हें दरकार भी नहीं, उसके लिए वे अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञ हों।

पहले के ज़माने में उम्र के साथ बड़े हो गए बच्चे उलझन कम और मददगार अधिक होते थे। पर आज वे मददगार कम और परेशानी का कारण अधिक बनते हैं। उन्हें जिन तमाम चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है, या वे जिनका इस्तेमाल करते हैं या जिनकी वे माँग करते हैं, वे सब चीज़ें बड़े होने के साथ और महँगी होती जाती हैं - कपड़े, यातायात के साधन और इन सब से ऊपर शिक्षण। और तो और दूसरी तमाम तरह की परेशानियाँ हैं जिनमें वे फँसते हैं और अपने *माता-पिता को भी फँसाते हैं*। अक्सर किसी बच्चे के किसी अपराध में लिप्त पाए जाने पर उसके माता-पिता कहते हैं, "हमने उसे पालने-पोसने में कोई कसर नहीं छोड़ी, उसे सही तरह से बड़ा किया, उसे शैतानियों से दूर रखा, उसके सामने एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। हमें पता ही नहीं कि गड़बड़ कहाँ हुई।"

बच्चे होना और उन्हें पालना एक भारी बोझ इसलिए बनता है क्योंकि हम उन्हें एक खास नज़रिए या विश्वास से देखते हैं। 9 सितम्बर 1973 को रविवार के दिन *न्यू यॉर्क टाइम्स* में छपा एक व्यावसायिक विज्ञापन इस नज़रिए को स्पष्ट

करता है। विज्ञापन इस दृष्टिकोण का शोषण भी करता है। विज्ञापन में ऊपर की ओर एक चित्र है। ज़ाहिर है यह चित्र एक नन्ही-सी, प्यारी, सुनहरे बालों वाली बच्ची का है, जो कुछ सोचती-सी, गम्भीर-सी लगती है। विज्ञापन का शीर्षक हैः

प्रत्येक सामान्य बच्चा उत्कृष्ट कलाकृति या असफलता की सामग्री उपलब्ध करवाता है।

इसके आगे विज्ञापन बताता हैः

> अधिकतर बच्चों में जन्म से ही एक गहरा व सन्तोषजनक जीवन जीने की "प्राकृतिक" क्षमता होती है...पर कई बच्चे बड़े होने पर दुखी और कुंठित होते हैं। प्रत्येक बच्चे का भविष्य उसके माता-पिता के हाथों में है। कूँची आपके हाथों में है! आप क्या चाहते हैं - उत्कृष्ट कलाकृति या असफलता?
>
> आप श्रेष्ठ सामग्री से प्रारम्भ करते हैं, एक स्वस्थ शिशु, जिसे मनचाहा रूप दिया जा सके...
>
> अपने असन्दिग्ध प्रेम और नेकनीयत के बावजूद माता-पिताओं में अक्सर वे कौशल नहीं होते जो दुनिया के सबसे बड़े काम के लिए आवश्यक हैं। यह काम है...सुप्रबन्धित परिवार तथा कुशल पालकों का जीवन जीते हुए उत्पादक युवा जीवन गढ़ना...
>
> आपका पारिवारिक वातावरण ही आपके बच्चे को एक उत्कृष्ट कलाकृति का रूप दे सकता है या फिर एक घटिया नकल का...

यह भावना बड़ी बलवती है कि आपका बच्चा जो कुछ करता है या आप उसे जो कुछ करने देते हैं, उसके आधार पर लोग आपके बारे में राय बनाते हैं। एक दृश्य प्रस्तुत करता हूँ। इसे मैंने देखा है। माँ अपने बच्चे के साथ किसी सार्वजनिक स्थान पर है। शायद किसी सुपरमार्केट में। वह व्यस्त है। ध्यान कहीं और है। बच्चा खुशी से स्वतंत्र घूम रहा है। नुकसान पहुँचाए बगैर चीज़ों को देखते-छूते हुए वह मज़ा ले रहा है। अचानक माँ देखती है कि कोई वयस्क उसके बच्चे को घूर रहा है। वह तत्काल सत्ता का बाना ओढ़ लेती है। बच्चे से कहती है, "इधर आओ। यूँ दौड़ना बन्द करो। न जाने कितनी बार मना किया है कि चीज़ें छुई नहीं जाती हैं।" सम्भव है कि वह उसका हाथ भी झटके। दूसरे देशों में भी यह हमेशा होता है। लेलिया बर्ग अपनी मार्मिक पुस्तक *लुक एट किड्स* में कहती हैं कि वयस्क उन बच्चों को कुपित या घृणादृष्टि से देखते हैं जो लन्दन की बसों या सार्वजनिक स्थानों पर कुछ गलत या नुकसान किए

बिना मज़ा करते दिखते हैं। और तो और वे अपनी नाराज़गी को शब्दों में भी अभिव्यक्त करते हैं। अपने बच्चों के लिए साहसिक या रचनात्मक खेल मैदान बनाने वाले ब्रिटेनवासी यह भी समझते हैं कि ये मैदान ऐसी दीवारों से घिरे होने चाहिए जिसके अन्दर कोई न झाँक सके। ये दीवारें बच्चों को केवल निजता या स्वामित्व का भाव देने के लिए नहीं होतीं। बल्कि इसलिए भी होती हैं कि बच्चों को मस्ती करते देखने से वयस्कों में इतना आक्रोश जन्मता है कि उस खेल मैदान का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

हमारे स्कूलों में यह भय, तिरस्कार, यहाँ तक कि घृणा सबसे अधिक तीव्रता से प्रकट होती है। अब कई लोग यह जानते हैं कि *फॉर्च्यून* पत्रिका के वर्षों तक सम्पादक रहे डॉ. चार्ल्स सिल्बरमैन को कारनेगी फाउण्डेशन ने अमरीका के पब्लिक स्कूलों का विस्तृत अध्ययन करने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। उन्होंने और दूसरे कई शोधकर्ताओं ने इस अध्ययन में जो पाया वह *क्राइसिस इन द क्लासरूम* नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया गया। इसी पुस्तक में वे एक जगह लिखते हैं:

> किसी भी पब्लिक स्कूल की कक्षा में एक अर्से तक लगातार समय बिताने के बाद यह असम्भव है कि आप हर ओर नज़र आने वाले विनाश से भयभीत हुए बिना रह सकें। सहजता, सीखने का आनन्द, रचने का सुख, अस्मिता का भाव, सब कुछ तो वहाँ भंग किया जाता है...। क्योंकि वयस्क स्कूलों के अस्तित्व को इस कदर मानकर चलते हैं कि उन्हें पता तक नहीं चलता कि अधिकांश अमरीकी स्कूल निष्ठुर और आनन्दहीन हैं (दूसरे देशों में भी कमोबेश यही स्थिति है)। जिन नियमों द्वारा ये स्कूल चलाए जाते हैं वे कितने दमनकारी व ओछे हैं। शालाओं के वातावरण में न तो बौद्धिक उत्तेजना है, न ही सौन्दर्यबोध। शिक्षक व प्रधानाध्यापक कितने शिष्टाचारहीन हैं और छात्रों के प्रति उनके मन में कितना तिरस्कार है।

कठोर शब्द हैं ये। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि चार्ल्स सिल्बरमैन न तो राजनैतिक क्रान्तिकारी हैं, न "रूमानी" विचारों वाले व्यक्ति। वे बच्चों को लेकर भावावेग में भी नहीं बहते। उन्होंने जो कुछ देखा वह हर उस व्यक्ति को नज़र आएगा जो हमारी शालाओं का गहराई से अध्ययन करता है। उन्होंने यह भी सोचा था कि सम्भवतः हमारे स्कूल बेहतर बनने की कगार पर हैं। और सच में कुछ बेहतर स्कूल हैं भी। हम अखबारों में पढ़ते हैं कि कई स्कूलों में कुछ परिवर्तन लाए जा रहे हैं। ऐसे परिवर्तन जो मानवीय और रोचक हैं। दूसरी ओर कई स्कूल बड़े खराब भी हैं। हम ऐसे स्कूलों के बारे में अखबारों में नहीं पढ़ते

जैसे स्कूलों का उल्लेख डेनियल फेडर ने *द नेकेड चिल्ड्रन* में किया है। यहाँ सकारात्मक परिवर्तन लाए गए, जिन्हें बाद में छोड़ दिया गया। ज़्यादातर स्कूलों में कुछ भी नहीं बदला है। यह सच है कि पाठ्यपुस्तकें और शिक्षण सामग्री नई है। कई स्थानों पर नए भवन भी बन गए हैं। परन्तु स्कूल की समग्र आत्मा जस की तस बनी रही है। इसलिए कि जनता चाहती भी यही है। इस विषय पर मेरे द्वारा देखी मतगणनाओं से पता चलता है कि लोग चाहते हैं कि स्कूल और भी कठोर, डरावने और सज़ा देने वाले बनें।

अर्थात् दीवारों से घिरा बाग कई बार कई लोगों के लिए बाहरी दुनिया से बेहतर नहीं बन जाता, बल्कि उससे खराब ही हो जाता है। यहाँ तक कि उससे भी अधिक स्पर्धा, तिरस्कार और क्रूरता से भरा।

"उन्हें अन्ततः वास्तविकता को जानना ही है। बाहरी दुनिया की सच्चाई से परिचित भी होना है। तो यह जितनी जल्दी हो सके हो जाना चाहिए।" यह कहना है बाग के रखवालों का। पर अगर हमारा सरोकार बच्चों को दुनिया के जोखिम से सुरक्षित रखने के बदले उन्हें सिखाने का है, तो फिर क्या उन्हें बाग से बाहर निकलने देने में समझदारी नहीं? जहाँ वे खुद ही देख व सीख सकें।

8. बाल्यावस्था का एक उपयोग

बच्चे और बाल्यावस्था की संस्था, एक भारी बोझ और एक बड़ा सिरदर्द होने के बावजूद, कुछ महत्वपूर्ण मायनों में उपयोगी भी हैं। यह सच है कि बच्चे अब परिवार के कामों में खास हाथ नहीं बँटा पाते हैं, न ही पारिवारिक आय में कोई योगदान देते हैं। फिर भी वे कुछ समय तक परिवार के वयस्कों को कुछ ऐसा देते हैं, जिसकी वयस्कों को बेहद ज़रूरत होती है। बच्चे वयस्कों को कुछ समय के लिए ही सही, एक ऐसा व्यक्ति उपलब्ध करवाते हैं जिस पर वे हुक्म चला सकें जिसकी वे "मदद" कर सकें और जिसे प्यार-दुलार दे सकें।

बच्चे यह बेहद महत्वपूर्ण कार्य एक लम्बे समय से करते आए हैं। उसी समय से जब से लोगों ने ऐसे समाजों का गठन किया जहाँ कुछ लोग दूसरों पर हुक्म चलाते थे। चाहे वह कितने ही निचले तबके का या सत्ताहीन क्यों न हो, प्रत्येक वयस्क माता या पिता के पास कम से कम एक ऐसा व्यक्ति उसकी सन्तति के रूप में उपलब्ध था जिस पर वह निःसंकोच हुक्म चला सके, जिसे धमका सके, जिसे सज़ा दे सके। कोई भी व्यक्ति इतना गरीब न था, गुलाम तक नहीं, जिसके पास चन्द अदद व्यक्तिगत गुलाम न हों। आज जब अधिकांश "आज़ाद" लोग स्वयं को गुलाम-सा ही महसूस करते हैं, ये घरेलू उपज के गुलाम बड़े सन्तोषजनक सिद्ध होते हैं। कई तो उनके बिना जी ही नहीं सकते।

अभी उस रोज़ मैंने भूमिगत रेलमार्ग में वह लघु-नाटिका देखी। विगत वर्षों में इसका मंचन मैं कई बार देख चुका हूँ। एक व्यक्ति अपने आठेक साल के बेटे के साथ हमारे डिब्बे में घुसा। बैठने की तमाम सीटें खाली थीं। पर उस व्यक्ति ने खड़े रहना पसन्द किया। लेकिन वह चाहता था कि लड़का बैठ जाए। बेटे को देखे बिना, यहाँ तक कि उसकी ओर रुख किए बगैर, उसने भावहीन स्वर में, धीमे से कहा, "बैठो!" हुक्म ठोंकने के साथ उसने अपना एक हाथ नीचे की ओर झटका। मानो अपने कुत्ते को आदेश दे रहा हो। मैंने तो अपने कुत्तों से भी इस स्वर में बात करते कम ही लोगों को सुना है। लड़का तुरन्त बैठ गया। पिता के स्वर में और उसके हाथ के झटके में छिपे क्रोध और हिंसा से देखने वाला कोई भी अचेता नहीं रह सकता था।

बड़े होने के दौर में एक समय वह भी आता है जब बच्चे इस बात के प्रति सचेत हो जाते हैं कि अधिकांश समय उनके माता-पिता उनसे कुछ इस प्रकार बोलते

हैं जैसे वे दुनिया में किसी दूसरे से बोलने की ज़ुर्रत तक नहीं कर सकते। इस पर हम वयस्कों का स्पष्टीकरण होता है - ऐसा हम बच्चों की भलाई के लिए ही करते हैं। यह हम सिर्फ इसलिए कर रहे हैं क्योंकि हम उनसे प्यार करते हैं। अपने से छोटों पर अपनी सत्ता व शक्ति का इस्तेमाल करते वक्त हम हर बार ठीक यही बात कहते हैं। "इस पिटाई का दर्द तुमसे अधिक मुझे होगा" - सज़ा देने वाले पिता का यह जुमला दुनिया का शायद सबसे पुराना झूठ है।

मेरी एक मित्र ने बताया कि उसने टी.वी. पर एक हास्य कार्यक्रम देखा। इसमें बच्चों के प्रति दर्शाए जाने वाले माता-पिता के ऐसे व्यवहार का मखौल उड़ाया गया था जो वे किसी वयस्क के साथ कभी न करें। नाटक में एक परिवार एक दम्पत्ति को खाने पर आमंत्रित करता है। और मेहमानों से ठीक वैसे ही पेश आता है जैसे अपने बच्चों से। चकित मेहमानों से कहा जाता है, "मेरी पसन्दीदा कुर्सी से फौरन उठो! मैं दिनभर मेहनत करने के बाद घर लौटूँ तो क्या मुझे मेरी चहेती कुर्सी तक बैठने को नहीं मिलेगी?" और "खाने से पहले अपने हाथ धोने की बात कितनी बार कहनी पड़ेगी?" और ऐसी ही तमाम दूसरी बातें जो हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अपने बच्चों से कहते हैं।

घरों को अक्सर ऐसी जगह के रूप में वर्णित किया जाता है जहाँ हम दूसरी जगहों से अधिक स्नेह और प्रेम करने को आज़ाद हैं। और ऐसा करने की हिम्मत कर सकते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि कम से कम हमारे बच्चों के लिए तो घर एक ऐसा स्थान बन जाता है जहाँ हम उन पर किसी दूसरे स्थान की तुलना में अधिक कठोरता, निर्दयता, तिरस्कार और अपमान उड़ेलते हैं। और यूँ बच्चों का यह तथाकथित आश्रयस्थल एक ऐसी खतरनाक जगह में तब्दील हो जाता है जहाँ उन्हें तमाम कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। और यह सब उन लोगों से मिलता है जिनके सहयोग और सुरक्षा पर बच्चे सबसे अधिक निर्भर हैं।

9. "मदद" और "मददगार"

लगभग साल भर पहले मुझे किसी ने सहायकों और सहायता के बारे में एक भारी सच बताया - "मददगार हाथों का फिर से हमला!"

पहले पहल इसे सुनकर कई लोग चौंककर हँस पड़ते हैं। फिर ठिठककर पीछे हटते हुए कहते हैं, रुको ज़रा, एक पल के लिए। दरअसल देखा जाए तो जिन्हें मदद चाहिए उनकी मदद करने के विचार में कोई बुराई भी नहीं है। गड्ढे में गिरे यात्री की मदद करने वाला परोपकारी जन हमारी संस्कृति का एक महानायक है। हमें ऐसे ही लोगों की ज़रूरत है। और ऐसा मानने के बड़े वाजिब कारण भी हैं। यात्री के ठीक और स्वस्थ हो जाने पर परोपकारी जन ने उसे जाने दिया। उसने यात्री से यह नहीं कहा कि यात्रा खतरनाक है, या यह कि यात्री अपनी देखभाल स्वयं नहीं कर सकेगा। उसने स्वयं को यात्री का स्थाई संरक्षक नहीं बना डाला। न ही उसने सभी यात्रियों के संरक्षण को अपना पेशा बना दिया। उसने सहायता की क्योंकि उसकी नज़रों के सामने एक ऐसा व्यक्ति था जिसे उस पल सहायता की ज़रूरत थी। अन्यथा उसके पास दूसरे ढेरों काम थे।

यह समझना ज़रूरी है कि सहायता देने का यह नेक विचार किस प्रकार इतना विकृत हो गया है और एक विनाशकारी शोषण में बदल गया है, मदद का यह नितान्त मानवीय कृत्य एक वस्तु, एक उद्योग और एक एकाधिकार में कैसे बदल गया है। मुझे यह सोचकर ही उलझन होती है कि कोई व्यक्ति बिना किसी दूसरे के अनुरोध या आमंत्रण के इसे अपने जीवन का काम बना डालता है और ताउम्र उसका सहायक या संरक्षक बन जाता है। स्वयं को दूसरों के सहायक के रूप में परिभाषित करने वाले को एक समस्या आती है। समस्या यह है कि अगर उसने सावधानी नहीं बरती हो तो वह मदद पाने वालों को ऐसे लोगों के रूप में परिभाषित करेगा *जो उसकी मदद के बिना काम चला ही नहीं सकते*। सम्भव है वह उन्हें यह कहे भी, या यह जताने की भारी कोशिश करे, या फिर बिना कुछ कहे ही यह मानता रहे। सम्भव यह भी है कि वह जानता ही न हो कि उसके मन में यह विचार है। स्थिति कोई भी हो पर परिणाम एक समान होगा। वह जिनकी मदद करता है, उनके साथ उसके

व्यवहार से और अपने काम के बारे में उसके द्वारा कही (या कहने से बची) बातों से मदद पाने वालों को यह विश्वास हो जाता है कि वे लोग दरअसल उसकी सहायता पर निर्भर हैं।

जिस के जीवन का मुख्य काम दूसरों की सहायता करना है, उसे ऐसे लोगों की ज़रूरत होती है जिन्हें हमेशा उसकी मदद की ज़रूरत हो। अर्थात् सहायक दूसरों की निरूपायता पर निर्भर है। इसी निरूपायता के कारण वह फलता-फूलता है। वह अपने लिए ज़रूरी इस निरूपायता को पैदा करता है। शिक्षण, मनोचिकित्सा, मनोविज्ञान, सामाजिक कार्य जैसे सहायता करने वाले पेशों की एक दिक्कत है। ये पेशे ऐसे लोगों को आकर्षित करते हैं जो खुदा बनने की इच्छा रखते हैं। ऐसे कुछ (या शायद ज़्यादातर) लोग एक दयालु व परोपकारी खुदा की भूमिका अदा करना चाहते हैं। पर कुछ दूसरे शायद अनजाने ही एक कठोर व क्रूर खुदा की भूमिका चाहते हैं। ताकि वे दूसरों की चमड़ी पर वह भड़ास निकाल सकें जो पहले के किसी खुदा ने उनकी चमड़ी पर निकाली थी। दोनों ही स्थितियों में नतीजा एक ही रहता है। क्योंकि कोई व्यक्ति खुदा तब ही, बन सकता है जब वह दूसरों को अपनी कठपुतलियों में बदल डाले। और जैसा पूर्ववर्ती ईसाई बखूबी समझते थे, किसी खुदा को शैतान में परिवर्तित होने में अधिक कुण्ठा की ज़रूरत भी नहीं होती।

हम पाते हैं कि यह चक्र अपने आप को बार-बार दोहराता है। सहायक शुरूआत में किसी से कहता है, "चलो, मुझे तुम्हारे लिए यह करने दो। मैं इस बारे में ज़्यादा जानता हूँ, सो तुमसे बेहतर तरीके से इस काम को कर सकता हूँ।" कुछ समय बाद सहायक कहता है, "यह मत करो। तुम इसे ठीक से कर नहीं पाओगे।" पर इसके बाद जल्दी ही कहता है, "मैं तुम्हें यह करने की कोशिश तक नहीं करने दूँगा, क्योंकि तुम गलती करोगे, खुद को या किसी दूसरे को चोट पहुँचा दोगे।" इस मदद को लेने से मना करने का पहले पहल मतलब होता है कृतघ्नता या बेवकूफी भरी भूल। जल्द ही यह एक पाप और एक अपराध में बदल जाती है।

कोई भी व्यक्ति असल में इतना असहाय या पूर्ण रूप से इतना पीड़ित नहीं होता जितना वह व्यक्ति होता है जो अपने संरक्षकों का न तो स्वयं चयन कर सके, न उन्हें बदल सके या उनसे बचकर भाग सके। उदाहरण के लिए यहाँ एक "संरक्षण" संस्था में जीवन का वर्णन प्रस्तुत है। यह मन्दबुद्धि बच्चों के लिए "घर" है जिसे न्यू यॉर्क राज्य चलाता है। रॉबिन रीसिंग ने 28 दिसम्बर 1972 में *विलेज वॉयस* (न्यू यॉर्क सिटी) में एक आलेख लिखा था - "एनदर अनहैपी इयर एट विलोब्रुक"। उसका कुछ अंश उद्धृत हैः

साल भर पहले क्रिसमस पर डेविड (संस्था के एक मन्दबुद्धि बच्चे)

का मुँह, कान, छाती व कलाई जल गए थे। इस साल क्रिसमस पर वह पलटकर एक ऐसे वर्ष को देख रहा है जिसमें उसकी नाक टूटी (फ्रैक्चर के पूरे दो दिन बाद ही उसका एक्स-रे किया गया), एक उँगली टूटी और कम से कम छह बार सिर पर ऐसी गहरी चोटें आईं कि उन पर टाँके लगाने पड़े। जब डेविड दस साल का हुआ तो यह विमन्दित बालक स्वयं पाखाने जाना व पेशाब करना सीख चुका था, शिष्टता से खाना खाता था और माता-पिता से खुशी-खुशी बातें करता था। उसकी माँ ने बताया कि विलोब्रुक में दो वर्ष बिताने के बाद "वह अपना बिस्तर गन्दा कर देता है। मैं बता नहीं सकती कि वह कैसे खाता है। मुझे उसके पास बैठने तक से नफरत होने लगी है।" और "वह खुद से ही बातचीत करता है।"

पिछले सप्ताह...ज़िला न्यायाधीश ऑरिन जड के सम्मुख...एक पिता ने बताया कि जब वे एक सप्ताह अपने बेटे से मिलने गए तो उन्होंने पाया कि उसका चेहरा सूजा हुआ था और एक आँख बन्द थी। उन्होंने डॉक्टर से जाँच करवाने की माँग की। दूसरे सप्ताह फिर यही अनुरोध दोहराया और अन्ततः पत्र लिखा कि बेटे की जाँच करवाई जाए। अन्ततः चिकित्सक ने स्टीवी को जाँचा और आँख का ऑपरेशन किया। फिर पिता को बताया, "बहुत देर हो चुकी है।" स्टीवी की एक आँख जा चुकी थी।

एक माता ने अपनी बेटी के, एक के बाद एक, तमाम फोटो दिखाए। इनमें उसके माथे पर कटने, छिलने के निशान थे। आँखें चोट से काली थीं। होंठ सूजे हुए थे। एक अन्य माँ ने बताया कि उसकी बेटी को एकान्त में (एकल कारावास - यह प्रथा पंजीकृत करने वाली संस्था के नियमों के विरुद्ध है) सप्ताह दर सप्ताह, केवल पजामा-कुरते में, "पत्थर के ठण्डे फर्श पर" रखा गया। जब तक उसे निमोनिया न हो गया।

आवासियों के कुछ चित्रों में चाभियों के आकार वाले चोटों के निशान थे। विलोब्रुक में चिकित्सक के रूप में काम करने वाले बिल ब्रॉनस्टन ने बयान दिया कि उन्होंने आवासियों के शरीर पर चाभी के आकार के चोटों के निशान पाए। आवासियों के पास चाभियाँ नहीं होतीं। वे केवल कार्मिकों के पास ही रहती हैं...।

अपने पर लगे आरोपों के जवाब में राज्य ने कहा कि विलोब्रुक की स्थितियों का महकमा केन्द्रीय न्यायालय का नहीं है। और वहाँ उत्पन्न स्थितियाँ "क्रूर व असामान्य सज़ा" नहीं कही जा सकतीं

> क्योंकि वहाँ *आवासी स्वेच्छा से भेजे गए थे।* [वाक्यांश पर ज़ोर देने के लिए इटैलिक्स का उपयोग मेरे द्वारा किया गया है - होल्ट]

आलेख में ऐसे सवाल उठाए गए जो अनुत्तरित रहे। मन्दबुद्धि बच्चों की ऐसी भी निजी संस्थाएँ हैं जहाँ उनसे दुर्व्यवहार नहीं होता। उनकी अच्छी देखभाल होती है। मैं कुछ लोगों को जानता हूँ जिनके बच्चे उनमें दाखिल हैं। पर ये काफी महँगी सुविधाएँ हैं। ज़ाहिर है कि विलोब्रुक करों द्वारा चलाई जाने वाली अन्य सरकारी संस्थाओं की तरह है। ऐसे लोगों के बच्चों के लिए है जो पैसे वाले नहीं हैं। विचारणीय है कि अपने बच्चों के साथ किए जा रहे निष्ठुर दुर्व्यवहार के बावजूद ये लोग उन्हें ऐसी संस्थाओं से निकाल क्यों नहीं लेते। इस सवाल का जवाब सम्भवतः प्रत्येक परिवार के लिए भिन्न-भिन्न होगा। कई दृष्टान्तों में बच्चे को विशेष देखभाल दरकार होती है। दोनों के काम पर जाने की मजबूरी के कारण माता-पिता इसे नहीं दे पाते हैं। या फिर वे अपने "मन्दबुद्धि" बच्चों को सरकारी अनुदान पर निर्भर विलोब्रुक में इसलिए भेजते हैं क्योंकि बच्चों को वयस्कों के रास्ते में अटकने से रोकने की दूसरी संस्थाएँ अर्थात् स्कूल उन्हें दाखिला देने को तैयार ही नहीं होते। या सम्भवतः इसलिए क्योंकि किसी विशेषज्ञ ने उन्हें इस बात का विश्वास दिला दिया है कि विशिष्ट संस्थागत देखभाल ही उनके बच्चे के लिए सबसे अच्छा उपाय है। या इसलिए क्योंकि एक मन्दबुद्धि बच्चे को घर में रखने की शर्म और उसका तनाव उनसे सहा नहीं जाता, या वे सहना नहीं चाहते। बहरहाल कारण कुछ भी रहा हो वे सरकारी संस्था में बच्चे को दाखिल करने का निर्णय तकलीफदेह चिन्तन-मनन के बाद ही लेते हैं। उन्हें यह भी लगता है कि उनके पास दूसरा कोई विकल्प है ही नहीं। अतः उनकी कोशिश रहती है कि वे इन सरकारी संस्थाओं पर बच्चों के साथ उचित व्यवहार करने का दबाव डालते रहें। चूँकि सरकार वोटों से चलती है और बेहतर संस्थागत देखभाल के मुद्दे (जिसमें पैसा खर्च होता है) वोट से इतने जुड़े नहीं हैं, इसलिए लोगों के पास दूसरे विकल्प भी नहीं हैं।

जो लोग अपने संरक्षकों से बचकर भाग नहीं सकते उनका क्या हश्र होता है, यह देखने के लिए हमें केवल मन्दबुद्धि बच्चों की ओर नज़र डालने की ज़रूरत नहीं है। कुछ समय पहले मैंने एक महिला की कथा सुनी थी जिसकी माँ एक लम्बी व लाइलाज (पर अनन्त समय तक दवाओं के सहारे जीवन को टिकाने वाली) बीमारी से ग्रसित थी। उसने अपनी माँ को एक अस्पताल में दाखिल करवाया था और उनकी *देखभाल के लिए वह शुल्क देती थी।* बीमार और मृत्यु के निकट इस वृद्धा की भूख मर चुकी थी और वह अस्पताल द्वारा उपलब्ध करवाया जा रहा भोजन खा नहीं पाती थी। अस्पतालकर्मियों ने वृद्धा से कहा

कि उसे भोजन खाना ही होगा। जबकि वे बखूबी समझते थे कि वह कभी भी स्वस्थ होकर घर नहीं लौटेगी। उन्होंने नाक में लगी नलकी द्वारा वृद्धा को जबरन आहार देना प्रारम्भ किया। अपनी सुविधा के लिए वे नलकी को हमेशा नाक में लगे रहने देते थे। यह बात न केवल वृद्धा की गरिमा के विरुद्ध थी बल्कि उसके लिए कष्टदायक भी थी। जब भी सम्भव होता बीमार वृद्धा नलकी निकाल डालती। इससे नर्सों का काम बढ़ता था क्योंकि उन्हें हर बार आहार देते समय नलकी वापस डालनी पड़ती थी। यह सब उस वृद्धा के लिए किया जा रहा था जिसकी स्थिति को अगर "जीना" कहा भी जाए तो इसे कायम रखने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। अस्पतालकर्मियों ने अपनी तरफ से समस्या का समाधान खोज निकाला था। उन्होंने *वृद्धा के हाथ बिस्तर से बाँध दिए*। हमेशा के लिए! अपने जीवन के अन्तिम माह वृद्धा ने हर उस व्यक्ति के सामने *गिड़गिड़ाते हुए* बिताए जो उसकी बात सुनता कि उसके हाथ खोल दिए जाएँ। हम केवल यही प्रार्थना कर सकते हैं कि ईश्वर हमें ऐसे सहायकों और संरक्षकों से बचाए।

कुछ लोगों का कहना है कि यह आलोचना सामान्य रूप से सभी सहायक संस्थाओं के सन्दर्भ में नहीं की जा सकती। बल्कि यह केवल कुछ ही अमरीकी संस्थाओं के बारे में सच है। दूसरे देशों की सहायक संस्थाओं में असहाय लोगों को ऐसा निष्ठुर और क्रूर व्यवहार नहीं मिलता। वहाँ लोगों की सच में मदद की जाती है। उन्हें नुकसान नहीं पहुँचाया जाता। सम्भव है कि यह सच हो। रिपोर्टों को पढ़ने से यही लगता है कि कुछ यूरोपीय देशों में सामाजिक करुणा और सामाजिक न्याय की भावना हमसे कहीं अधिक है। शायद इसलिए कि वे छोटे देश हैं, अधिक एकरूप हैं और अधिक पुराने हैं। हो सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नात्सियों ने जो कहर ढाया उसे सबने झेला। इससे वे अपनी साझी अस्मिता और सरोकार के सूत्र में बँधे और स्वयं को एक ही परिवार (परिवार के श्रेष्ठतम अर्थ में) का सदस्य मानने लगे। परन्तु ऐसी भावना भी बड़ी नाज़ुक होती है। समय, लोभ और सामाजिक दबावों के सामने यह क्षीण पड़ जाती है।

अगर कभी भविष्य का दुःस्वप्न सच हो जाए तो वह होगा "व्यावसायिक सहायकों" (प्रोफेशनल हैल्पर्स) का आतंक। और लगता है कि वह समय आ ही रहा है जब ऐसे सहायकों के पास असीमित अधिकार और शक्तियाँ होंगी। और वे हम पर वह सब करेंगे या हमसे वह सब करवाएँगे जो वे (या कोई और) हमारे लिए सबसे अच्छा समझते होंगे। इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है कि रूस का पुलिस राज्य उन लोगों को "मानसिक चिकित्सालयों" में भेज देता है जो सरकारी कार्यप्रणाली का कड़ा और सार्वजनिक विरोध करते हैं। उनका तब तक

"इलाज" किया जाता है जब तक वे अपेक्षित व्यवहार न करने लगें। आश्चर्य इस बात में भी नहीं कि हमारे सूक्ष्म पुलिस राज्यों में, अर्थात् हमारे स्कूलों में, उन बच्चों पर रिटालिन जैसी कड़ी दवाओं का उपयोग अधिकाधिक होने लगा है जो स्कूली अनुशासनात्मक व्यवस्था में आसानी से फिट नहीं बैठते। मनोसक्रिय व खतरनाक दवाओं की अनिवार्यता की यह स्थिति रूसी पुलिस राज्य से भला कितनी दूर है? यह हम साफ-साफ समझ लें कि ऐसी दवाओं का इस्तेमाल अनिवार्यतः *हो रहा है* और वे वाकई *खतरनाक दवाएँ हैं*। ऐसे में वह दिन भी कितना दूर है जब बच्चों के मस्तिष्क में सूक्ष्म इलेक्ट्रॉड लगा दिए जाएँ जो सम्भवतः शिक्षिका या शिक्षक की मेज़ पर रखे ट्रांसमीटर से जुड़े हों, ताकि ज़रूरत पड़ने पर नन्हे विली को वे तत्काल ही सकारात्मक या नकारात्मक (अर्थात् दर्दनाक) प्रबलन (झटका) दे सकें। वैज्ञानिक इन सब पर काम कर रहे हैं।

इतिहास में जिन लोगों ने दूसरों पर बल प्रयोग किया है, उन्हें धमकियाँ दी हैं या नुकसान पहुँचाया है, उनमें कम ही इतने ईमानदार रहे हैं जिन्होंने वाकई यह देखा या कहा होगा, "मैं तुम पर यह कर रहा हूँ, या तुम्हें फलाँ-फलाँ करने को बाध्य कर रहा हूँ, तुम्हारी भलाई के लिए नहीं, *अपने* फायदे के लिए।" शेष तो सामान्यतः पूरी निष्ठा के साथ हमेशा दावा करते रहे हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसके उद्देश्य महान हैं। मध्ययुग में ईसाई धर्मपरीक्षक भी जब चीखते-चिल्लाते लोगों को खींचतान कर जलाते थे, तब वे भी यही मानते थे कि दरअसल वे इन लोगों को नारकीय ज्वाला से बचा रहे हैं। उदात्त उद्देश्य के चलते उन्हें वर्तमान इहलौकिक कष्ट का औचित्य स्वतः ही मिल जाता था। जहाँ कहीं भी उत्पीड़क काम करते हैं वे हमेशा किन्हीं ऊँचे आदर्शों के नाम पर ही उत्पीड़न करते हैं।

जब भी कोई हमसे कहे कि "मैं यह तुम्हारी मदद के लिए कर रहा हूँ" तो हम विश्वास नहीं कर सकते कि जो कुछ वह व्यक्ति कर रहा है वह वास्तव में अच्छा ही होगा। वह जो करता है वह बहुत बुरा भी हो सकता है। नेकनीयत *अपने आप में* उसके कृत्य को न तो माफ कर सकती है, और न ही उसका औचित्य सिद्ध कर सकती है। सहायता के किसी भी कृत्य को उसी के आधार पर जाँचना होगा। यह प्रमाणित करने की ज़िम्मेदारी भी सहायक की ही होगी कि उसके द्वारा की जा रही मदद वास्तविक अर्थ में मदद ही है।

पर सिर्फ इतना ही काफी नहीं है। हमारे पास यह सुनिश्चित करने का भी कोई उपाय नहीं है कि अनिवार्य सहायक हमेशा ही दयालु, कुशल और निःस्वार्थ होगा। या उसकी मदद से सच में व्यक्ति को राहत मिलेगी और वह मदद आगे चलकर शोषण, आधिपत्य या यंत्रणा में नहीं बदल जाएगी। ऐसी स्थितियों से

बचने का एकमात्र रास्ता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वयं तय करने का अधिकार दिया जाए कि उसे मदद चाहिए या नहीं, कब मदद चाहिए, किससे चाहिए, कितने समय के लिए चाहिए और किस तरह की चाहिए।

ज़ाहिर है कि हरेक सहायक सम्भावित तानाशाह नहीं होता - पर यह सम्भावना ही उन्हें खतरनाक बनाती है। अक्सर सहायक वे ही व्यक्ति होते हैं जिन्हें यह डर सताता रहता है कि दूसरे लोग गलतियाँ करेंगे। पर वे बोलते कुछ यूँ हैं मानो वे पर्याप्त विशेष ज्ञान के सहारे ऐसे रास्ते तलाश लेंगे जिससे लोगों को गलतियाँ करने से बचाया जा सकेगा। वे यह मानकर चलते हैं कि अगर हमारे पास ऐसी शक्ति है तो हमें उसके उपयोग का अधिकार भी है। बल्कि यूँ कहें कि उसका उपयोग हमारा फर्ज़ ही है। बैठकों में अक्सर वे मुझ पर आक्षेप लगाते हैं कि मैं मानता हूँ कि अगर "मदद" न की जाए तो कोई कभी गलती ही न करे या यह कि गलतियाँ होती हैं या नहीं इस बात से मेरा कोई सरोकार ही नहीं है। ये दोनों ही आरोप सच नहीं हैं। ज़्यादातर लोग अपनी जीवनयात्रा में कई-कई गलतियाँ करेंगे ही। मैं इस बात को पूरी शिद्दत से कहता हूँ कि उन्हें गलतियाँ करने का अधिकार है। मेरा विश्वास है कि अगर लोग सच में चयन कर सकें और उनके सामने विकल्प हों तो वे अपने जीवन को दूसरों से कहीं बेहतर तरीके से संचालित कर सकते हैं। उन दूसरों से जो चाहे कितने ही बड़े विशेषज्ञ क्यों न हों। और अगर व्यक्ति गलतियाँ करे और फिर उसमें कैद होकर न रह जाए, तो वह दूसरों से पहले उन भूलों को पहचानने लगेगा और अपने तौर-तरीके बदल लेगा।

हमें यह अहसास करना होगा कि दूसरे व्यक्ति के जीवन पर हमारी शक्ति बेहद सीमित होती है। पर जिन्हें हम सच में प्यार करते हैं, उनके सन्दर्भ में यह बात समझ पाना बड़ा कठिन होता है। और अगर हम इस सँकरी सीमा को लांघकर अपना नियंत्रण बढ़ाते हैं तो हम उससे स्वयं के जीवन को नियंत्रित करने की ताकत ही छीन लेते हैं। किसी को उसकी गलतियों से पूरी तरह संरक्षित करने का और जीवन की अनिश्चितताओं से पूरी तरह बचाने का एकमात्र रास्ता है उसे गुलाम बना डालना। पर ध्यान रहे कि तब वह *हमारी* मनमर्ज़ी, *हमारी* कमज़ोरियों के समक्ष भी पूरी तरह निरुपाय हो जाएगा। ज़्यादातर लोग अपनी दुनिया में आए मौकों को खुद आज़माना चाहेंगे। और उन्हें चुनाव का यह अधिकार है।

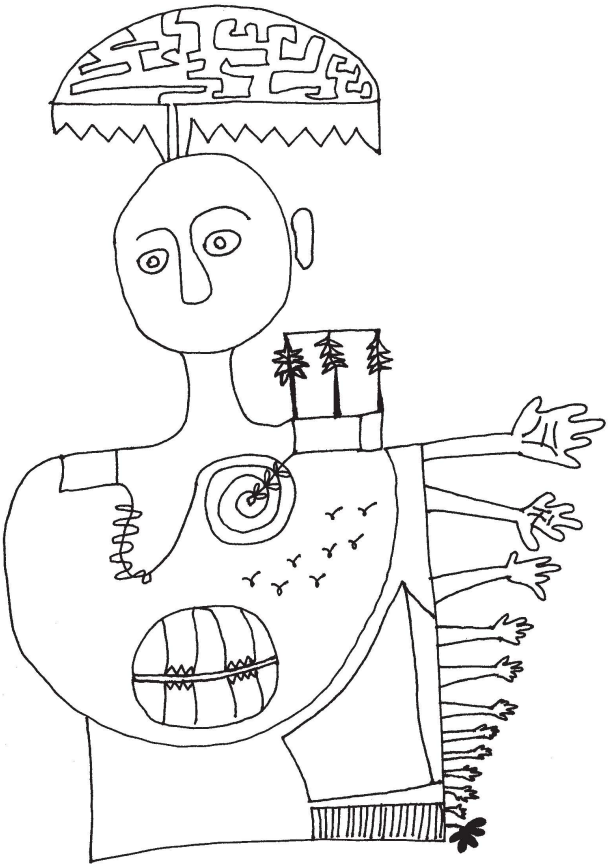

10. बच्चों की क्षमताएँ

कुछ समय पहले बॉस्टन लौटने के लिए मैं हवाई अड्डे पर था। मैंने अपने से कुछ आगे एक माँ-बेटे को भी उसी दिशा में बढ़ते देखा जिस ओर मैं बढ़ रहा था। बच्चा पीले रंग का एक फूला-सा स्नोसूट पहने था। उसके आकार और चालढाल से उसकी उम्र कोई डेढ़-दो साल की लग रही थी। माँ उसका हाथ थामे थी और वह ढिठाई से हाथ छुड़ाने की निरर्थक कोशिश कर रहा था। वह अपनी कलाई घुमाकर और कन्धे उचकाकर माँ की गिरफ्त से छूटने की कोशिश कर रहा था। ज़ाहिर था कि वह स्वयं अपने बलबूते पर उस दूरी को तय करना चाहता था।

सम्भव है उसकी माँ महज़ आदतन ही उसका हाथ थामे रही हो। मैंने सोचा कि अगर मैं माँ के दिमाग में यह विचार डाल दूँ कि "क्यों न मैं बेटे का हाथ छोड़ दूँ। ज़ाहिर है वह यही चाहता है। उसे खुद-ब-खुद क्यों न चलने दूँ?" शायद तब वह इसे आज़माए। पर माँ की गिरफ्त की मज़बूती से लग रहा था कि वह शायद यही सोचती या कहती कि "मैं बच्चे का हाथ कैसे छोड़ सकती हूँ। वह तो अभी दो साल का भी नहीं है। अगर मैं उसे छोड़ती हूँ, तो वह शायद भागेगा। किसी से टकराकर गिरेगा। परेशानी में फँसेगा या चोट खा लेगा। ज़रूर कोई पागलपन या बेवकूफी भरी खतरनाक हरकत करेगा। मैं ऐसा करने की हिम्मत ही नहीं कर सकती।" सच है कि इनमें से कुछ हो भी सकता था। पर इसकी सम्भावना कम ही थी। सम्भव है बच्चा उस कतार में दूसरे लोगों की ही तरह, सिर्फ अपनी माँ के पास-पास चलना चाहता हो। यह आज़माकर देखना आसान था कि बच्चे की मंशा क्या है। अगर बच्चा दूर जाने लगता तो माँ दो-चार डगों में उस तक पहुँच भी जाती। निश्चय ही यह एक छोटी-सी ही बात थी। पर बच्चे को स्वतंत्र होने का, भरोसेमन्द महसूस करवाने का, दूसरों की तरह ऐसा कुछ करने देने का जो वे सब कर रहे थे एक मौका खो दिया गया।

एक दूसरे हवाई अड्डे पर, एक अन्य समय फिर मैंने एक अभिभावक व उसके बच्चे को देखा। इस बार एक पिता और उसका लगभग उतना ही बड़ा बच्चा था। बच्चा घूम-घामकर जगह देखना चाहता था। वह पिता समझदार और दयालु रहा होगा। उसने बच्चे को ऐसा करने दिया। बच्चा प्रतीक्षालय और

उसके गलियारे में घूमने लगा। पिता उसके पीछे चल दिया। पर उसने इतनी दूरी बनाए रखी कि बच्चे को यह न लगे कि उसका पीछा किया जा रहा है या उसे धर-पकड़ने की तैयारी है (अमूमन ठीक इसी कारण छोटे बच्चे भागना *चाहने* लगते हैं)। पर पिता इतनी ही दूर था कि अगर बच्चा किसी खतरनाक चीज़ के पास पहुँचता तो वह उसे किसी दुर्घटना से पहले बचा सकता था। और पिता इतने पास ज़रूर था कि अपनी छानबीन के दौरान अगर बच्चा अचानक यह सोचता कि "डैडी भला कहाँ है?" और आसपास नज़र दौड़ाता तो उसे पिता का परिचित चेहरा झट से दिख जाता। यह निगहबानी बेहद सलीकेदार और संवेदनशील थी। वह बच्चा अपनी मौज में इधर-उधर घूमता रहा जब तक कि थक न गया और उसे विश्राम की इच्छा न होने लगी। इस पूरे दौरान बच्चा बहुत दूर तक गया भी नहीं था। क्योंकि छोटे बच्चे साहसी होने के साथ-साथ कुछ भीरू भी होते हैं।

सामान लेते समय भी ऐसा ही एक दृश्य नज़र आया। एक नौजवान माँ अपने दो बच्चों के साथ थी। लगभग छह-सात साल का लड़का और करीब चार-पॉच साल की लड़की। कन्वेयर बेल्ट (एक स्वचालित पट्टी जिस पर कतार में रखा सामान धीरे-धीरे घूमता रहता है। सामने आने पर यात्री अपना सामान उठा सकते हैं।) घूमने लगा था, यद्यपि सामान उस पर अब तक नहीं था। बच्चों को इसने आकर्षित किया। वे पास आए और दीवार में बने उस छेद को देखने लगे जिससे सामान निकलने वाला था। उनकी जिज्ञासा और आतुरता से लगा कि उन्होंने ऐसा कुछ पहले नहीं देखा होगा। वे वहाँ पहुँचे भी न थे कि माँ की चिढ़ी-सी आवाज़ सुनाई दी, "अरे, दूर रहना, उसे छूना मत, खबरदार!" बच्चों ने उसे छूने की कोशिश भी नहीं की थी। वे तो बस देखना चाहते थे। छेद में से निकलते बैग को निहारना चाहते थे। पर सामान लेने वाले यात्रियों की तरह अगर वे आगे न बढ़ते तो उन्हें कुछ नज़र भी नहीं आता। उनकी जिज्ञासा इतनी गहरी थी कि वे आगे बढ़ते रहे। बड़े लोगों के बीच से झाँककर उस उत्तेजक रहस्य को देखने की कोशिश में जुटे रहे। उनकी माँ बीच-बीच में कुढ़ी-सी आवाज़ में उन्हें हाँक लगाती रही। उन्हें पीछे हटने का, कुछ न छूने का (जो वे कर भी नहीं रहे थे), माँ के पास लौट आने का (जहाँ से उन्हें कुछ भी नज़र न आता) आदेश देती रही। यह गुपचुप-सी तनातनी तब तक चलती रही जब तक मेरा सामान न आ गया, और मैं उसे ले खिसक नहीं लिया।

मैं यह कहानी माँ पर दोषारोपण के लिए नहीं सुना रहा। सम्भव है वह कई तरह की दुश्चिन्ताओं के दबाव में रही हो। हो सकता है कि बच्चों ने कुछ पहले उसे अपनी हरकतों से बड़ा सताया हो, या वे किसी उलझन या खतरे में फँसते-फँसते बचे हों। पर बात यही है कि वयस्कों की दुश्चिन्ताएँ बच्चों पर क्या असर

डालती हैं? ये दुश्चिन्ताएँ बच्चों को उनके स्वयं के बारे में, उनके आसपास की दुनिया के बारे में, उनसे निपटने की बच्चों की क्षमता के बारे में क्या कहती हैं? साफ है हमारी दुश्चिन्ता बच्चों को कहती है कि 1. दुनिया बड़ी खतरनाक और दगाबाज़ है। इसके बारे में पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। 2. तुम इस दुनिया की परिस्थितियों से निपटने के काबिल नहीं हो। इसलिए तुम्हें हर तरह की उलझनों से बचाने के लिए मुझ पर पूरी तरह निर्भर रहना चाहिए।

शायद किसी दिन यह चिन्तित माँ, जो आज अपने बच्चों की जिज्ञासा को दबाने को इतनी आतुर है, उनकी पढ़ाई, स्कूल और शिक्षा-दीक्षा को लेकर भी फिक्र करेगी। वह सोचेगी कि उन्हें "कैसे उत्प्रेरित किया जाए", "उनमें जानने-सीखने की ललक कैसे जगाई जाए।" शायद वह किसी दिन उन वयस्कों से जा मिलेगी जो निराश हो कहते हैं, "मेरा बच्चा तो किसी भी चीज़ में रुचि लेता नहीं नज़र आता।" और शायद उस वक्त तक यह बात वास्तव में सच हो चुकी होगी। हालाँकि सम्भव यह भी है कि उसके बच्चे यह सीख चुके हों कि अगर किसी चीज़ को लेकर रुचि जगे, तो माँ से उसे छुपा लेना ही बेहतर है। सालों-साल बच्चों की जिज्ञासा पर घड़ों पानी उलीचने के, उसे नकारने की हर सम्भव कोशिश करने के बाद, उन्हें यह सिखाने के बाद कि जिज्ञासा को शंका या भय की नज़र से देखना चाहिए क्योंकि वह उन्हें किसी न किसी परेशानी में ही फँसाएगी, हम यह उम्मीद भी भला कैसे करते हैं कि वे बच्चे बाद में उत्साही और दक्ष शिक्षार्थी बनेंगे?

बाद में, अपनी एक व्याख्यान-यात्रा के दौरान मैं एक बुद्धिमान और कुशल महिला से मिला जो मुझे एक से दूसरी बैठक में ले जाने वाले वाहन की चालक थी। बातचीत के दौरान उसने अपनी नौ वर्षीय बिटिया के बारे में बताया जो खाना पकाना सीख चुकी थी और तरह-तरह की चीज़ें बनाती थी। वह तब तक कोई नई चीज़ नहीं खाती थी जब तक खुद उसे पका न ले। माँ ने उसके पाक-कौशल का कुछ बखान किया। फिर उसने जोड़ा, "पर हर बार जब वह कुछ पकाना शुरू करती है, मुझे डर लगता है कि कहीं वह जल न जाए। खुद को चोट न पहुँचा ले।" मैंने सोचा, हालाँकि कहा नहीं, कि "आपकी बेटी को खुद को बिना जलाए, कब तक खाना पकाना होगा ताकि आपको विश्वास हो सके वह खुद को जलाए बिना वास्तव में खाना पका सकती है? आपका विश्वास अर्जित करने के लिए उसे भला क्या करना होगा?"

हम बच्चों की क्षमताओं और क्षमतावान बनने की इच्छा दोनों को इस कदर और इतनी निरन्तरता के साथ कमतर आँकते हैं। कुछ साल पहले *एस्क्वायर* नामक पत्रिका ने एक पूरा अंक उन बच्चों पर निकाला था जिन्हें उसने "माइक्रो बॉपर" का नाम दिया था। यह संज्ञा उन बच्चों को दी गई थी जो "टीनी बॉपर"

(अर्थात् तेरह से उन्नीस साल के किशोर) से कम आयु के थे। इसमें बारह वर्ष से कम उम्र के बच्चों की कुशलता और क्षमताओं पर कई आलेख थे। एक आलेख में एक रेडियो स्टेशन का ज़िक्र था जिसका पूरा कामकाज बारह साल से कम उम्र के लोग सँभालते थे। यह एक स्थानीय स्कूल से जुड़ा था। उसका नियम यह था कि बारह वर्ष की सीमा पार कर लेने वाला बच्चा अपने से कम उम्र के लड़के-लड़कियों के लिए जगह बनाने के लिए हट जाता था। लेख के अनुसार इन बच्चों ने कई तरह की काफी स्तरीय कार्यक्रम सामग्रियाँ तैयार की थीं।

बच्चों और किशोरों को प्रशिक्षित करने का एक हिस्सा उन्हें बताने का होता है। पर एक ज़्यादा बड़ा हिस्सा इस बात का होता है कि हमारा उनके प्रति व्यवहार उन्हें खुद को गैर-ज़िम्मेदार, अकुशल, अज्ञानी, बेवकूफ और निकम्मा महसूस कराता है या नहीं। बाल्यावस्था क्या है, वह क्या करती है, और वह किसलिए है इसका सीधा सरोकार उपरोक्त व्यवहार से है। जिस समाज में बच्चों को लेकर ऐसी धारणाएँ प्रचलित न हों, वहाँ बच्चे व किशोर स्वयं को ऐसा नहीं मानेंगे।

एक मर्तबा न्यू यॉर्क नगर के डब्ल्यू.बी.ए.आई. रेडियो स्टेशन ने मेरा साक्षात्कार किया। मैंने बाल्यावस्था की संस्था और बच्चों व किशोरों की उन सम्भावनाओं व क्षमताओं का उल्लेख किया जिनका हम न तो उपयोग करते हैं न ही उन्हें स्वीकारते हैं। कार्यक्रम के दौरान कई फोन आए। समय सीमा में जितनों के उत्तर दिए जा सकें, उससे कहीं अधिक। रेडियो स्टेशन से निकलने से पहले एक व्यक्ति का फोन आया। वह काफी देर से फोन लगाने की लगातार कोशिश कर रहा था। स्टेशन वालों ने कहा कि वह मुझसे बात करना चाहता है। क्या मैं उससे फोन पर बात करूँगा? मेरे हाँ कहने पर उसने मुझे एक रोचक कहानी सुनाई। वह एक दन्त टैक्नीशियन था और न्यू यॉर्क के किसी दन्त चिकित्सालय की प्रयोगशाला का अध्यक्ष था। उसने अपने कार्यालय के लोगों को सालों से यह सिखा रखा था कि अगर कोई दस-ग्यारह साल का शख्स अपने माता या पिता के साथ आए तो उसे फौरन खबर की जाए। जब भी उसे ऐसी सूचना मिलती तो वह बाहर निकलता। उस बन्दे के पास जाकर कहता, "क्योंकि तुम्हारी माँ/पिता अपना इलाज करवा रहे हैं और तुम यूँ ही बैठी/बैठे हो, क्या तुम प्रयोगशाला देखना चाहोगी/चाहोगे?" लगभग हर बार वह लड़की/लड़का फौरन तैयार हो जाते। वह उन्हें प्रयोगशाला दिखाता। सभी तरह के कामों के बारे में बताता। अगर बच्चा रुचि लेता नज़र आता तो वह अगला सवाल करता, "मैं जो कर रहा हूँ, क्या उसमें तुम मेरी मदद करना चाहोगे?" और लगभग हमेशा ही उसे हाँ में जवाब मिलता। वह फौरन उसे काम में लगा देता।

मुख्य बिन्दु यह है कि हमेशा ही सच में कुछ ऐसा काम ज़रूर होता था जो वह बच्चा कर सकता था। मुझे यह बताने के बाद उस प्रयोगशाला अध्यक्ष ने कहा, "काश मैं ऐसे प्रखर, जिज्ञासु, तत्पर और तेज़ी से सीखने वाले लोगों को अपने सहायकों के रूप में नियुक्ति दे सकता जो इन दस वर्षीय बच्चों की तरह हों। जब तक वे उस उम्र में पहुँचकर मेरे पास आते हैं, जब कानून उन्हें काम करने की अनुमति देता है, तब तक उनकी ऊर्जा, जिज्ञासा, आत्मविश्वास और काम की इच्छा धुल-पुँछ चुकी होती है।"

एक बार नवीं कक्षा की एक छात्रा ने मेरे कार्यालय में सप्ताहभर के लिए मेरे दो सहकर्मियों के साथ काम किया। वे शहरी प्रशासन के विभिन्न विभागों से शहर के एक हिस्से में एक एडवेंचर पार्क या खेल मैदान बनवाने की अनुमति चाहते थे। छात्रा ने पत्र लिखे, फोन किए, विभिन्न सरकारी कार्यालयों में गई, दफ्तर के छोटे-मोटे काम किए, लोगों से बातचीत की, खूब काम किए जो बहुत उपयोगी साबित हुए। सप्ताह पूरा होने पर उसे वापस अपने स्कूल जाना शुरू करना था। उसने कुछ उदास होकर कहा कि उसे काम करने में बेहद मज़ा आया था, काश वह आगे भी यही कर सकती। यह सच था कि दफ्तर में उसके द्वारा किए कामों में आमतौर पर लोगों द्वारा किए जा रहे कामों की तुलना में कहीं अधिक विविधता और रोचकता थी। एक सच यह भी था कि उसने सभी काम बड़ी कुशलता से किए थे।

जे.एच.वैन डैन बर्ग एक सोलह वर्षीय किशोर के बारे में बताते हैं जिसे युद्ध के दौरान हॉलैण्ड के किसी इलाके में एक सैन्य टुकड़ी की कमान सँभालने को भेजा गया था। मुझे याद आता है कि नौ-सेना इतिहास पढ़ने के दौरान मैंने जाना कि क्रान्ति युद्ध के दौरान कई चौदह वर्षीय लड़के मध्यपोत अधिकारी बनाए गए थे। यह नौ सेना अधिकारियों का सबसे निचला स्तर है। कम से कम एक सोलह वर्षीय किशोर ने अपने युद्धपोत की कमान भी सँभाली थी। यह ज़िम्मेदारी साधारण लोगों द्वारा सँभाली जाने वाली ज़िम्मेदारियों से कहीं कठिन और बड़ी थी। एक नृशास्त्री हैं एडवर्ड हॉल। ये अब दक्षिण-पश्चिम में रहते हैं और वहाँ के इतिहास में बेहद रुचि लेते हैं। उन्होंने मुझे बताया कि लगभग सौ वर्ष पूर्व एक बड़ी मालगाड़ी मध्य अमरीका से न्यू मैक्सिको तक एक चौदह वर्षीय किशोर की देखरेख में पहुँची थी। इस घटना का लेखा-जोखा मौजूद है। डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन कम्पनी द्वारा 1955 में प्रकाशित *रिचर्ड तृतीय* में पॉल मरे केन्डॉल लिखते हैं : "...(महाराज) एड्वर्ड ने एक-एक धेला इकट्ठा किया और दक्षिणी इंग्लैण्ड के सभी बाईस देशों में अपने सन्देशवाहक भेजे। ...अमूमन प्रत्येक देश के लिए लगभग आधा दर्ज़न संदेशवाहक भेजे जाते थे। ...पर इस दृष्टान्त में ग्लाउसेस्टर के ड्यूक रिचर्ड को अकेले ही बाईस में से

नौ देशों से सम्पर्क करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई। ज़ाहिर है कि बारहवें वर्ष में रिचर्ड को उसके शासक भाई ने साम्राज्य के एक चौथाई हिस्से से सेना एकत्रित करने की आश्चर्यजनक ज़िम्मेदारी सुपुर्द की।"

हम जब भी पूर्व काल के बच्चों की तथाकथित समय-पूर्व परिपक्वता के बारे में पढ़ते हैं तो हमें संशय होता है। या फिर हम भयभीत हो जाते हैं। "समय-पूर्व परिपक्वता" या "समय-पूर्व परिपक्व" जैसे शब्द हमें बीमारियों के नाम जैसे लगते हैं। इनसे हमारे अन्दर बैठी यह भावना उजागर होती है कि अधिकांश बच्चे इतनी कम आयु में यह सब कर ही नहीं सकते। और जो बच्चा यह कर सका या जिसने यह किया वह किसी तरह का निराला बच्चा होगा। अधिकांश लोग बच्चों को लेकर इस कदर भावनात्मक होते हैं या उनका नज़रिया बच्चों को इस कदर दीनहीन मानने का होता है कि जब वे यह सुनते हैं कि कोई चार वर्ष का बच्चा लैटिन व ग्रीक बोल सकता है, तो वे एक विचित्र आशंका से भर उठते हैं। परन्तु दरअसल इसमें इतना विस्मयकारी कुछ है नहीं। आज के युग में भी नहीं। कई भाषाओं के सतत् सम्पर्क में रहने वाले बच्चे उन सभी भाषाओं को उतनी ही आसानी से बोलने लगते हैं जितनी आसानी से दूसरे बच्चे एक भाषा सीखते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में पढ़ाई करने के दौरान यूरोप के छोटे देशों से आए कई बारह वर्षीय लड़कों से मेरा परिचय हुआ। वे तीन या चार भाषाएँ धड़ल्ले से बोलते थे। और इस तथ्य पर कोई भी चकित नहीं होता था, क्योंकि अगर आप किसी छोटे देश के निवासी होते और इतनी यात्रा करते तो आप भी ठीक यही करते।

सम्भवतः संगीत ही वह क्षेत्र है जिसमें बाल-प्रतिभाओं की चर्चा सबसे अधिक होती है। पर वहाँ भी हमें यह खास पसन्द नहीं आती है। और हम मान लेते हैं कि बच्चे में कुछ गड़बड़ है। बच्चे पर दबाव डालकर उसे कुछ विचित्र बना डाला गया है। पर जापानी संगीतकार व शिक्षक सुजूकी ने दर्शाया हैः 1. छह, पाँच यहाँ तक कि चार साल के बच्चे आश्चर्यजनक दक्षता से वायलिन बजाना सीख सकते हैं। 2. यह काम बड़ी संख्या में "औसत" कहलाने वाले बच्चे भी कर पाते हैं; केवल वे चन्द बच्चे नहीं जो विलक्षण प्रतिभा के धनी हों। 3. बच्चे अपना पूरा जीवन वायलिन पर बलि चढ़ाए बिना, किसी स्थाई क्षति के बिना, बिना कुण्ठित हुए या "बिना बाल्यावस्था खोए" भी ऐसा कर पाते हैं। सुजूकी द्वारा प्रशिक्षित बच्चे अब तक कई बार अमरीका आ चुके हैं। हर बार उन्होंने अपनी दक्षता और संगीतमयता से लोगों को स्तम्भित किया है। जिस कार्यक्रम में मैंने उन्हें पहले-पहल सुना था, सुजूकी ने स्पष्ट किया था कि ये बच्चे प्रतिभा सम्पन्न संगीत छात्रों में से खासतौर से छाँटे गए बच्चे नहीं थे। उनकी खासियत इतनी भर थी कि उनके माता-पिता यात्रा का व्यय वहन कर सकते

थे और उनकी माँ उनके साथ यात्रा में जा सकती थी। पर जापान में ऐसे हज़ारों छात्र और थे जो उनकी ही तरह अच्छा बजा सकते थे। इसके अलावा मैंने उन बच्चों के लक्षणों से यह अन्दाज़ भी लगाया कि वे स्वस्थ, प्रसन्न और जीवन्त थे। वे किसी भी तरह सुज़ूकी से डरते नहीं लग रहे थे। यह भी साफ था कि वे जो कुछ कर रहे थे उसमें उन्हें बेहद मज़ा आ रहा था। वे जीवन, ऊर्जा और आनन्द से भरपूर थे।

मैं सुज़ूकी के वायलिन प्रशिक्षण की पैरवी नहीं कर रहा हूँ। बेशक वे एक शिक्षक के रूप में महत्वपूर्ण हैं। जैसा उन्होंने कहा कि एक दिन अचानक उन्हें अहसास हुआ कि अगर जापान का हर बच्चा जापानी भाषा बोलना सीख सकता है, तो फिर उनमें से अधिकांश में वायलिन बजाना सीखने की क्षमता भी ज़रूर होगी। (गौरतलब है कि जापानी भाषा सीखना एक बेहद कठिन काम है, क्योंकि उसमें पेचीदा समन्वयन की ज़रूरत पड़ती है।) पर वायलिन ही क्यों? आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि यह सुज़ूकी का वाद्य था। और अंशतः इसलिए कि बाँसुरी आदि जैसे वायुवाद्यों के विपरीत वायलिन को बच्चों के आकार के अनुसार छोटा बनाया जा सकता है। और अंशतः इसलिए कि काफी छोटे बच्चों में भी इसे बजाने की ताकत होती है। इसलिए भी कि तारवाद्यों में सही स्वर निकालना सम्भव है। इनमें छोटे-छोटे चरणों द्वारा सही स्वर तक पहुँचा जा सकता है, जो वायुवाद्यों या ढोल, ड्रम आदि में कठिन होता है। संक्षेप में, अगर हमारी मंशा सही हो और चीज़ें सीखी कैसे जाती हैं इसकी स्पष्ट समझ हो (हमें कुछ सिखाना चाहने वाले दूसरे लोग इस तरीके को अपनाते तक नहीं हैं) तो वायलिन (या दूसरे तार वाद्य) बजाना सीखना कठिन न होकर आसान ही होता है।

इसके विपरीत मैं एक दूसरे स्कूल की बात सोचता हूँ जो सम्भवतः ज़्यादातर अमरीकी पूर्व प्राथमिक शालाओं का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ चार-पाँच साल के बच्चे मिलजुलकर एक संगीत टोली बनाते हैं। इसे ताल-वाद्यवृंद (रिदम बैण्ड) का नाम दिया जाता है। इसमें बच्चे ढोल, घण्टियों, ताशे आदि के साथ ताल देते हैं और शिक्षक या शिक्षिका संगीत बजाती है। ये बच्चे और इनके ये शिक्षक मानकर चलते हैं कि ऐसा करते हुए वे अपनी क्षमता की चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं और हम सबको उन्हें सुनकर अचरज से भर जाना चाहिए। इस दौरान जापानी बच्चे, जिनमें इनसे अधिक नैसर्गिक संगीत क्षमता नहीं है, विवाल्डी, हैण्डल तथा बाख जैसे महान संगीतकारों द्वारा तैयार किए गए वायलिन संगीत को बजा पाते हैं।

मैं एन. आर्बर के बाल समुदाय (चिल्ड्रन्स् कम्यूनिटी) की यात्रा से लौट रहा था। उस समय यह समुदाय अपने उत्कर्ष पर था। मुझे डैट्रॉइट हवाई अड्डे पर

छोड़ने जाने का समय आया तो बिल आयर्स ने पूछा कि कितने बच्चे हमारे साथ हवाई अड्डे तक चलना चाहेंगे। पाँच बच्चे राज़ी हुए। उनकी उम्र पाँच साल से अधिक न थी। हम निकल पड़े। तीन पीछे बैठे, एक बिल और मेरे बीच में और एक मेरी गोदी में। रास्ते में स्थानीय रेडियो स्टेशन का संगीत बजता रहा। लोकप्रिय धुनें थीं - ब्ल्यूस्, रॉक व मोटाउन संगीत की। मैं विस्मय से भर गया कि सभी बच्चे उन गीतों को शब्दशः और सस्वर, लय और ताल के साथ गा सके। वे सभी गीत हमारे सामान्य स्कूलों में गाए जाने वाले गीतों की तुलना में बीस गुना अधिक पेचीदा और कठिन तो रहे ही होंगे।

कुछ सालों पहले मीडिया में एक आठ वर्षीय बाल प्रतिभा के चर्चे थे। लड़के का नाम था जोइ एल्फीडी। वह पियानो बजाता था और उसने काफी पेचीदा संगीत स्वयं लिखा भी था। उसने एक सिम्फनी ऑर्केस्ट्रा का निर्देशन किया था और उसे रिकॉर्ड भी किया था। (शायद यह बीथोवन की अष्टम सिम्फनी थी)। उसके बाद संगीत के क्षेत्र में उसने क्या किया, मुझे पता नहीं। कुछ बाल प्रतिभाएँ संगीत के क्षेत्र में रुचि कायम रख पाती हैं और अपनी नैसर्गिक क्षमता को परिमार्जित करती हैं। हमारे समय में संगीत निर्देशक लौरिन माजेल और वायलिन वादक यहूदी मैन्यूहिन इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। पर कई बच्चे ऐसा नहीं कर पाते हैं। मेरे हिसाब से दोनों ही स्थितियाँ अपने आप में ठीक हैं। मुझे लगता है कि संगीत में खूब तरक्की कर पाने वाले बच्चे संगीत सीखने के दबाव के कारण ऐसा नहीं कर पाते हैं। क्योंकि लाखों बच्चे जिन पर सीखने का खूब दबाव रहता है, तरक्की नहीं भी कर पाते हैं। सीखने और आगे बढ़ने वाले बच्चे संगीत प्रेमियों से घिरे होने के कारण ऐसा कर पाते हैं। महत्वपूर्ण यह भी है कि उनके इर्दगिर्द वाले लोग बच्चों के संगीत में दक्ष होने को असम्भव नहीं मानते हैं।

बच्चों पर लिखने वाले लोग अमूमन इन दो शब्दों, "अपेक्षा" और "उम्मीद", को गलत समझते हैं और उनका गलत उपयोग भी करते हैं। अधिकांशतः इन्हें "माँग", "आग्रह" या "बाध्य करने" के समानार्थक शब्दों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। जब वे कहते हैं कि हमें बच्चों से बेहतर अपेक्षाएँ रखनी चाहिए, तो दरअसल उनका अर्थ होता है कि हमें उनसे यह माँग करनी चाहिए कि कुछ चीज़ें करें। और अगर वे नहीं करते तो उन्हें सज़ा की धमकी देनी चाहिए। मैं जब यह कहता हूँ कि बच्चों से हमारी अपेक्षाएँ ऊँची होनी चाहिए तो मेरा अर्थ इतना भर है कि वे कितना कर पाएँगे उसकी अधिकतम सीमा हम खुद न तय कर डालें। मेरा मतलब यह नहीं है कि हम मान लें कि क्योंकि वे कर सकते हैं, इसलिए उन्हें कुछ चीज़ें करनी ही चाहिए। और अगर वे नहीं कर पाए तो उन्हें निराश या चिन्ताग्रस्त होना चाहिए। दरअसल जीवन में प्रवेश करने की

हरेक व्यक्ति की अपनी निजी राह होती है और समय सारिणी भी। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि हम यह न मानें कि कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें बच्चे नहीं कर सकते। और जब वे उन असम्भव-सी चीज़ों को कर डालें तो हमें अचम्भा भी न हो या खतरा तक महसूस न हो। मेरा कहना है कि विकसित होने का उनका जो भी तरीका है उसके प्रति हमारा मन, हमारी दृष्टि खुली हो। मेरा मानना है कि अगर हम बच्चों से और बच्चे खुद से अधिक अपेक्षा रखें तो वे अपने आसपास की दुनिया के बारे में काफी तेज़ी से सीख पाएँगे। दूसरे शब्दों में, तीन साल की आयु के बाद भी उनकी तलाशने और सीखने की प्रक्रिया जारी रहेगी, और वे उतनी ही आतुरता और दक्षता से सीखते जाएँगे जिससे उन्होंने पहले तीन सालों में सीखा था।

मैं अपनी ज़िन्दगी में वाहन चालक की बजाए अधिकतर सहयात्री ही रहा हूँ। लोग मुझे एक से दूसरी जगह ले जाते रहे हैं। ऐसी स्थिति में मैं हम कहाँ जा रहे हैं इसकी अपेक्षा आसपास की चीज़ों पर अधिक ध्यान देता चलता हूँ। कुछ वैसे ही जैसे बच्चे करते हैं। बिना केन्द्रित रुचि के। पर इसके विपरीत जब मैं खुद गाड़ी चलाकर कहीं जाता हूँ, जहाँ से मुझे वापस भी लौटना हो, या बाद में फिर से वहीं जाना हो, तो मैं हर मोड़ को ध्यान से देखता हूँ, कल्पना करता हूँ कि लौटते समय वह कैसा लगेगा, इत्यादि।

अगर हमारे समाज में बच्चे तौर-तरीके जल्दी नहीं सीख पाते हैं (जबकि सच तो यह है कि जितना हम सोचते हैं वे उससे कहीं तेज़ी से सीखते हैं), तो यह अंशतः इसलिए होता है कि बच्चों को सीखने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। उनसे इसकी उम्मीद नहीं रखी जाती, ना ही वे खुद से इसकी अपेक्षा करते हैं। और अंशतः इसलिए भी क्योंकि वे जानते हैं कि सीखने के बाद भी वे उस ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाएँगे। मान लें कि हम बच्चों को किसी जगह अक्सर ले जाते हैं। और उनसे कहें कि एक स्थान के बाद हम उन्हें अपना मार्गदर्शक बनने देंगे। मान लें कि बच्चों के साथ शहर में घूमते समय हम शहर से अपरिचित होने का नाटक करें और हर कोने या मोड़ पर उन्हें रास्ता बताने दें। तो क्या वे मुहल्लों, कस्बों और शहरों के रास्ते जल्दी नहीं पहचानने लगेंगे? क्या वे आसपास के चिह्नों से सूचना लेना या दूसरों से रास्ता पूछना जल्दी नहीं सीखेंगे?

कुछ ही समय पहले मैंने इसका एक अविश्वसनीय उदाहरण कोपनहैगन हवाई अड्डे के मुख्य भवन में देखा। वह गर्मियों की एक सुबह थी। मेरे जहाज़ के उड़ने में दो-एक घण्टे का समय था और मैं मुख्य प्रतीक्षालय में बैंक खुलने का इन्तज़ार कर रहा था ताकि कुछ मुद्रा बदल सकूँ। मैं खड़े-खड़े लोगों की भीड़ को देख रहा था। उन्हें मित्रों से मिलते, इधर-उधर जाते देख रहा था। कहीं

साथ-साथ जाने वाले लोगों का एक बड़ा-सा समूह भी वहाँ ठहरा हुआ था। खूब सारे सामान से घिरे वे एक-दूसरे से बात करते खड़े थे। इनमें से एक महिला के साथ दो बच्चे थे। बड़ा बच्चा करीब चारेक साल का था और छोटा दो-तीन का। वे बड़े उत्तेजित, जिज्ञासु और सक्रिय लगे। मैं मन बहलाने के लिए उन्हें देखने लगा। वे हवाई अड्डे में आते-जाते कतार में खड़े लोगों और दूसरे समूहों के बीच और इर्दगिर्द भाग-दौड़ रहे थे। छोटा बच्चा बड़े से अधिक साहसी था। वह अक्सर अपनी माँ की नज़र से ओझल भी हो जाता था, पर यह बात उसे परेशान नहीं कर रही थी। कुछ देर एक-दूसरे के पीछे भागने या इधर-उधर घूमने के बाद वे अपनी माँ के पास लौट आते थे। माँ अपने दोस्तों से बतिया रही थी। बच्चों को लेकर वह निश्चिन्त और पूरी तरह आत्मविश्वास से भरी लग रही थी। वह बातों में इतनी मशगूल थी कि लग ही नहीं रहा था कि वह बच्चों पर नज़र रखे है। मुझे उसका विश्वास प्रशंसनीय लगा। परन्तु बीच-बीच में यह चिन्ता भी थी कि कहीं बच्चे उस भीड़-भाड़ में परेशानी में फँस या खो न जाएँ, ऐसा न हो कि वे माँ को ढूँढ न पाएँ। पर उन्होंने उसे हर बार ढूँढ निकाला। और ढूँढने का यह काम उन्होंने बिना किसी घबराहट के किया। वे इस कदर सहज और व्यवस्थित थे जैसे शायद मैं टिकट काउण्टर को तलाशने के समय होता।

समय गुज़रने के साथ हवाई अड्डे को, अखबारों की दुकानों को, रेस्तराँ आदि को लेकर उनकी जिज्ञासा बढ़ती गई। वे अपनी तलाश में हर बार माँ से ज़्यादा दूर जाने और फिर माँ के पास वापस लौटने लगे। अन्ततः वह छुटका भवन के दूसरे छोर की ओर भागा जो दो सौ फीट से भी अधिक दूर था। दूसरा भी उसके पीछे बढ़ा। इस बार वह कुछ घबराया-सा था और पलटकर माँ की दिशा में देखता जा रहा था। मैं भी घबरा गया। मैंने सोचा कि भवन के दूसरे छोर पर पहुँचने के बाद जब वे पलटकर उस विशाल दूरी को देखेंगे और उन्हें अपनी माँ कहीं नज़र नहीं आएगी तो वे शायद बौखला जाएँ। मैं चुपचाप भवन के दूसरे छोर की ओर बढ़ा। इस तैयारी के साथ कि अगर उन्हें मदद की ज़रूरत पड़ेगी तो मैं राह दिखा दूँगा। पर इसकी ज़रूरत नहीं पड़ी। छुटके ने भवन के उस छोर को ठीक से देखा। कुछ दरवाज़े धकियाए, पलटा और उसी तेज़ी से अपनी माँ की दिशा में वापस भागा। और तब तनावमुक्त हो बड़ा भी उसके पीछे लौट आया। फिर से दौड़ लगाने के पहले वे कुछ पल अपनी माँ के पास रुके। इस बार वे स्वचालित प्रवेश द्वार की तफ्तीश पर निकले। वे लोगों के आने-जाने के साथ द्वार को खुद-ब-खुद खुलते और बन्द होते देखते रहे। उन्होंने दो-एक बार खुद भी यह प्रयोग किया और समझ लिया कि दरवाज़ा कब खुलता है। कुछ देर उन्होंने स्वयं को इस गतिविधि में उलझाए रखा। फिर

छुटके ने यह भी जाँचना चाहा कि दरवाज़े के बाहर क्या कुछ है। प्रवेश द्वार के बाहर एक बड़ी-सी बस आ खड़ी हुई थी। वह दरवाज़े से निकलकर उसे ठीक से देखने को बढ़ चला। मैं दरवाज़े के इस पार से उसे देख रहा था और फिर से घबराने लगा था। उसने कुछ देर तक बस से उतरते लोगों को देखने का मज़ा लिया। फिर अचानक मुड़ा और फुटपाथ पर चलता हुआ मेरी आँखों से ओझल हो गया। मैंने सोचा "गज़ब हो गया" और फौरन उस पर नज़र रखने बाहर निकल आया। पर कोशिश यही थी कि उसे यह पता न लगे। वह अब आगे प्लेटफॉर्म तक पहँच चुका था और वहाँ खड़ी दूसरी बसों को निहार रहा था। मैं सोचता रहा कि अब आगे क्या होगा? क्या वह अपनी माँ को भूल ही गया है? क्या वह एक के बाद दूसरे आकर्षक नज़ारे देखता बढ़ता चला जाएगा? या अगर वह प्रतीक्षालय और अपनी माँ के पास लौटना चाहे तो क्या वह रास्ता ढूँढ पाएगा? या फिर मुझे ही किसी डैनिश भाषी व्यक्ति की मदद से उसे लौटने की राह बतानी होगी? पर मुझे चिन्ता करने की ज़रूरत दरअसल थी ही नहीं। जब वह जी भरकर बसों को देख चुका तो बिना हिचक या दुविधा दर्शाए, प्रवेशद्वार की ओर लौटा और सीधे अपनी माँ के पास पहुँच गया। माँ ने भी बिना घबराहट या आश्चर्य के उसका स्वागत किया। इसके कुछ देर बाद वह समूह उस ओर बढ़ गया जहाँ उसे जाना था और मुझे फिर कहीं नज़र न आया।

ज़ाहिर है कि यह बच्चा वह कर पा रहा था जो हम उस उम्र के बच्चे के लिए असम्भव मानते हैं और काफी बड़े बच्चों से ही इसकी अपेक्षा करते हैं। वह अपने आसपास को देखकर एक मानसिक मानचित्र बना पा रहा था, जिसके सहारे वह वापस लौट सके। मेरा अन्दाज़ है कि उसने ऐसा करने का काफी अभ्यास किया होगा और उसकी माँ उसे लगातार कोई भी स्थान को जाँचने-देखने की अनुमति देती रही होगी। सम्भवतः पहले-पहल वह उसके पीछे-पीछे गई होगी, जैसे मैं भागा था। फिर बच्चे के कौशल व आत्मविश्वास के विकास के साथ माँ का उस पर भरोसा भी बढ़ा होगा। तब वह उसे ज़्यादा दूर-दूर तक जाने देने लगी होगी। उस नन्हे से बालक ने इतनी क्षमता कैसे पा ली यह तो मैं कभी जान ही नहीं सकूँगा। पर जो वह कर पाया निश्चय ही दूसरे भी कर सकते हैं। अगर बच्चों की निर्भरता और दक्षता में हम अपना निहित स्वार्थ त्याग दें, तो क्या वे जल्दी ही आत्मनिर्भर व कुशल न हो जाएँ? हमें यह कोशिश तो करनी ही चाहिए।

11. प्रेम का पात्र बच्चा

सालों पहले मेरी एक दोस्त एक बड़े रोचक "लज्जादायक पल" का किस्सा सुनाया करती थी। न्यू यॉर्क के एक बड़े डिपार्टमेंटल स्टोर में सेल की बात सुन वह भी, दूसरी महिलाओं की तरह, सुबह-सुबह वहाँ पहुँची। ताकि सभी सस्ती व अच्छी चीज़ें छँट जाएँ, उसके पहले वह वहाँ मौजूद हो। दरवाज़े खुलते ही वह तेज़-तर्रार खरीददारों की भीड़ में फँस गई। आगे बढ़ने की कोशिश में उसने खुद को दो छोटे लड़कों के पीछे पाया जो उसकी कमर तक आते थे। कुछ लाड़ और शैतानी की रौ में उसने दोनों के सर पर एक-एक उँगली टिका दी और दो-एक कदम यूँ चली। पर इससे ज़्यादा नहीं। कुछ ही पल में दो नाराज़ वयस्क चेहरे उसकी ओर मुड़े और उन्होंने कहा, "आप कर क्या रही हैं?" वे बौने थे।

पिछले सालों में मैंने उसे कई बार यह किस्सा सुनाते देखा है। उसे दूसरों की हँसी में अपनी आवाज़ जोड़कर ठठाकर हँसते देखा है। हाल ही में कई वर्षों के बाद मुझे यह अहसास हुआ कि अगर वे दो व्यक्ति बौने न होकर सच में बच्चे होते तो हमें उसका उनके सिर पर यूँ उँगलियाँ टिकाकर चलना बुरा भी नहीं लगता। जो बात घटना को मज़ेदार बनाती है वह यह थी कि बच्चों को प्यार करने वाले लोग जो कुछ उनके साथ करना पसन्द करते हैं, यहाँ वही एक लज्जाजनक घटना में बदल गया था। हम सब हँसते इसलिए थे कि हम बड़ी आसानी से खुद को उसके स्थान पर रखकर अपने हृदय में उमड़ते स्नेह की, प्यारे नन्हे बच्चों के सिर पर रखी उँगलियों की, और फिर अपनी गलती के कारण अपनी लज्जा की कल्पना कर सकते थे। पर अपरिचित बच्चों के सिर पर उँगलियाँ टिकाकर चलना क्या सच में एक अच्छा विचार है? ऐसा करने का अधिकार हमें किसने दिया? यह कल्पना तक हम कैसे कर सकते हैं कि बच्चों को हमारा ऐसा करना अच्छा लगेगा?

हम उस समय किसी व्यक्ति को एक वस्तु में बदल डालते हैं जब हम उसका उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, खुद के लिए कुछ पाने के लिए करते हैं, बिना यह विचार किए कि उसे कैसा लगेगा या उससे पूछे बिना कि क्या उसे भी इसमें मज़ा आएगा या नहीं। कई महिलाओं की शिकायत रहती है कि अधिकांश पुरुष उनका उपयोग यौन-वस्तुओं की तरह करते हैं या फिर करना चाहते हैं। ऐसे पुरुष मानते हैं कि अगर वास्तव में नहीं तो कम से कम कल्पना

में उन्हें सभी महिलाओं का उपयोग अपनी यौनेच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए करने का अधिकार है। कई पुरुष, खासकर नौजवान पुरुष, आदतन हरेक महिला को इसी दृष्टि से तोलते हैं। यानी वे यह कल्पना करने की कोशिश करते हैं कि वह महिला निर्वस्त्र होकर कैसी लगेगी या उसके साथ सम्भोग का अनुभव कैसा होगा। और वे तत्काल निष्कर्ष निकालते हैं - "उम्दा सम्भोग की वस्तु!", "ठीक-ठाक है", "कुछ खास नहीं", "धत्त तेरी की"। अगर उनका निष्कर्ष सकारात्मक रहता है तो वे कुछ पल उसके साथ काल्पनिक सम्भोग में बिताते हैं। और कुछ लोग तो इस कल्पना को यथार्थ में बदलने की कोशिश भी करते हैं। पर अगर उनका फैसला नकारात्मक रहा हो तो वे उस औरत के बारे में कुछ भी नहीं सोचते। उनके लिए वह महिला किसी अर्थ में रोचक नहीं रहती।

जब कोई पुरुष वास्तव में या महज कल्पना में किसी महिला का (या कोई महिला किसी पुरुष का) उपयोग एक यौन-वस्तु के रूप में करता है तो वह ऐसा सामने वाले की ज़रूरतों पर ध्यान दिए बिना, सिर्फ अपनी ज़रूरतों के कारण करता है। हमारी संस्कृति में पुरुषों को महिलाओं के ऐसे उपयोग के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हमारे सारे विज्ञापन, मीडिया, हमारे आस-पास की समूची दुनिया महिला को एक यौन-वस्तु के रूप में देखने को उकसाती है। कई महिलाएँ भी इसमें साथ देती हैं। वे अपना प्रदर्शन करती हैं। ऐसा वे पैसों के लिए या फिर "एक अदद पुरुष जुगाड़ने के लिए" करती हैं - एक मित्र, प्रेमी या पति के रूप में। पर फिर भी यह यौन-वस्तु उद्योग यानी महिलाओं को यौन वस्तुओं के रूप में बेचने का धन्धा अधिकांशतः पुरुष ही अन्य पुरुषों के फायदे के लिए चलाते हैं।

महिलाओं को यौन उपभोग की वस्तुओं के रूप में इस्तेमाल करने की इस आदत से शायद यह भी समझा जा सकता है कि कुछ पुरुष लम्बे बालों वाले पुरुषों को देख इतना नाराज़ क्यों होते थे या आज भी नाराज़ क्यों हो जाते हैं। लम्बे बाल, छल से, उन्हें कल्पना में अन्य पुरुषों के प्रति, अर्थात् समलैंगिक सम्बन्धों के प्रति आकर्षित कर सकते हैं। ऐसे एक लड़के को पार करने के बाद एक बार एक टैक्सी चालक मेरी और मुड़ा और गुस्से से बोला, "अब पता ही नहीं चल पाता कि अगला लड़की है या लड़का।" मैंने कहा, "अगर उन्हें यह अन्तर स्पष्ट है तो शायद चिन्ता की कोई बात नहीं है।" उसका प्रत्युत्तर था, "चिन्ता की बात भला क्यों कर नहीं है!" उससे यह पूछने का वह उचित समय नहीं था कि अन्तर कर पाना ही उसके लिए भला इतना ज़रूरी क्यों है। ऐसी ही स्थिति में एक दूसरे टैक्सी चालक ने क्रोध से अवरुद्ध कण्ठ से कहा, "सालों को गोली से उड़ा देना चाहिए!" इन पुरुषों के लिए एक नज़र में यह अन्तर कर पाना

क्यों ज़रूरी रहा होगा कि व्यक्ति लड़का है या लड़की? एक कारण यह हो सकता है कि वे जानना चाहते हों कि वे उससे काल्पनिक सम्भोग कर सकते हैं या नहीं? अन्यथा वे किसी लड़की के साथ सम्भोग के दिवास्वप्न देखते हों और अचानक पाएँ कि वह तो लड़का है। मानो लम्बे बाल उन्हें कपटपूर्वक समलैंगिक बना डाल रहे हों।

स्त्रियों और पुरुषों के सम्बन्ध में ऐसे विचार काफी आसानी से समझे जाते हैं। कम से कम ज़्यादातर लोग अब उन्हें समझने लगे हैं। और शायद ये विचार मेरे इस कथन का तात्पर्य भी स्पष्ट कर सकें कि अधिकांश वयस्क महिलाएँ व पुरुष दोनों ही बच्चों का उपयोग तथाकथित प्रेम की वस्तु के रूप में करते हैं। हम यह सोचते हैं कि यह हमारा अधिकार या दायित्व है कि हम उन पर अपना "प्रेम" उड़ेलें, अपने स्नेह का ठोस सबूत उन्हें देते रहें। यह सब हम जब जी में आए, जिस तरह जी करे, उन्हें पसन्द हो या नहीं, ज़रूर करें। ऐसा करते समय हम दरअसल उनका शोषण करते हैं, अपने उद्देश्यों के लिए उनका उपयोग करते हैं। बच्चों या बाल्यावस्था का उपयोग, शेष रूपों से कहीं ज़्यादा, इसी रूप में होता है कि वे हमारे लिए प्रेम की वस्तुएँ उपलब्ध करवाएँ। यही कारण है कि बच्चों का होना और बाल्यावस्था की संस्था को बनाए रखना तमाम परेशानियों और खर्चों के बावजूद हमें उपयोगी लगता है।

इस उद्देश्य के लिए बच्चों की ज़रूरत पड़ने का एक कारण है कि हम मानवीय सम्पर्क और स्नेह के भूखे हैं। अधिकांश लोगों के पास ऐसे व्यक्ति कम ही हैं जिन्हें वे जायज़ स्नेह दे सकें। जिनके साथ इस स्नेह को शब्दों या स्पर्श में अभिव्यक्त कर पाएँ, उनकी संख्या तो और भी कम होगी। इस सन्दर्भ में शायद महिलाओं की स्थिति पुरुषों से बेहतर है। सम्भवतः इसलिए कि वे स्वयं भी भोग की वस्तुएँ मानी जाती हैं, या फिर शायद इसलिए कि समाज उन्हें हीन श्रेणी का मानता है अतः कुछ छूट देता है। पुरुषों की तुलना में उन्हें दूसरों को छूने (स्त्रियों व पुरुषों, दोनों को ही) की अधिक अनुमति होती है। पुरुषों को तो सिर्फ उन्हीं महिलाओं को स्पर्श करने की अनुमति होती है जिनसे उनका निकट का सम्बन्ध हो। दूसरे पुरुषों को स्नेहवश छूना तो उनके लिए वर्जित है ही।

अपने मित्रों से *प्यार करना* भी हमारे लिए वर्जित है। ऐसे पुरुष जो किसी अन्य पुरुष के लिए स्नेह से कहें, "मैं उसे सच में प्यार करता हूँ" को शक की नज़र से देखा जाएगा। ऐसा कहने वाली महिला को भी भावातिरेक में बहने वाली स्त्री ही माना जाएगा। दरअसल निकट के रिश्तेदारों - बच्चे, माता-पिता, दादा-दादी/नाना-नानी, पोते-नाती - के अलावा दूसरे लोगों से *प्रेम* करना ही वर्जित है। सच तो यह है कि चाची-मौसी या चाचा-मौसा और चचेरे-मौसेरे-फुफेरे भाई-बहन तक स्वीकार्य प्रेम के दायरे में शामिल नहीं होते।

यही कारण है कि ऐसे लोग हमारे लिए बेहद कीमती होते हैं जिन्हें हम जब इच्छा हो, जब आवश्यकता हो, निःसंकोच, दूसरों के अनुमोदन के साथ, खुलकर स्नेह और प्रेम दे सकते हैं। हमें ऐसी प्रेम वस्तुओं की दरकार भी है। यह दुखद होता है कि हमारे पास प्रेम की अधिकता हो और उसे बाँटने के लिए लोग कम पड़ें। यही तो असन्तुष्ट प्रेम की त्रासदी है। न केवल हमारे प्रेम का पात्र हमें पलटकर प्रेम नहीं करता, बल्कि प्रेम करने की अनुमति तक नहीं देता। हम अपना अमूल्य खज़ाना लुटाने को तैयार होते हैं, पर उस व्यक्ति को इसकी ज़रूरत तक नहीं होती। तो हम इस खज़ाने का भला क्या करें?

कई लोगों ने अपनी बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि उन्हें ऐसे वयस्कों का आलिंगन या चुम्बन डरावना लगता था, उनके मन में जुगुप्सा पैदा करता था, जो उन्हें अच्छे नहीं लगते थे या जिनसे उन्हें मन ही मन घृणा थी। ऐसी एक चर्चा के दौरान मेरे एक मित्र ने कहा कि शायद वयस्क को चूमने की *ज़रूरत हो*, अतः बच्चे को चुम्बन स्वीकारने पर बाध्य करना चाहिए। यही बात बड़ों द्वारा बच्चों के उपयोग का एक बढ़िया उदाहरण है। इसके बारे में मैंने पहले भी बताया है। अगर एक चार वर्षीय व्यक्ति की ज़रूरतों और एक साठ वर्षीय व्यक्ति की ज़रूरतों में टकराव हो तो बच्चे को ही क्यों घुटने टेकने पड़ते हैं? क्या उसकी इच्छाओं का सम्मान सिर्फ इसलिए नहीं करना चाहिए क्योंकि वह छोटा और कमज़ोर है? सच यह है कि जो वयस्क बच्चे की जुगुप्सा के बावजूद उसे आलिंगनबद्ध करे, या उसकी भावनाओं को पहचाने तक नहीं, वह दरअसल एक वास्तविक बच्चे को गले लगाता ही नहीं है। वह तो बच्चे के विचार भर को, एक बाल-वस्तु को चिपटाता है। उस बच्चे के प्रति सरोकार इस आलिंगन का कारण नहीं होता, बल्कि वह इसलिए उसे गले लगाता है क्योंकि उसके साथ उस वयस्क का खून का रिश्ता है और उसे ऐसे ही स्पर्श की अनुमति है। अगर वह किसी अपरिचित बच्चे को उठाकर गले लगाए जो उसके स्नेह स्पर्श का प्रतिवाद कर रहा हो तो वह मुसीबत में पड़ जाएगा। खासकर अगर वह वयस्क पुरुष हो। क्योंकि प्रेम की वस्तु होने के बावजूद हमें कुछ ही बच्चों को शारीरिक स्पर्श करने की अनुमति होती है।

इस चर्चा का अर्थ यह नहीं है कि बच्चों को प्यार करने की हमारी इच्छा कोई खराब बात है। यह स्वाभाविक ही है कि हमारी बच्चों में रुचि हो। वे हमें मोह लें। उनके तमाम गुण, उनकी ऊर्जा, उत्साह, स्वास्थ्य, तेज़ी, शोरगुल, उनकी जिज्ञासा, बुद्धिमानी, खुशी, स्वाभाविकता, भावनात्मक गहनता, उनके आवेश, अभिव्यक्ति की क्षमता, उनकी आशावादिता, उनका हम पर भरोसा करना, उनका खिलन्दड़पन, औदार्य और उनका विस्मय व आनन्द - हमें सम्मोहित करे। हमें उनके नन्हेपन, उनकी कमज़ोरी, उनकी अनुभवहीनता, उनका

अज्ञान, समय व अनुपात के ज्ञान का अभाव आदि अक्सर छू जाता है और छूना चाहिए भी। पर हमें यह अधिकार नहीं कि हम इसलिए इन भावनाओं में गोते खाएँ क्योंकि ऐसा करना हमें सुख देता हो। हमें शब्दों या कर्म से ऐसी भावनाएँ बच्चे के सामने प्रकट करने का भी अधिकार नहीं। ऐसा हम तब तक नहीं कर सकते जब तक बच्चा स्वयं यह स्पष्ट न करे कि वह ऐसी भावनाएँ हमसे चाहता है। जब बच्चा खुद दोस्ताना महसूस करे, मस्ती व सम्पर्क की इच्छा उसमें जगे, तब उसे चौड़ी मुस्कान देने, गुपचुप आँख व मुस्कान का खेल खेलने का समय होता है। अगर वह संकेत दे तो हम उसे गोद ले सकते हैं। उसे उछाल सकते हैं, गले से लगा या चूम सकते हैं। पर जब तक संकेत न हो हमें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है।

कुछ समय पहले मेरी एक छह वर्षीय सहेली ने अपने घर में मुझसे पूछा कि क्या वह मुझे कुछ पढ़कर सुना सकती है। मेरे हाँ कहने पर वह एक ऐसी किताब उठा लाई जो वह कई बार पढ़ चुकी थी। वह मुझसे सटकर आराम से बैठी और पढ़ने लगी। पहले पढ़ चुकने के कारण वह कहानी जानती थी और कई शब्द भी। फिर भी तमाम ऐसे शब्द थे जिनपर वह अटक जाती थी और जिन्हें उसे फिर से पहचानना पड़ता था। कई बार वह कुछ हिचकते हुए अन्दाज़ लगाती और मुझसे पूछती कि वह शब्द सही पढ़ा गया या नहीं। अक्सर उसका अनुमान सही होता। कभी वह सीधे-सीधे पूछ लेती कि शब्द क्या है, और मैं उसे बता देता।

कुछ समय मैं आराम से पूरी तरह तनाव मुक्त हो, स्नेह से भरा बैठा रहा। जिस बच्ची को मैं स्नेह करता था उसका सर मेरे बिलकुल पास था, सो मैंने उसे स्नेहवश थपथपाया। वह तुरन्त पलटी, उसकी आँखों में आश्चर्य और प्रश्न था, मानो वह कह रही हो, "ऐसा क्यों किया, हम पढ़ रहे हैं ना।" मैंने माफी माँगी और हमने पढ़ना जारी रखा।

बच्चा स्वयं अपने और हमारे बीच जो फासला रखना तय करता है उसे पहचानना और उसका सम्मान करना हमें सीखना होगा। बिना उसकी आज्ञा के हमें उसके जीवन स्थान में घुसे चले जाने का अधिकार नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे किसी वयस्क के साथ हम ऐसा नहीं कर सकते। प्रेम की वस्तुओं की तरह उनका उपयोग हो, यह बच्चों को पसन्द नहीं आता। उन लोगों के साथ भी नहीं जिन्हें वे सच में चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें ना कहने का अधिकार हो, कि वे स्वयं शर्तें तय करें, रिश्ता कैसे बढ़ेगा उसके नियम वे खुद बनाएँ।

मुझे एक वार्तालाप याद आ रहा है। एक माँ और उसकी तेरह वर्षीय बिटिया के बीच का वार्तालाप। बेटी बड़े सकारात्मक ढंग से किसी ऐसी चीज़ के बारे

में माँ को बता रही थी जो उसके लिए बेहद महत्वपूर्ण थी। उसकी माँ, जो वैसे भी बड़ी शिष्ट और भद्र महिला थीं, हमेशा की तरह बड़ी तन्मयता से उसकी बात सुन रही थीं। बीच-बीच में वह टिप्पणियाँ भी करती जा रही थीं। अचानक उनके मन में एक विचार उठा। उन्होंने बताया कि यह विचार अक्सर उनके मन में उठता रहता है, "क्या यह सच है कि सामने बैठी यह किशोरी जो तमाम विषयों पर बोल रही है, जो इस सकारात्मक तरीके से दुनिया में बढ़ रही है, सच में मेरी बिटिया है? क्या यह वही नन्ही-सी गुड़िया है जिसके साथ मैं इतने सालों से रहती आ रही हूँ?" विचार कौंधा ही था कि वे यादों और भावनाओं की बाढ़ में बह गईं। उनके हावभाव में एक हल्का-सा बदलाव आया। वे अपनी बेटी को विस्मय और कोमलता से देखने लगीं। इसमें किसी प्रकार का कृपाभाव न था। सिर्फ बेहद स्नेह था। पर फिर भी उस पल भर को उनके सामने बैठी उनकी बिटिया ओझल हो गई, या कहें कि वह अपने पूर्व जितने भी रूपों में थी वे सारे बच्चे भी उसमें आ मिले। किशोरी ने तुरन्त ताड़ लिया कि वह अपनी माँ के सामने एक व्यक्ति नहीं है। वह है तो बस माँ की अपनी बेटी। उसे बहुत बुरा लगा, उसने बात बन्द कर दी। उसकी माँ और मैंने काफी कोशिश की पर सघन सम्पर्क का वह सूत्र टूट चुका था। वह फिर से बात ही नहीं कर पाई। पर यह कुछ समय के लिए ही हुआ, क्योंकि वह जानती है कि उसकी माँ एक व्यक्ति के रूप में उसका सम्मान करती है। घण्टे भर बाद हम फिर से चर्चा करने लगे।

परन्तु अधिकांश बच्चे इस किशोरी की तरह भाग्यशाली नहीं होते। वे अल्पायु में ही सीख लेते हैं कि प्रेम के प्रतीक के रूप में कुछ देने और पाने की माँग उनसे लगातार की जाएगी। ये प्यार भरे शब्द हो सकते हैं, या कृत्रिम मुस्कान, छेड़छाड़, प्रशंसा, व्यक्तिगत टिप्पणियाँ, आलिंगन या चुम्बन भी हो सकते हैं। और जल्दी ही ये संकेत अर्थहीन हो जाते हैं। आलिंगन और चुम्बन भी। और बच्चे के पास अपनी भावनाएँ व्यक्त करने का, ऐसे स्नेह या आनन्द को व्यक्त करने का जिसे शब्दबद्ध न किया जा सके, कोई तरीका ही नहीं बचता। और समय के साथ ऐसी भावनाएँ महसूस करना भी कठिन हो जाता है जिसे वे अभिव्यक्त ही न कर पाएँ। और यूँ हम शायद वही नष्ट कर डालते हैं जिसे हम सबसे अधिक बचाना चाहते हैं। बच्चों के प्रति "स्नेह भाव का प्रदर्शन", "प्रेम का प्रदर्शन", वे चाहें या ना चाहें, उन्हें स्नेही और प्रेमल बनाने का सही तरीका नहीं है। बल्कि होता इससे ठीक विपरीत ही है। कोई व्यक्ति किसी अनुभव या किसी व्यक्ति के प्रेम के अर्पण को सच में तब तक "हाँ" नहीं कह सकता जब तक वह सच में "ना" न कर सकता हो। कोई भी तहेदिल से किसी के प्रेम को स्वीकार कर उसका स्वागत नहीं कर सकता, जब तक उसे इस प्रेम

प्रस्ताव को ठुकराने का निर्विवाद अधिकार न हो। कोई भी पूरी सम्पूर्णता से और मुक्त भाव से प्रेम दे भी नहीं सकता अगर उसे न देने का असन्दिग्ध अधिकार न हो।

जो पुरुष महिलाओं का उपयोग भोग की वस्तुओं के रूप में करना चाहते हैं या करते हैं, वे स्वाभाविक रूप से इसके साथ अपना एक सिद्धान्त, अपनी एक विचारधारा भी गढ़ लेते हैं। वे महिलाओं के इस उपयोग का औचित्य इस मनगढ़न्त विचार में ढूँढ लेते हैं कि औरतें स्वयं अपना ऐसा ही उपयोग चाहती हैं। अतः हमारे पास यह "प्लेबॉय दर्शन" है जो घोषणा करता है कि दरअसल औरतों को जो चाहिए और पसन्द आता है वह है सेक्स। उनकी यौनेच्छा कभी तुष्ट नहीं होती। उनका तो जी ही नहीं भरता। ऐसे में अगर पुरुष कल्पना में या वास्तव में उन्हें भोग की वस्तुओं के रूप में देखें तो यह उचित ही है। वह तो उन पर उपकार ही करता है। उन्हें जो चाहिए वह देता ही तो है। फिर हिचकने-शर्माने की भला क्या ज़रूरत है। बस उछलो और मौके का फायदा उठा लो। इसमें बहुत जल्दी या बहुत ज़्यादा जोश-सा कुछ है ही कहाँ।

ठीक इसी तर्ज़ पर बच्चों को प्रेम की वस्तुओं के रूप में काम में लेने के बारे में भी हमारी एक विचारधारा है। कथा यूँ चलती है कि बच्चों को प्यार की ज़रूरत है। इसमें बहुत ज़्यादा हो गया, या बस काफी हो गया, जैसा कुछ नहीं होता। उन्हें इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्हें यह प्यार किससे और किस रूप में मिल रहा है। उन्हें तो बस प्यार, प्यार, और अधिक प्यार ही चाहिए। सम्भव है कि इस मिथक में बच्चे के जीवन के प्रारम्भिक एकाध वर्ष के सन्दर्भ में कुछ सच्चाई भी हो। मेरा और दूसरों का अनुभव भी यही है कि शिशुओं को मानवीय सम्पर्क की ज़रूरत होती है और इसका अभाव उन्हें नुकसान भी पहुँचाता है। पर शिशुओं के साथ भी हमें विवेक का उपयोग करना चाहिए। अधिकांश बच्चों को उठाना, चिपटाना या उनके साथ खेलना पसन्द भी आता है। पर ऐसा हमेशा, या सबके लिए, या ठीक उसी तरह से, सच नहीं होता। जब वे करीब छह माह के हो जाते हैं, या कभी तो इसके भी पहले, उनके अपने सुस्पष्ट उद्देश्य, आवश्यकताएँ, पसन्द-नापसन्दगियाँ होती हैं। कभी वे किसी चीज़ में व्यस्त हो सकते हैं और सम्भव है उन्हें उस वक्त किसी प्रकार की दखलन्दाज़ी अच्छी न लगे। हो सकता है कि वे कुछ लोगों को पसन्द करते हों, पर दूसरों को कुछ कम या नापसन्द ही करते हों। या उन्हें साथ खेलना तो पसन्द आता हो, पर उठा लेना अच्छा न लगता हो। और स्नेह प्रदर्शन के कुछ खेल और तरीके उन्हें किसी से भी पसन्द न हों। सच तो यह है कि हमें शिशुओं के साथ भी सावधानी बरतनी चाहिए और उनके संकेतों को पढ़ना सीखना चाहिए। उनका सम्मान करना चाहिए।

12. बच्चों को "प्यारे-प्यारे" मानना

यह बात यूँ भी कही जा सकती है कि हमें छोटे बच्चों को प्यारे-प्यारे रूप में देखने से बाज़ आना चाहिए। इससे अंशतः मेरा मतलब यह है कि हमें इसके प्रति अधिक सजग होना चाहिए कि बच्चों में ऐसा क्या है जिसके प्रति हमारी संवेदनशील प्रतिक्रिया होती है। साथ ही हमें यह भी फर्क करना आना चाहिए कि हमारी कौन-सी प्रतिक्रियाएँ वास्तविक, सम्मानजनक और जीवनवर्धन करने वाली हैं और किस प्रतिक्रिया में बच्चों को तुच्छ माना जा रहा है, या उनके प्रति महज़ भावनात्मकता दिखाई जा रही है। जब हम बच्चे में निहित वास्तविक, मूल्यवान और किसी भी आयु के व्यक्ति में वांछनीय माने जाने वाले मानवीय गुणों के प्रति संवेदनशील प्रतिक्रिया करते हैं, तो हमारी प्रतिक्रिया सच्ची होती है। पर बच्चों के जो गुण हमारे अन्दर उनसे श्रेष्ठ होने का अहसास जगाते हैं, उन गुणों पर हमारी प्रतिक्रिया बच्चों को हेय दृष्टि से देखने की होती है। और जब हम ऐसे गुणों के प्रति संवेदनशील प्रतिक्रिया करते हैं, जिनका अस्तित्व बच्चे में नहीं बल्कि उनके बारे में हमारी सोच या छवि में ही होता है, तो यह महज़ भावनात्मक ही तो है।

जब हम उन्हें प्यारे-प्यारे मान उनकी ओर आकृष्ट होते हैं तो हमारी प्रतिक्रिया उन गुणों के प्रति होती है जो मानो स्वस्थ सहजबोध के कारण ही हमें आकर्षित करते हैं। बच्चों की तमाम विशेषताओं में कुछ ये हैं कि वे स्वस्थ, ऊर्जापूर्ण, तेज़, जीवन्त, उत्साही, रास्ते निकाल पाने वाले, बुद्धिमान, भावप्रवण, आशावादी, भरोसा करने वाले और माफ करने वाले होते हैं। वे बेहद नाराज़ भी होते हैं, पर हमारी तरह उनका गुस्सा लम्बे समय तक नहीं बना रहता। और इस सबसे अधिक आकर्षक यह है कि उनमें हर्षित, आनन्दित और दुखी होने की अपार क्षमता होती है। पर ये विशेषताएँ या सद्गुण हमें बचकाने नहीं लगते। ये सिर्फ बच्चों की विशिष्ट सम्पत्ति नहीं होते। ये तो *मानवीय* विशेषताएँ हैं। और हम समझदारी से सही आयु के लोगों में इन विशेषताओं का सम्मान भी करते हैं। पर जब हम बच्चों की विशेषताओं पर सोचते हैं, उन्हें बचकाना ठहराते हैं तो ऐसी विशेषताओं की कल्पना करते हैं जिन्हें उम्र के साथ उन्हें पीछे छोड़ देना चाहिए था। इस तरह हम वह सब खो देने के लिए खुद को माफ कर देते हैं जिन्हें हमें सहेजकर रखना चाहिए था। और तो और हम उन्हें भी यह पाठ

पढ़ाते हैं। मैं जिन तेज़ और सफल दस वर्षीय लड़के-लड़कियों को जानता हूँ उनमें से अधिकांश में अपनी पुरानी जिज्ञासा ज़रूर बनी रहती है, पर वे उससे शर्माना या उसे छिपाना सीख लेते हैं। केवल "छोटे बच्चे" हर समय "बेवकूफी भरे" सवाल पूछते फिरते हैं। बड़ा होने का मतलब होता है बेफिक्र होना। अर्थात् भावहीन व सरोकार रहित होना। ऐसा व्यक्ति होना जिसे कुछ छुए ही नहीं और जो कोमल या नाज़ुक न हो।

शायद महिलाओं को यह पाठ इतनी कड़ाई से नहीं पढ़ाया जाता। शायद परिपाटी उन्हें बच्चों-सा बने रहने की अधिक छूट देती है, और इन बाल सुलभ विशेषताओं को पूरी तरह खो न देना सिखाती है। और उन्हें इसे बचाए रखने की कोशिश करनी चाहिए।

यद्यपि बच्चों की कई विशेषताओं के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएँ सच्ची होती हैं, पर हम अक्सर बच्चों को हीन मानकर या भावनात्मकता के कारण भी प्रतिक्रियाएँ करते हैं। उनके नन्हेपन, उनकी कमज़ोरियों, अटपटेपन, अज्ञान, अनुभवहीनता, अदक्षता, असहायता, परावलम्बन, विवेकहीनता, समय और सन्तुलन के अभाव के कारण हम उनके प्रति हेय व्यवहार करते हैं। भावनात्मक प्रतिक्रिया हम इसलिए करते हैं क्योंकि बच्चों के आनन्द, चिन्ताहीनता, निष्कपटता, पवित्रता, उनमें यौन भावनाओं का न होना, उनकी अच्छाई, उनकी आध्यात्मिकता और बोध आदि को लेकर हमारी खुद की बनाई हुई तमाम धारणाएँ होती हैं। पर सच्चाई यह है कि ये धारणाएँ बेवकूफी भरी होती हैं। बच्चे कोई खास खुश या बेफिक्र नहीं होते हैं। कई वयस्कों की ही तरह उनकी भी तमाम चिन्ताएँ होती हैं। और अक्सर ये दुष्चिन्ताएँ ठीक वैसी ही होती हैं जैसी वयस्कों की हों। उनकी ऊर्जा, जिज्ञासा और जीवन से उनका जुड़ाव उन्हें खुश बनाता है। वे चिन्तन-मनन में अधिक समय नहीं गंवाते। और आध्यात्मिकता से तो कोसों दूर होते हैं। वे अमूर्त नहीं, ठोस होते हैं। वे पशु सम और इन्द्रियार्थवादी होते हैं। जो उन्हें अच्छा *लगता है* वही अच्छा *है*। वे आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी भी होते हैं। खुद को किसी दूसरे व्यक्ति के स्थान पर रखकर उसकी स्थिति की कल्पना कर पाने की क्षमता उनमें नहीं होती है। इस कारण वे कई बार बेख्याल तथा क्रूर तक हो जाते हैं। पर वे दयालु हों या क्रूर, उदार हों या लालची, यह वे उस क्षण के आवेग के कारण होते हैं, किसी योजना या सिद्धान्तवश नहीं। वे बर्बर और आदिम होते हैं। और हम ऐसे लोगों के प्रति भी अक्सर बड़े भावनात्मक हो जाते हैं। ऐसी कई चीज़ें होती हैं (जो स्कूली विषयों में नहीं आतीं और जिन्हें "सिखाया" नहीं जा सकता) जो बच्चे बिलकुल नहीं जानते हैं। इन्हें वे समय के साथ जीवन जीते हुए सीखते हैं और उन्हें सीखने-जानने पर वे बेहतर भी बनते हैं। बढ़ना, या क्रम में बड़े होना, हमेशा

या केवल, या आवश्यक रूप से, पतन या पराजय की प्रक्रिया नहीं होती। समय के साथ जो समझ और ज्ञान आता है वह वास्तविक भी हो सकता है। यही कारण है कि बच्चों में उन वयस्कों की सहज सत्ता के प्रति आकर्षण भी मिलता है जो उनके प्रति सच्चाई व सम्मान के साथ प्रतिक्रिया करते हैं।

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि बच्चों के प्रति भावनात्मक प्रतिक्रिया करने में, जैसे वे हैं उन्हें उससे बेहतर मानने में हर्ज़ ही क्या है? हम किसी को ज़रूरत से ज़्यादा अच्छा तो मान भी कैसे सकते हैं? उन्हें अच्छा मानने से नुकसान क्या हो सकता है? कई वर्ष पहले लन्दन की एक दुकान में मुझे एक पुरानी पेपरबैक पुस्तक की प्रति मिली। पुस्तक का नाम था *नॉवेल ऑन यैलो पेपर*। लेखक थे स्टीवी स्मिथ। यह पुस्तक मेरी पसन्दीदा पुस्तकों में से एक बनी और आज भी है। हाल में उसे पढ़ते हुए, और एक खास परिच्छेद तलाशते समय एक अनुच्छेद पर गौर किया जिसे मैं बिलकुल भूल चुका था। जब पुस्तक को पहले पढ़ा था उस वक्त इस अनुच्छेद ने मेरे किसी सरोकार को छुआ नहीं था। अतः उस पर ध्यान भी नहीं गया होगा। पर इस बार उसने मुझ पर सीधा वार किया। यह अनुच्छेद वही बात कहता है जो मैंने बच्चों को "प्यारा-प्यारा" मानने और इस प्यारेपन के शोषण के सम्बन्ध में कही थी। इस भावनात्मक अतः अमूर्त तरीके से उन्हें देखना, उनसे इस तरह पेश आना भी एक प्रकार से निष्ठुरता और क्रूरता ही है।

> .....(जब मैं आठ वर्ष का था) एक परिचारिका मुझे पसन्द करने लगी। वह मुझे अपने घुटनों पर बैठाती। जब मेरा मन होता तो मैं उसकी कल्पना के खेल में भाग ले पाता था। पर उस वक्त भी मैं बेहद डरा हुआ होता था। मेरे प्रति उसकी भावनाएँ, जिन्हें मैं महसूस तो करता था पर समझ नहीं पाता था कि मुझे वे परेशान क्यों करती हैं, क्या ऊपरी तौर पर ठीक वैसी थीं जैसी मेरी माँ की? जी नहीं, जबकि वह भी मुझे गले लगाती थी, घुटनों पर बैठाती थी...। पर मुझे यह बात परेशान करती कि उसकी भावनाएँ इस कदर मनमानी, इतनी सतही और इतनी आकस्मिक हुआ करती थीं। मेरे प्रति उसकी भावनाएँ बिलकुल भी गहरी नहीं थीं। वे कुछ वैसी ही थीं जैसे अपने पालतू पिल्ले को थपथपाने, चिपकाने और लाड़ लड़ाने की होती हैं। मुझे उसका आचरण ठीक वैसे डर से भर देता था जैसे हिंसा भरती है। वे बेहद असुरक्षित, छिछली और अर्थहीन थीं। बाहरी तौर पर उनमें इतना साम्य था, पर वास्तव में इतनी दूरी, इतना छल था कि वे एक प्रकार की बर्बर महत्ता से भरी लगती थीं। मुझे इस अनुभव ने बेहद परेशान और दुखी किया और अन्दर तक डरा दिया।

एक दोपहर मैं सैकड़ों लोगों के साथ एक जूनियर कॉलेज के सभागार में था कि हमें बाहर से एक नन्हे बच्चे की चीख-पुकार सुनाई दी। सभागार में मौजूद लगभग प्रत्येक व्यक्ति मुस्कुराया या हँस पड़ा। सम्भव है कि यह नितान्त जायज़ प्रतिक्रिया हो क्योंकि एक छोटा बच्चा इतने सारे वयस्कों के तथाकथित रूप से महत्वपूर्ण विचारों में बिना कोई चेष्टा किए बाधा पहुँचा सका था। पर बात इतनी भर नहीं थी। इसके परे बात यह भी थी कि बच्चों की पीड़ा, उनकी भावनाएँ *वास्तविक* नहीं मानी जा रही थीं। उन्हें गम्भीरता से लेने की आवश्यकता तक नहीं थी। पर अगर हमें बाहर से किसी वयस्क की पीड़ा से रोने, नाराज़ होने, या दुखी होने की आवाज़ें आतीं तो हम मुस्कुराते या हँसते नहीं। हम विस्मयभरी चिन्ता या भय से ठिठक जाते। जब तक कि बच्चे का रुदन एक अनचाही बाधा, एक मुसीबत न हो, हमें बच्चों का रोना कुछ हास्यास्पद ही लगता है। हम सोचते हैं - लो फिर शुरू कर दिया। भाई, ये बच्चे तो हर बात पर मचलते और रोते हैं। पर बच्चों के रुदन में हास्यास्पद कुछ भी नहीं है। जब तक वह वयस्कों से अपने बचकानेपन या प्यारेपन को भुनाना नहीं सीख लेता, एक छोटा बच्चा अकारण ही या हल्की-सी बात पर नहीं रोता। वह रोता है अपनी ज़रूरत, अपने डर या अपनी पीड़ा के कारण।

एक बार एक हवाई अड्डे में मैंने अपने से कुछ आगे एक सात-आठ साल की लड़की को चलते देखा। वह कालीन बिछी ढाल पर तेज़ी से बढ़ रही थी कि अचानक लड़खड़ाकर गिर गई। उसे चोट नहीं लगी थी और वह जल्दी ही खड़ी भी हो गई। मैंने पलटकर लोगों के चेहरों पर कृपा भरी मुस्कान देखी जिसमें "हाय! कितनी प्यारी-सी घटना घटी" का भाव पढ़ा जा सकता था। पर अगर कोई वयस्क गिर पड़ता तो वह हमें न हास्यास्पद लगता न प्यारा। हम उसकी चोट और लज्जा की चिन्ता करते।

भावनात्मकता से जो परेशानी है और जिस कारण भावनात्मकता हमें निष्ठुरता और क्रूरता की ओर ले जाती है वह है उसका अमूर्त और अवास्तविक होना। हम बच्चों के जीवन व सरोकारों और परेशानियों को कुछ यूँ देखते हैं मानो हम मंच पर अभिनेताओं को एक प्रहसन खेलते देख रहे हों। पर यह हम केवल तब तक करते हैं जब तक वह हमारे लिए मुसीबत नहीं खड़ी कर दे। और फिर, क्योंकि हमारे लिए उनकी भावनाएँ व उनकी पीड़ा न तो गम्भीर है, न वास्तविक, अगर हम उन्हें दुख पहुँचाएँ तो उसे भी वास्तविक नहीं मानते। हमारे हितों के संघर्ष में हर बार हम उनसे ही पीछे हटने की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि हम सोचते हैं कि केवल हमारी ज़रूरतें ही वास्तविक होती हैं। इसलिए जब वयस्क को बच्चे को चिपटाने या चूमने का आनन्द लेना होता है, जो बच्चे को अच्छा नहीं लगे या भयभीत करे, तो हम खुद से यह भी कह पाते हैं कि उसकी भावनाएँ तो अवास्तविक हैं। अतः उनकी उपेक्षा की जा सकती है। लोग

बच्चों से जीते-जागते गुड्डे-गुड्डियों का सा आचरण करते हैं। जिन्हें मन न होने पर एक कोने में, नीचे या खिड़की से बाहर फेंका जा सकता है। तब "नन्हे देवदूत" हमारे लिए "नन्हे शैतान" बन उठते हैं।

उन प्रसन्न परिवारों में भी जहाँ बच्चे एक दूसरे से जलते नहीं हों, जहाँ वे सीमित ध्यान या अनुमोदन के लिए एक दूसरे से स्पर्धा नहीं करते हों बल्कि उनके आपसी रिश्ते दोस्ताना हों, वहाँ भी बच्चे अपने से छोटों को प्यारा-प्यारा नहीं मानते हैं। उनके प्रति भावनात्मक नहीं हो जाते हैं। सुखी परिवारों के बड़े बच्चे अपने से छोटे बच्चों के प्रति कोमल होते हैं, सावधानी बरतते हैं। पर इन बड़े बच्चों को स्वयं से छोटे बच्चों की शुद्धता और अच्छाई की न तो कहानियाँ कहनी पड़ती हैं, न वे थोथी कहानियों पर विश्वास करते हैं। वे बखूबी समझते हैं कि एक छोटा बच्चा उनसे आकार में छोटा होता है, अनाड़ी और अज्ञानी होता है। उसे अधिक मदद की ज़रूरत है और वह अधिकांशतः ज़्यादा हठीला और परेशान करने वाला भी होता है। क्योंकि बच्चे एक दूसरे को प्यारा-प्यारा नहीं मानते, वे हमें अपनी तुलना में एक दूसरे के प्रति अधिक कठोर नज़र आते हैं। वे मुँहफट होते हैं और माफ नहीं करते। पर उनकी यह साफगोई हम वयस्कों के बच्चों से पेश आने के तौर-तरीकों से कहीं कम नुकसानदेह होती है। इस तरीके में दूसरे बच्चे को एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में स्वीकार तो किया जाता है, भले ही उसे हमेशा या पूरी तरह सराहा न जाए।

जब बच्चों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया प्यारेपन की होती है तो दरअसल हम उनकी वास्तविक या काल्पनिक ताकतों, उनके गुणों के प्रति प्रतिक्रिया न कर उनकी कमज़ोरियों के प्रति प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं। क्योंकि उनकी कमज़ोरी हमें सत्तावान बनाती है या हमें श्रेष्ठ होने का भाव देती है। हम उन्हें अंशतः इसलिए प्यारा-प्यारा मानते हैं क्योंकि वे छोटे होते हैं। पर छोटा होने में प्यारापन कहाँ है? क्या हमें बौने प्यारे लगते हैं? कतई नहीं, इसलिए क्योंकि हम बौने के छोटेपन को एक ऐसी स्थिति के रूप में पहचानते हैं जो उसके लिए भार है। बच्चे भी यह बात ठीक से पहचानते हैं। वे अपने छोटेपन को लेकर भावनात्मक नहीं होते। वे तो छोटे होने के बदले बड़े होना ही पसन्द करते हैं और यथासम्भव जल्दी बड़े हो जाना चाहते हैं।

अगर बच्चे जीवन के प्रारम्भिक दो-तीन वर्षों में ही अपने बड़े आकार में आ जाते तो हमारी उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया होती? हम उनसे कैसे निपटते? तब हम उन्हें अपने लाड़-प्रेम की वस्तु नहीं मान पाते। उन्हें अपना गुलाम या सम्पत्ति नहीं मान पाते। तब उन्हें लाचार, परावलम्बी, बचकाने बनाए रखने में हमारी कोई रुचि भी नहीं होती। क्योंकि वे शारीरिक रूप से बड़े हो जाते, इसलिए हम चाहते कि वे दूसरे अर्थों में भी बड़े हो जाएँ। और तब अपनी तरफ

से बच्चे भी जल्द से जल्द स्वतंत्र, सक्रिय और स्वावलम्बी बनना चाहते। और क्योंकि तब वे जीवित गुड्डे-गुड्डियों या पालतू जीवों के रूप में हमारे लिए निकम्मे सिद्ध होते, हम जल्द से जल्द बढ़ने में उनकी पूरी मदद भी करते।

कल्पना करें कि इंसानों के आकार में भी अगर उतना ही अन्तर होता जितना कुत्तों में होता है, और सामान्य वयस्क एक से सात फीट तक लम्बे होते। तब हम बच्चों के छोटेपन को शायद प्यारा-प्यारा नहीं मानते। तब आकार मात्र एक अवस्था, एक स्थिति भर होती, जैसे गंजापन या बहुत बालों वाला होना, मोटा या पतला होना होता है। ऐसे में किसी का नन्हा होना हमें कुछ भावनाओं को महसूस करने का, या उनकी विशेषताओं को लेकर पूर्वनिर्धारित निष्कर्षों तक पहुँचने का संकेत नहीं बन जाता। इससे न ही यह तय होता कि हमारे उनके साथ कैसे रिश्तें हों।

बच्चों की एक और विशेषता जो हमें उन्हें प्यारा-प्यारा मान मुस्कुराने या स्नेहमय आँखों से उन्हें देखने पर बाध्य करती है, वह है उनकी "निष्कपटता"। इससे हमारा क्या अर्थ है? आंशिक रूप से हमारा मतलब सिर्फ इतना भर होता है कि वे अज्ञानी और अनुभवहीन हैं। पर अज्ञानता तो आशीष नहीं, मात्र दुर्भाग्य है। बच्चे जिस प्रकार अपने आकार को लेकर भावनात्मक नहीं होते, उसी प्रकार अपनी अज्ञानता को लेकर भी भावनात्मक नहीं होते। वे अज्ञानता से बचना चाहते हैं। वे जो कुछ हो रहा है उसे जानना चाहते हैं। अगर वे माँग करें और अगर हमसे सम्भव हो तो अज्ञानता से निकलने में हमें उनकी मदद करनी चाहिए। पर बच्चों की निष्कपटता से हमारा अर्थ कुछ और भी होता है। वह है उनकी आशावादिता, उनका दूसरों पर भरोसा करना, उनका आत्मविश्वास, उनकी यह भावना कि पूरी दुनिया उनके सामने खुली पड़ी है। उनके सामने तमाम सम्भावनाएँ हैं। और यह कि जो वे नहीं जानते वे जान सकते हैं। जो वे नहीं कर पाते उसे सीख सकते हैं। ये गुण किसी भी व्यक्ति में वांछनीय हैं। पर जब हम इन सबको "निष्कपटता" का नाम दे देते हैं और उन्हें केवल बच्चों से जोड़ देते हैं, मानो वे इससे बेहतर जानने लायक हैं भी नहीं, तो यह केवल अपनी हताशा और नैराश्य को ढँकने का बहाना भर होता है।

आज बॉस्टन सार्वजनिक बाग में मैं कुछ शिशुओं को देख रहा था। ऐसा मैं अक्सर करता हूँ। वे चलना सीख रहे थे। एक समय था जब मैं उनके फूहड़पन, उनके असन्तुलन और टेढ़ी-मेढ़ी चाल को प्यारा माना करता था। पर अब मैंने इसे एक दूसरी दृष्टि से देखने की कोशिश की है। छोटेपन की ही तरह अनाड़ीपन में भी कुछ प्यारा-प्यारा नहीं होता। अगर किसी वयस्क को हम यूँ इतनी मुश्किल से, इतने अटपटे ढंग से चलते पाते तो हम उसे विकलांग मानते। हम उसके प्रयासों पर न मुस्कुराते, न हँसते और न ही ऐसा कर खुद

को दाद देते। बच्चों को देखते समय मन में ये विचार उठते रहे। मैं खुद भी जब किसी बच्चे को तन्मयता से काम करता देखता हूँ तो ठीक यही सोचता हूँ कि वह बेहद प्यारा लग रहा है। मैंने खुद को याद दिलाया कि "वह बच्चा प्यारा लगने की कोशिश नहीं कर रहा। वह खुद को प्यारा मान भी नहीं रहा है। वह तो पूरी गम्भीरता से काम कर रहा है। और यही चाहता है कि आप भी उसे गम्भीरता से लें।"

फिर भी बच्चों को चलना सीखते देखना बड़ा आकर्षक और उत्तेजक होता है। वे इतनी खराब तरह चलते हैं। चलना उन्हें इतना कठिन लगता है, और उनके लिए तो काफी खतरनाक-सा काम भी होता है। *हम* जानते हैं कि अगर वह लुढ़क जाए तो खास हानि नहीं होगी। पर वह यह तथ्य पक्की तरह नहीं जानता। साथ ही उसे गिरना खास अच्छा भी नहीं लगता। अधिकांश वयस्क और कई बड़े बच्चे भी अगर कोई काम इतने अनाड़ीपन से करें जितने अनाड़ीपन से नया-नया चलना सीखने वाला बच्चा करता है तो अपनी कोशिशें तुरन्त बन्द कर दें। पर शिशु लगा रहता है। वह कृतसंकल्प होता है, कठोर मेहनत करता है और खूब-खूब उत्तेजित होता है। चलना सीखने की कोशिश उसके लिए केवल कोशिश और संघर्ष भर नहीं होता। वह उसके लिए एक आनन्ददायक साहसिक अभियान होता है। मैं बच्चे के इस साहसिक उपक्रम को देखते हुए, जो सिर्फ इसलिए एक चमत्कार से कम नहीं हो जाता क्योंकि हम सब भी चलना सीख चुके हैं, उसके संकल्प, साहस और आनन्द के प्रति संवेदनशील बनने की कोशिश करता हूँ। कोशिश रहती है कि उसके छोटेपन, उसकी कमज़ोरी या अकुशलता पर ध्यान न दूँ। मेरे अन्दर की कोई आवाज़ अगर मुझसे कहती है, "अरे, इस प्यारे से बच्चे को उठा लेना, उसे भींचकर गले से चिपटाना और ज़ोरदार चुम्बन देना कितना अच्छा होगा", तो मेरा उत्तर होता है, "नहीं, नहीं कतई नहीं। बच्चा बिलकुल नहीं चाहता कि उसे उठाया, चिपटाया या चूमा जाए। वह तो बस चलना चाहता है। इस वक्त उसका इस बात से कोई वास्ता नहीं है कि यह मुझे कितना पसन्द आ रहा है। वह मेरे या पास खड़े अपने माता-पिता के अनुमोदन या आनन्द के लिए नहीं चल रहा। यह प्रदर्शन सिर्फ उसका है। उसे हमारे प्रदर्शन का कलाकार मत बनाओ। उसे अकेला छोड़ो ताकि वह अपना काम कर सके।"

बच्चों को हम सबसे प्यारा उस वक्त मानते हैं जब वे जो कर रहे होते हैं उसे पूरी गम्भीरता से करना चाहते हैं। हम मन ही मन बच्चे से कहते हैं, "तुम सोच रहे हो कि जो तुम कर रहे हो वह बड़ा महत्वपूर्ण है, पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है। तुम्हारे जीवन में जो कुछ तुम गम्भीरता से लेते हो, उन सबकी तरह यह भी नितान्त गौण-सी चीज़ है।" जब बच्चा बड़ी सावधानी से मिट्टी के घरौंदे बना रहा होता है तो हम बड़ी कोमलता से मुस्काते हैं। हमें लगता है

कि मिट्टी के घरौंदे बकवास हैं और उसकी सारी मेहनत बेकार जाने वाली है (यद्यपि हम चाशनी भरी आवाज़ में उसे कहते हैं कि उसका घरौंदा *बेहद खूबसूरत* है)। पर वह यह नहीं जानता। वह अपनी अज्ञानता के कारण उसी गम्भीरता से काम करता चलता है। मानो उसका काम महत्वपूर्ण हो। हमारे लिए यह सोचना कितना सन्तोषप्रद होता है कि हम बेहतर जानते हैं।

हम बच्चों को उस वक्त भी बेहद प्यारा-प्यारा मानते हैं जब वे अपना अज्ञान या अपनी अदक्षता दर्शाते हैं। हमें उनकी निर्भरता और असहायता बड़ी कीमती लगती है। वे प्रेम की वस्तु होने के साथ सहायता की वस्तु भी होते हैं। जो बच्चे सच में दक्ष और बुद्धिमान होते हैं वे हमें इतने प्यारे भी नहीं लगते। हमें वे उलझन में डालते हैं। हमें उनसे खतरा महसूस होता है। हमें बच्चों का ऐसा व्यवहार पसन्द नहीं आता जो हमारे लिए उन्हें हीन दृष्टि से देखना असम्भव बना दे। और यह बात स्कूल के लिए तो खासतौर से सच है। जिस बच्चे के विषय में उसके शिक्षक यह जानते हैं कि वह वह सब भी जानता है जो शिक्षक नहीं जानते, सच में मुश्किल में फँसता है। हम यह भी जानते हैं कि स्कूलों और पहली जमात के शिक्षकों को उन बच्चों से नफरत होती है जो स्कूल में दाखिल होते समय पढ़ पाते हों। ऐसे में स्कूल उसे कैसे सिखा पाएगा? जब हम किसी छोटे से बच्चे को कोई काम बड़ी अच्छी तरह करता पाते हैं, तो अक्सर हमारी प्रतिक्रिया होती है कि उसमें कुछ गड़बड़ है। वह अकाल परिपक्व है, वह बड़ा अजीब-सा है, किसी दिन ज़रूर किसी मुसीबत में फँसेगा, "वह वयस्कों का सा आचरण कर रहा है," "उसका बचपन खो चुका है," आदि-आदि। ठीक ऐसी प्रतिक्रिया वायलिन शिक्षक सुज़ूकी के निहायत काबिल छात्र-छात्राओं को सुनकर कई लोगों की हुई थी। मुझे याद आता है कि समाजशास्त्री ओमार.के.मूर ने मुझे बताया था कि जब उन्होंने पहले-पहल यह साबित किया कि अगर तीन साल के बच्चों को टाइपराइटर और अन्य उपकरण का उपयोग करने, उनके साथ प्रयोग करने की अनुमति दी जाए, तो वे शीघ्र ही खुद से पढ़ना सीख लें (क्योंकि उनसे दृश्य तीक्ष्णता, समन्वय और मानसिक क्षमता की अपेक्षा ही नहीं रहती)। मूर को ढेरों नाराज़गी भरे पत्र मिले जिसमें कहा गया कि वे बच्चों के साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।

बच्चों को अकुशल बने रहना उतना ही नापसन्द है जितना अज्ञानी बने रहना। वे उन सारे कामों को करना और बखूबी करना सीखना चाहते हैं जिन्हें वे बड़ों को करता देखते हैं। यही कारण है कि उन्हें स्कूल इतना निराश करते हैं। स्कूलों में कुछ भी महत्वपूर्ण करना सीखने का या वास्तव में कुछ करने का मौका भी उन्हें बिरले ही मिलता है। लगता है कि बचपन की पैरवी करने वाले संरक्षकों का बच्चों की अकुशलता में निहित स्वार्थ है जिसे वे अक्सर "बच्चे को बच्चा बने रहने देने" का नाम देते हैं।

13. बच्चे प्यारेपन को कैसे भुनाते हैं

एक बार एक आदमी ने मुझसे कहा, "मेरे दो छोटे बच्चे हैं और मुझे वे बेहद प्यारे लगते हैं। मुझे उन्हें प्यारा मानने में कोई बुराई भी नज़र नहीं आती।" मैंने उससे कहा कि शायद प्यारा मानने के बावजूद वह जिस तरह जीता है और अपने बच्चों से जैसा आचरण करता है उसका कोई बुरा असर उन पर नहीं पड़ता हो। उसको उसके बच्चों के साथ देखे बिना इस विषय पर मैं कुछ भी बता नहीं सकता। फिर भी बच्चों को प्यारा-प्यारा मानने की वृत्ति बहुत खतरनाक है।

क्योंकि इससे अव्वल तो वह उन्हें अमूर्त दृष्टि से देखता है। यह अमूर्तता वास्तविक समझ, सहानुभूति और प्रेम की शत्रु है।

जब कभी कोई व्यक्ति किसी दूसरे को एक अनूठे इंसान के रूप में न देखकर उसे एक किस्म के इंसान का उदाहरण मानता है, जैसे उसे विख्यात व्यक्ति, काला, यौन प्रतीक, महान इंसान, कलाकार, सन्त या कुछ भी और मानकर देखता है, तो वह उस व्यक्ति को कमतर बना डालता है। और तब उनके बीच किसी प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध पनपना भी असम्भव हो जाता है। यही हम बच्चों के साथ उस वक्त करते हैं जब हम उन्हें प्यारे-प्यारे, आराध्य या निष्कपट मान बैठते हैं। हम नज़रों के सामने खड़े बच्चे की जगह बचपन की उस कल्पना को ले आते हैं जो हमारे दिमाग में होती है। फिर हम उसी छवि से निपटते हैं। इस प्रकार का लेबल किसी पर चस्पाँ करते वक्त हम उसमें कुछ ऐसी जादुई विशेषताएँ लाद देते हैं जो कभी बुरी, तो कभी अच्छी होती हैं।

जिस समाज में शारीरिक सौन्दर्य की पूजा होती हो, जैसे हमारा समाज करता है, वहाँ हम महज़ व्यक्ति की दिखावट के आधार पर तमाम जादुई धारणाएँ बना लेते हैं। पुरुष अक्सर उन महिलाओं के साथ ऐसा करते हैं जिन्हें वे बेहद सुन्दर मानते हैं। एक सुन्दर युवती को देख नौजवान यह मान लेते हैं कि साधारण नज़र आने वाली लड़कियों की तुलना में वह अधिक तेज़, अधिक मस्त, कोमल, स्नेहमई और भावनात्मक है। जबकि सम्भवतः सच इसका विपरीत भी हो सकता है। सौन्दर्य किसी महिला के चरित्र को जितना अच्छा बना सकता है उतना ही बुरा भी। अगर वह नौजवान उस सुन्दर लड़की से

प्रेम सम्बन्ध बना ले और पाए कि वह दूसरों से अधिक बेहतर नहीं है तो सम्भवतः उसे निराशा हो। लगे कि उसे छला गया है। वह शायद पीड़ा से कह उठे कि "मेरा विश्वास था कि तुम दूसरों से बेहतर हो। तुमने मेरी आशाओं को ध्वस्त कर डाला!"

कुछ ही समय पहले *सायकॉलजी टुडे* नामक पत्रिका में एक अध्ययन के परिणाम छपे। अध्ययन में लोगों को कुछ अपरिचित लोगों के चित्र दिखाए गए और उनसे पूछा गया कि वे उस व्यक्ति के चरित्र के विभिन्न पक्षों के बारे में क्या सोचते हैं। (अगर परीक्षण में शामिल किन्हीं लोगों ने यह कहा हो कि यह अनुरोध निहायत बेहूदा है तो आलेख में इस बात का कोई ज़िक्र नहीं किया गया था।) जैसी उम्मीद की जा सकती है लोगों ने अधिक आकर्षक दिखने वालों के सम्बन्ध में सकारात्मक अटकलें लगाईं। दूसरे परीक्षणों और लम्बे अनुभव ने भी यह सिद्ध किया है कि यह बात शिक्षकों के लिए भी सच है। अमूमन वे मानते हैं कि सबसे सुन्दर बच्चे अधिक कुशाग्र, हुनरमन्द, बेहतर व्यवहार करने वाले और स्वाभाविक नेतृत्व क्षमता वाले होते हैं। वे ऐसे बच्चों से अधिक उम्मीदें रखते हैं। और उन्हें अधिक आसानी से माफ भी कर देते हैं। यह बात स्कूल जाने वाला हरेक बच्चा जानता है कि प्यारे लगने वाले बच्चे अपनी तमाम हरकतों के बावजूद सज़ा या डॉट से बच जाते हैं। जबकि साधारण शक्ल-सूरत वाले बच्चों के साथ ऐसा नहीं होता।

बच्चे को एक अमूर्त आदर्श में बदल देने के बाद कई माता-पिता व शिक्षक उसे ह्यूस्टन स्थित रॉकेट नियंत्रण केन्द्र से चन्द्रमा की ओर दागे गए किसी रॉकेट के रूप में देखते हैं। वे बच्चे के लिए एक प्रक्षेप-पथ (जीवन) पहले से मानचित्रित कर लेते हैं। इसके बाद वे लगातार जाँचते हैं कि वह सही पथ पर बढ़ रहा है या नहीं। ज़रा अन्देशा हुआ कि वह पथ से भटक रहा है कि वे विचारने लगते हैं कि उसे पथ पर बनाए रखने के लिए किसी रॉकेट (मनोवैज्ञानिक) से प्रोत्साहन देना चाहिए या किसी रॉकेट (शिक्षण विशेषज्ञ) से धक्का लगाना चाहिए। क्या वह सही पथ पर है? क्या उसकी रफ्तार समय सारिणी के अनुसार है? क्या उसका दृष्टिकोण सही है?

कुछ दूसरों का कथन है कि एक बच्चे को उसी रूप में देखना-समझना चाहिए जो वह वर्तमान में कर रहा है, सोच रहा है और महसूस कर रहा है। जिस हद तक उपरोक्त कथन का अर्थ "बच्चे सम्भावित वयस्क नहीं हैं, वे तो बच्चे हैं" से लिया जाता है, मैं इस कथन से सहमत हूँ। परन्तु दुर्भाग्य से बाल्यावस्था के कई हितैषी दरअसल इस कथन का अर्थ इससे कहीं अधिक मानते हैं। बच्चों को लेकर उनकी सुनिश्चित धारणाएँ हैं। और वे बड़ी आसानी से उस हेय दृष्टिमय भावनात्मकता में बहक जाते हैं जिसका मैं वर्णन कर चुका हूँ। अक्सर

ये वे ही लोग होते हैं जो हमें बताते हैं कि बच्चे वयस्कों की तुलना में कहीं अधिक बुद्धिमान, सुन्दर, मानवीय (जो उनका पसन्दीदा शब्द है), प्रसन्नचित्त, सदाचारी, शुद्ध तथा सन्तुलित होते हैं। ऐसे कथन बच्चों को हतोत्साहित करते हैं या हानि पहुँचाते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति जो छोटा-सा, शक्तिहीन, अज्ञानी, चिन्ताग्रस्त और भ्रमित हो यह सुनना पसन्द नहीं करेगा कि यही उसके जीवन का श्रेष्ठतम समय है।

यह सब लिखने के पहले मैं बॉस्टन सार्वजनिक बाग में अप्रैल की सुबह की खिली धूप में टहलकर लौटा हूँ। वहाँ मैंने कई माताओं को अपने नन्हे बच्चों के साथ देखा था। इन्हें हम अमूमन ठुमककर चलने वाले स्तर के बच्चे कहते हैं। उनके उत्साह और ऊर्जा, आसपास की दुनिया से मिलने वाले उनके आनन्द को देखते हुए मैंने सोचा कि अगर प्रकृति ने ऐसा कोई जीव बनाया होता जो ताउम्र तीन या चार वर्ष के बच्चे के समान स्वस्थ व आत्मविश्वासी होता, तो प्रकृति ने दुनिया का सर्वश्रेष्ठ पालतू जीव रच डाला होता। यह सच है कि ऐसा प्राणी दूसरे पालतू पशुओं की तरह सक्रिय या लालित्य लिए नहीं होता, पर वह उनसे कहीं अधिक बुद्धिमान और प्रशिक्षित करने योग्य होता और हमें तरह-तरह से खुश कर पाता। अगर ऐसे स्थाई रूप से बच्चे रूपी महापालतू जीव सच में होते तो उनसे ऐसा व्यवहार भी उचित ही होता। किन्तु नन्हे शिशु हमेशा ही तीन साल के कोमल, प्यारे-प्यारे, चिपटाने योग्य, परावलम्बी जीव नहीं बने रहते। उनके सामने उनका अपना जीवन होता है जिसमें वे तमाम रूप धरते हैं। अतः हमें कोई अधिकार नहीं कि हम शुरू में उनसे ऐसा व्यवहार करें जिससे कि उनके किसी भी भावी रूप को कोई क्षति पहुँचे या वह रूप कमतर बन जाए। "बच्चे तो बच्चे हैं, वयस्क नहीं" वाला कथन दोधारी तलवार-सा है। वह हमें एक भूल से निकालता है तो दूसरी में पहुँचा भी सकता है। इसलिए क्योंकि बच्चा "बालक" भी है *और* भावी वयस्क भी। ज़ाहिर है कि ऐसे में हमें यह अधिकार भी नहीं कि हम उससे ऐसा व्यवहार करें मानो *वर्तमान में जिस व्यक्ति के रूप में वह है उसके अतिरिक्त उसका कोई रूप होगा ही नहीं।* अगर यह सोचना गलत है - और मैं सहमत हूँ कि यह गलत है - कि हम केवल उसके भविष्य की चिन्ता करें, तो यह मानना भी उतना ही गलत होगा कि उसका कोई भविष्य है ही नहीं।

चौथे दशक के अन्तिम भाग में किसी ने एक विज्ञान गल्प लिखा था। इसमें बच्चे रूपी पालतू जीव थे। इन्हें लेखक ने न्यूट्रॉइड का नाम दिया था। एक ऐसी दुनिया जिसमें आबादी इस कदर बढ़ गई थी कि सरकार कुछ ही बच्चों को पैदा करने की अनुमति देती थी। वैज्ञानिकों ने उन लोगों के सुकून के लिए न्यूट्रॉइड ईजाद किया जो बच्चे चाहते थे। अर्थात् जिन्हें एक अदद बालसम

प्रेम वस्तु की ज़रूरत थी। आज मुझे यह लगने लगा है कि जो लोग इस बात की पैरवी करते हैं कि हमें बच्चों को भावी वयस्कों, भावी चिकित्सकों, वकीलों, उद्योगपतियों आदि के रूप में नहीं देखना चाहिए, वे शायद यह भी कहना चाहते हैं कि हमें उनसे न्यूट्रॉइडों का सा व्यवहार करना चाहिए। यह स्थिति अगर बद्तर नहीं तो बुरी तो है ही।

जब बच्चों को लेकर हमारी पूर्वमान्यताएँ होती हैं, और हम उन्हें भावी सफल वयस्कों या निष्कपट आत्माओं (न्यूट्रॉइड) के रूप में देखते हैं तो हम हमेशा यह जाँचते रहते हैं कि वे हमारे विचारों से कितना मेल खाते हैं। जब वे उस चरित्र को जीते हैं जो हमने उनके लिए लिख रखा है तो हम बेहद प्रसन्न होते हैं; पर जब वे ऐसा नहीं करते तो हम चिन्ताग्रस्त, निराश या क्रोधित हो जाते हैं। इस नज़रिए की भर्त्सना करना उस समय आसान होता है जब यह ऐसे माता-पिता का हो जो अपने बच्चों के विषय में बेहद महत्वाकांक्षी हों, जो अपने बच्चों को सफलता की दिशा में धकियाते हैं ताकि वे उसका श्रेय स्वयं ले सकें और यूँ अपने जीवन का औचित्य भी सिद्ध कर सकें। पर अमूर्त आदर्श से तुलना करने की वृत्ति उन लोगों में भी विद्यमान होती है, अलबत्ता उसका रूप कुछ भिन्न होता है, जो अपने बच्चों को प्यारा-प्यारा मानते हैं।

जब हम बच्चों को प्यारा-प्यारा मानते हैं तब हम उनके प्यारेपन का उपयोग खुद में एक ऐसी भावना जगाने के लिए करते हैं जो हमें सुख देती है और उन पर गर्व करने का मौका देती है। यह बात अपने आप में ही काफी घटिया है। किन्तु बात इससे भी आगे बढ़ती है, और बच्चे का यह शोषण आपसी शोषण का रूप ले लेता है। जब हम बच्चे का शोषण करते हैं तो हम उसे हमारा शोषण करना भी सिखाते हैं। हम उसके प्यारेपन का शोषण करते हैं और वह हमारी इस ज़रूरत का शोषण करता है कि वह हमें प्यारा लगे। वह काफी छुटपन में ही सीख लेता है कि जब वह हमसे कुछ खास तरह का व्यवहार करेगा तो हम प्रसन्न होंगे और जब वह ऐसा नहीं करेगा तो आहत या नाराज़। अगर यह बात महज़ ऐसे आचरणों से सम्बन्धित होती जैसे खाना खा लेना, चीज़ें न तोड़ना, या बिलौटी की पूँछ न खींचना तो शायद इसमें खास हानि भी नहीं थी। परन्तु अमूमन मामला इतना सीधा-सरल नहीं होता। बच्चा यह तो समझ लेता है कि हम उससे कुछ उम्मीद रखते हैं, कुछ चाहते हैं, पर वह उम्मीद दरअसल है क्या, इस बारे में वह अनिश्चित रहता है। अगर वह बेहद मजबूत और स्वावलम्बी हो तो शायद वह इस मसले पर अधिक सोच-विचार न करे। पर अगर वह ऐसा नहीं है तो वह यह जानने की कोशिश ज़रूर करेगा कि जो खेल वयस्क उसके साथ खेलना चाहते हैं, उसके गुर क्या हैं।

वयस्क बच्चे का उपयोग एक प्रेम वस्तु के रूप में चाहते हैं। वे चाहते हैं कि

बच्चा उस आदर्श प्यारे से बच्चे का चरित्र निभाए। पर अक्सर वयस्क इससे भी कुछ अधिक चाहते हैं। जो व्यक्ति यह कहता है कि वह बच्चों से बेहद प्यार करता है, दरअसल वह केवल या वास्तव में यही कहना चाहता है कि उसे बच्चों *से* प्यार की दरकार है। वह शायद ठीक उसी प्रकार आलोचना रहित, माँग रहित, बिना शर्तों के सम्पूर्ण प्रेम की चाहत रखता है जो किसी शिशु को अपनी माँ से चाहिए होता है। शायद वह भूमिका की अदला-बदली चाहता है जिसमें वह स्वयं बच्चा बन जाए और बच्चा अभिभावक। उनसे वह कुछ ऐसा चाहता है जो उसे किसी ने दिया ही नहीं है। सम्भव है कि वह बच्चे में अपने सपनों के आदर्श प्रेमी को तलाश रहा हो।

ऐसी स्थिति में एक अदृश्य सत्ता संघर्ष शुरू हो सकता है। जब बच्चा यह समझ ले कि वयस्क को उससे क्या चाहिए, तो वह ऐसा भी कर सकता है कि वह वयस्क को वह दे ताकि उसे बदले में इसका पुरस्कार मिले। या फिर वह यह जानने के लिए कि आगे क्या होता है, वयस्क को वह न देने का रास्ता अपनाए जो उसे चाहिए। वह तब इसी के साथ लुकाछुपी का खेल शुरू कर सकता है। अगर बच्चे को प्रेम करने के लिए एक अदद वस्तु की बेहद ज़रूरत है तो वह इसे न पाने पर विनती करेगा, लालच देगा, सौदेबाज़ी करेगा। यहाँ तक कि धमकाएगा भी। और जल्द ही बच्चा यह भी सीख लेगा कि वह वयस्क की ज़रूरत पूरी करने में जितनी देर करेगा, उसे उतना ही ज़्यादा फायदा हो सकता है। कम से कम उस हद तक तो वह जा ही सकेगा जिसके बाद वयस्क यह खेल खेलना बन्द कर दे। बच्चा इस हद को कहाँ तक धकिया सकता है? जो वयस्क बच्चे से एक मुस्कान चाहता हो, उसके साथ खेलना चाहता हो, उसे कब तक रोका जा सकता है? यह हिसाब-किताब और सौदेबाज़ी का खेल काफी हद तक अवचेतन होता है। और कई भावनात्मक स्तरों या अनुमानों पर आधारित भी। पर अगर यह खेल लम्बे अर्से तक चले और बच्चा इन सौदेबाज़ी के खेलों से खुद को बचा न सके तो, एक दूसरे की ज़रूरतों का यह पारस्परिक शोषण निश्चित रूप से उसके चरित्र को नष्ट करेगा।

ऐसा प्यारा बच्चा जल्दी ही खुद द्वारा की जाने वाली सारी चीज़ों को किसी खास तरह के नतीजे के लिए करना सीख लेता है। कम से कम वयस्कों के साथ। वह स्वचेत, मक्कार, हिसाबी और चालबाज़ बन जाता है। दूसरे उसे किस नज़र से देखते हैं वह इस पर ध्यान देने लगता है और अपने बारे में दूसरों के मत को महत्व देने लगता है। एरिक फ्रॉम के शब्दों में वह "बाज़ारोन्मुख" बन जाता है। वह अपने व्यवहार, अपने व्यक्तित्व, यहाँ तक कि स्वयं को भी पुरस्कारों के बदले बेच डालेगा। और तो और प्रशंसा पर उसकी निर्भरता बढ़ती जाएगी। जिस तरह के प्रशंसालोभी हम स्कूलों में बनाते हैं, वह ठीक वैसा ही

बनेगा। कई बच्चे स्कूलों में आने के काफी पहले ही ये गुर सीख लेते हैं। मैं अक्सर सार्वजनिक स्थलों पर बच्चों को वयस्कों के लिए इसी प्रकार का नकली विनय, प्यारी-प्यारी मुस्कानें, झूठी हँसी का प्रयोग करते देखता हूँ। ऐसा बच्चा उन अर्थों में मानव सम्बन्धों में माहिर बन जाता है जिनमें मानवीय रिश्तों को एक स्पर्धा के रूप में देखा जाता है। ऐसी स्पर्धा जिसमें वह यह देखता है कि कौन किसका ज़्यादा से ज़्यादा फायदा उठा सकता है।

मेरी कक्षा में एक दस साल की लड़की कुछ ऐसे ही पली-बढ़ी थी। लोगों ने मुझे बताया कि छुटपन में वह एक नृत्यशाला में जाया करती थी। वहाँ नन्हे बच्चों को खूबसूरत परिधानों में सजाकर उनसे वयस्कों के लिए प्रदर्शन करवाया जाता था। अभी उसी रोज़ मैंने बॉस्टन ग्लोब में ऐसी ही एक जगह - आर्ट लिनलैटर के "यंग वर्ल्ड" - के बारे में एक आलेख पढ़ाः

> ...निदेशक महोदय अपनी मेज़ के पीछे सजे फ्रेम में मँढ़े चित्रों की गैलरी की ओर बढ़ते हैं। वे हरेक चित्र की ओर संकेत कर उसमें निहित "हमारी लड़कियों" की कथा सुनाते हैं। ये लड़कियाँ विभिन्न नृत्य प्रदर्शनों के दौरान चटकीले, सलमे-सितारे जड़े परिधानों में सज्जित हैं। "हमारी बच्चियों में इतना आत्मविश्वास इसलिए है क्योंकि हम उन्हें हमेशा प्रेम देते हैं। हमारा उनके प्रति व्यवहार कोमल होता है। सभी नृत्य शिक्षिकाएँ व शिक्षक ठीक यही करते हैं। मुझे प्यार से उनका सिर थपकाना, गाल या कान खींचना अच्छा लगता है। मैं इन नन्ही परियों के सामने पिघल जाता हूँ।" उनका कहना था कि अगर कोई महिला यह कहती है कि "मैं अपनी नन्ही बिटिया के लिए क्या कर सकती हूँ" तो मैं उन्हें बताता हूँ कि मैं उनकी बिटिया को, खासकर अगर वह शर्मीली हो, हज़ार लोगों के सम्मुख मंच पर खड़ी कर सकता हूँ, जहाँ वह बेहिचक एक सुरीले पंछी की तरह गीत गा सकती है। वह इतना सुन्दर गाएगी, इस कोमलता से नाचेगी कि उसके माता-पिता, शिक्षक और निदेशक तक आँसुओं से भीग उठेंगे। [मेरी टिप्पणीः अखबार में छपी इस कथा की तर्ज़ में ऐसा कुछ नहीं था जो यह संकेत देता कि लेखक को इस सब में कुछ आलोचना लायक लगा हो। आलेख की शैली वाहवाही की ही थी।]

मेरी कक्षा में पढ़ने वाली बच्ची बेहद खूबसूरत थी। हमारे स्कूल में पढ़ाने वाली सभी शिक्षिकाओं और शिक्षकों ने मुझे बताया कि वह बेहद प्यारी है और मुझे भी बड़ी अच्छी लगेगी। मैंने पाया कि वह बेहद दुखी, क्रोधित, अप्रिय, स्वयं से घृणा करने वाली और स्वयं का विनाश करने वाली बच्ची थी। ज़्यादातर

समय वह ऊँची आवाज़ में दूसरे बच्चों पर रौब जमाती रहती। और जब बच्चे इससे थक जाते, उसका कहा मानने से इंकार करते या उसकी उपेक्षा करते तो वह मुँह बिचकाती या मुँह फुला लेती और रो पड़ती। मैं जैसे-जैसे उससे परिचित होता गया, मुझे साफ लगने लगा कि ताउम्र उसने ऐसा कोई सम्बन्ध जाना ही नहीं था जो पारस्परिक शोषण का न हो। शायद उसके सम्पर्क में आए सभी वयस्क, जैसे नृत्य निर्देशक, माता-पिता, अपने मन में स्नेह की ऊष्मा जगाने और प्रेमाश्रुओं से अपनी पलकें भिगोने के लिए उसके नन्हेपन और प्यारेपन का शोषण करते रहे हों। और वह बालिका भी इन विशेषताओं का उपयोग वयस्कों से जो पाना चाहती हो, उसे पाने के लिए करती रही होगी। लोगों से निपटने का उसे एक ही तरीका आता था - सम्मोहन का तरीका। और जब यह तरीका असफल हो जाता तो उसकी प्रतिक्रिया होती - आँसू और क्रोध। और अब जब वह प्यारी-प्यारी नहीं रही थी, मिठाई के शौक के कारण मोटी, आलसी और निष्क्रिय हो चुकी थी, सम्मोहन का अस्त्र अब काम नहीं करता था। पर उसके पास और कोई चारा ही नहीं था। उसे तो बस सम्मोहन ही आता था।

ऐसे बच्चे कैसे वयस्क बनेंगे? वे कैसा समाज बनाएँगे? दूसरों से अनुमोदन पाने की अपनी कभी सन्तुष्ट न होने वाली भूख को कैसे तुष्ट करेंगे?

कई लोग ऐसे धूर्त्त, कृत्रिम, सम्मोहक आचरण को "बचकाना" कहते हैं। यह तो शिशुओं का असम्मान है। शिशु "बचकाने" नहीं होते। कम से कम साल भर की उम्र तक वे बेहद गम्भीर होते हैं। वे हँसना-खिलखिलाना पसन्द करते हैं। पर जब हँस नहीं रहे होते तो संजीदा, स्पष्ट और बिलकुल प्रत्यक्ष होते हैं। वे साँठगाँठ करने वाले, सम्मोहक, चालबाज़ नहीं होते। हम कह सकते हैं कि अपने नन्हेपन और असहायता के बावजूद इस उम्र में वे बड़े होने के बाद जैसा आचरण करेंगे उसकी तुलना में अधिक बड़प्पन का आचरण करते हैं। पर तब उन्हें "बचकाना" व्यवहार सीखना पड़ता है। ऐसा व्यवहार कुछ बच्चे घर में सीखते हैं, तो कुछ स्कूलों में। दूसरी माताओं की ही तरह एक माँ ने अपनी बिटिया के ऐसे व्यवहार की चर्चा करते हुए मुझसे कहा कि उनकी बिटिया ने ऐसा कृत्रिम, नखराला और बेवकूफी भरा आचरण स्कूल जाने के बाद ही सीखा। उसने दूसरे बच्चों को ऐसा करते देखा, यह भी पाया कि अधिकांश शिक्षकों के साथ ऐसा आचरण काम करता है। साथ ही वह स्वयं इतनी चिन्ताग्रस्त रही कि उसे ऐसे आचरण की ज़रूरत लगी। ऐसे दबावों का सामना करते हुए अपनी ईमानदारी और साहस को बनाए रखना बच्चों के लिए कठिन होता है। साथ ही ईमानदार और साहसी बच्चों को अक्सर अड़ियल, ढीठ और

उद्दण्ड कहा जाता है। और ज़्यादातर बच्चे कुछ समय बाद सीधे हो, लकीर के फकीर बन जाते हैं।

मैंने जिन सामान्यतः तेज़, सक्षम, मध्य-वर्गीय पहली जमात के लड़के-लड़कियों को पढ़ाया है उन्होंने इस तरह का "बचकाना" आचरण वयस्कों को छकाने के लिए, परेशानी से बचने के लिए या मनचाहा पाने के लिए सीखा था। जब कभी उन्हें मुझसे दबाव महसूस होता, उन्होंने अपना काम पूरा न किया होता या उन्हें समझ न आता कि मैं क्या चाहता हूँ या उन्हें लगता कि जो मैं चाहता हूँ वे कर नहीं पाएँगे, तो वे कुछ ठुमककर चलने लगते। उनकी आवाज़ ऊँची या रुआँसी हो जाती और वे बचकानी "बालभाषा" का उपयोग करने लगते। सौभाग्य से उन्हें जल्दी ही समझ आ गया कि मुझे इससे अधिक खराब कुछ और लगता ही नहीं। उन्होंने अपनी चालों का मुझ पर इस्तेमाल करना बन्द किया। हाँ, वे कभी-कभार मुझे छेड़ते ज़रूर हैं।

संक्षेप में, बच्चों को प्यारा-प्यारा मानते वक्त हम उन्हें अमूर्त बनाते हैं। एक आदर्श छवि का जामा पहना देते हैं। उन पर फैसले सुनाते हैं। उनका शोषण करते हैं। और तो और उन्हें हमारा और एक-दूसरे का शोषण करना भी सिखाते हैं। तब वे मुस्कानों और पुरस्कारों के लिए खुद को बेचना भी सीखते हैं। यह उनके लिए और हमारे साथ उनके रिश्तों के लिए हर तरह से खराब है।

14. प्यार हर चीज़ का उपचार नहीं हो सकता

ऐसे स्थानों में भी जहाँ बच्चों का अपने जीवन पर काफी नियंत्रण होता है - जैसे स्कूलों, शिविरों, खेल के मैदानों में - वहाँ भी एक खास किस्म के बच्चे से परेशानी होती है। ऐसे बच्चे से जो दूसरों को परेशान करे, छेड़े, गलतियाँ निकाले, उन्हें जाँचे, धौंस जमाए या चोट पहुँचाए। जॉर्ज डेनिसन ने अपनी पुस्तक *द लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन* में फर्स्ट स्ट्रीट स्कूल के एक ऐसे ही बच्चे का ज़िक्र किया है। बच्चे का नाम था स्टैनली। वह लगभग बारह साल का था और जहाँ कहीं भी गया था, हमेशा कठिनाइयों में ही उलझा था। फर्स्ट स्ट्रीट स्कूल के शिक्षकों को अधिकारियों ने कहा कि अगर स्टैनली उनके स्कूल में नहीं जमता तो उसके लिए कोई दूसरा रास्ता बचेगा ही नहीं। और उसे किसी तरह के बन्दीगृह में ही भेजना पड़ेगा। स्कूल के दूसरे बच्चों ने वयस्कों से बार-बार अनुरोध किया कि स्टैनली को दाखिला न दिया जाए क्योंकि वह उनके स्कूल को तोड़-फोड़ देगा। किन्तु वयस्कों ने स्टैनली को दाखिल किया, इस उम्मीद में कि स्कूल उसकी मदद कर सकेगा। पर बच्चों का अन्दाज़ सही था। स्टैनली को स्कूल वह मदद नहीं दे पाया जिसकी उसे ज़रूरत थी (अगर यह उसकी ज़रूरत थी तो)। और जब तक उन्होंने स्वयं को इतना कठोर बनाया कि वे स्टैनली को बाहर निकालें, स्टैनली ने उस स्थान को लगभग पूरी तरह नष्ट ही कर डाला।

हर्ब स्निट्ज़र अपनी पुस्तक *टुडे इज़ फॉर चिल्ड्रन, नम्बर्स कैन वेट* में ऐसे ही चार उद्दण्ड लड़कों का ज़िक्र करते हैं। हर्ब लूइस वैडहैम स्कूल में पढ़ाते थे और उन चार लड़कों का नाम था स्टीव, डॉनल्ड, टिम तथा जेसन। स्टीव एक ऐसा लड़का था जिसे न कोई प्रेम करता था, न चाहता था। गोल-मटोल स्टीव सबके मज़ाक का निशाना था और जैसा अक्सर होता है वह खुद भी दूसरों के साथ क्रूरतम मज़ाक करता था। डॉनल्ड चिन्तित माता-पिता द्वारा लगातार धकेला जाने वाला तेज़-तर्रार, पर आकार में छोटा लड़का था। वह अपने कृत्यों से उस स्नेह और अनुमोदन को दूर धकेल देता था जिसकी उसे ज़रूरत और इच्छा रहती थी। उसमें उस वस्तु का अभाव था जिसे एरिक फ्रॉम "अन्तःशक्ति" (पोटेन्सी) का नाम देते हैं। इस कमी को पूरा करने की कोशिश में वह दूसरों पर रौब जमाने की कोशिश करता था। टिम एक दुबला-पतला, बेढंगा-सा

लड़का था जिसकी माँ "...बेहद व्यावहारिक सोच वाली थी। तीन बड़ी बहनें थीं। और पिता थे, जो मौजूद होते हुए भी अधिकतर नामौजूद रहते थे, क्योंकि वे बेहद कल्पनाशील, सफल और कटिबद्ध वैज्ञानिक थे। वे 'एब्सेंट माइन्डेड प्रोफेसर' की कहावत को चरितार्थ करते थे।" संक्षेप में टिम एरिक एरिकसन के इस कथन का एक जीवित उदाहरण था कि कई बच्चे खुद को न के बराबर महसूस करने के बदले एक खराब या मृत व्यक्ति बनना पसन्द करते हैं। और जेसन छह आतंकवादियों के गिरोह का सरगना था। उसे क्या सालता था यह हमें कभी पता ही नहीं चला। उसकी समस्या जो कुछ भी रही हो, वह हमेशा दूसरे बच्चों का जीना हराम किए रहता था। नीचे दिए गए उद्धरण में कुछ बच्चे स्कूल की बैठक में जेसन और दूसरे दादाओं की चर्चा कर रहे हैं:

> मुझे लगता है धौंस जमाकर हम दूसरों को बलि का बकरा बनाते हैं ताकि खुद बच जाएँ।
>
> पर बलि के बकरे की दरकार आखिर क्यों है?
>
> लगता है हमारी ही तरह, ये सारे दादा यहाँ आने के पहले कहीं और दूसरों के हाथों बलि का बकरा बने होंगे। सो यहाँ भी उन्हें इसी बात का डर रहा होगा।
>
> अगर उन्हें यह महसूस ही न होता हो कि कोई दूसरा उनकी परवाह या उनसे स्नेह करता है...।
>
> ऐसे इंसान से कोई स्नेह भला कैसे करे जो हमेशा आपको ठोकता-पीटता हो या आपको धमकाता हो?
>
> खैर तुम इसका नाटक तो कर ही सकते हो। यानी जब वे किसी दूसरे को मारें-पीटें तो पास खड़े हँस सकते हो, या उन्हें रुला सकते हो। अगर तुम यह नाटक करो कि तुम उनके पक्ष में हो तो शायद अगली बार तुम बख्श दिए जाओ।
>
> मैं तो उन्हें आते देखते ही दूर भागता हूँ (एक छोटा बच्चा)।

हँसी और तब आक्रोश:

> मुझे तो इसमें हँसने की कोई बात नहीं लगती। मुझे तो यह बड़ा दुखद लगता है। मतलब उन दादाओं के लिए बुरा लगता है। लोग उन्हें पसन्द करने का नाटक करते हैं, ताकि उनकी पिटाई न हो, या भागकर छिप जाते हैं, या बिलकुल सहमकर खड़े हो जाते हैं और मनाते रहते हैं कि दादाओं की नज़र उन पर न पड़े। यह सच में दुख की बात है। क्या पता अगर उन्हें यह विश्वास हो जाए कि

> हम सच में उन्हें पसन्द करना चाहते हैं, तो क्या हो? क्या इससे फायदा नहीं होगा?
>
> आखिरकार वे भी तो समुदाय का ही हिस्सा हैं।
>
> मैं वास्तव में उन्हें नापसन्द भी नहीं करता हूँ।
>
> हम सब जो कहना चाह रहे हैं वह शायद यह है कि दरअसल हम उनकी परवाह करते हैं। उन्हें यह नहीं लगना चाहिए कि हम सिर्फ अपनी ही परवाह करते हैं। हमें सचमुच उनकी परवाह है और इसलिए यह बैठक बुलाई गई है ताकि हम उनकी मदद कर सकें। तो क्या इस बात से मदद नहीं मिलेगी, मेरा मतलब है यह जानकर कि हम क्यों मिल रहे हैं...। [पृष्ठ 142]

भूल करने वालों के प्रति यह नज़रिया बड़ों या वयस्कों के दृष्टिकोण की तुलना में कहीं अधिक माफ करने वाला और उदार है। फिर भी लगभग सालभर बाद बच्चों ने जेसन को बाहर निकालने के पक्ष में मत दिए। पर जेसन की अपने सहपाठियों द्वारा दर्शाए गए सरोकार के प्रति क्या प्रतिक्रिया रही? उसने बच्चों से कहा कि वह हर्ब स्निट्ज़र पर ज़ोरदार हमला करना चाहता है और अगर वह ऐसा कर पाए तो वह शायद धौंस जमाना छोड़ सके।

कुछ साल पहले क्लॉड क्रौफोर्ड नाम का मेरा एक मित्र डगलस, मिशिगन की एक सरकारी प्राथमिक शाला का प्रधानाचार्य था। वहाँ वह एक कार्यक्रम का अध्यक्ष भी था जो उस समय तक एक सफल कार्यक्रम के रूप में चला जब तक कि दक्षिण पन्थी अल्पसंख्यकों के एक संगठन ने उसे खत्म नहीं कर दिया। ये अल्पसंख्यक एक परम्परागत शाला में दाखिल हुए जिसकी खुली कक्षाएँ थीं।

क्लॉड ने मुझे एक लड़के के बारे में बताया जो पाँचवीं कक्षा में पढ़ता था। यह लड़का गरीब था और अपने परिवार के साथ हाल ही में एपलेशिया पहाड़ों से मिशिगन आया था। वह पढ़ाई में बहुत अच्छा नहीं था। अतः उसे अपनी आयु से एक या दो साल निचली कक्षा में दाखिल किया गया। इस तरह वह अपनी कक्षा का सबसे बड़ा बच्चा था। दाखिल होते ही वह अपनी कक्षा का सबसे बड़ा दादा और परेशान करने वाला बच्चा सिद्ध हुआ। दूसरे सभी बच्चे उसे नापसन्द करते थे और उससे डरते थे। कुछ समय तक शिक्षिका अपने स्तर पर स्थिति से निपटने की कोशिश करती रहीं। पर जल्द ही वे उसे प्रधानाचार्य के पास भेजने लगीं। कुछ संवादों के बाद क्रौफोर्ड उस लड़के को समझा सका कि दूसरे बच्चों का उसे नापसन्द करने और उससे दूर रहने का कारण शायद यह नहीं था कि वह गरीब था या उसके बोलने का तरीका भिन्न था। वे शायद इसलिए ऐसा करते थे क्योंकि उसका आचरण इतना खराब था। और अगर वह अपना

व्यवहार बदले, सहायक और दोस्ताना व्यवहार करे तो बच्चे भी शायद अधिक दोस्ताना व्यवहार करने लगें। लड़के ने कहा कि वह कोशिश करेगा। कुछ समय के लिए स्थितियाँ बदलीं। बारबार प्रधानाचार्य के कमरे में जाना बन्द हुआ। शिक्षिका कहने लगीं कि दूसरे बच्चों के साथ उसका व्यवहार बेहतर होने लगा है। परन्तु करीब एक महीने बाद लड़का अपने पुराने आचरण पर लौटने लगा। वह दूसरों को छेड़ने लगा। वह फिर से क्रौफोर्ड के कार्यालय में लाया गया। उन्होंने कहा, "मैंने सोचा था कि तुमने दूसरों से अच्छा व्यवहार करने का, दोस्ती करने का निर्णय लिया था। और सब कुछ ठीकठाक चल रहा था। पर अब लगता है कि तुमने अपना निर्णय बदल लिया है और सबसे दुश्मनी ही करना चाहते हो?" लड़के ने कहा, "हाँ।" क्रौफोर्ड ने जानना चाहा कि ऐसा क्यों। लड़के ने कुछ सोचकर कहा कि "यही अधिक सुरक्षित तरीका है।"

हो सकता है कि इस कथा में कुछ और भी हो, जिसे मैं नहीं जानता या क्रौफोर्ड भी न जानता हो। सम्भव है कि दूसरों से दोस्ती करने की राह में उस लड़के को ऐसी बाधाओं का सामना करना पड़ा हो जिन्हें वह पार न कर पाया हो, या उसे लगा हो कि वह उन बाधाओं को लाँघ ही नहीं सकता। यह भी हो सकता है कि जैसे-जैसे वह दूसरे बच्चों को जानने लगा हो उसे (और शायद दूसरे बच्चों को भी) यह लगने लगा हो कि वह दूसरों से तमाम अर्थों में भिन्न है - और हमारी ही तरह बच्चों को भी भिन्न और अपरिचित चीज़ें पसन्द नहीं आती हैं। सम्भव है कि वह अपनी गरीबी के प्रति अधिक सचेत हो गया हो। उसे शर्म आने लगी हो। हो सकता है कि दूसरे बच्चों के माता-पिता ने यह सुझाया हो कि वह बड़ा-सा लड़का उनके लिए उपयुक्त दोस्त नहीं है। गरीबी और अनुभव की कटु समझ से सम्भवतः उस लड़के को लगा हो कि जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाएगा उसमें और दूसरों के बीच का फासला कम नहीं होगा बल्कि बढ़ता ही जाएगा। यह भी सम्भव है कि अगर उसने धीरज और आत्मविश्वास रखा होता तो स्थितियाँ अन्ततः सुधर जातीं।

पर इतना स्पष्ट है कि उसने सोची-समझी असफलता की रणनीति अपनाई। इसे कई बच्चे और बड़े भी स्कूल में या स्कूल के बाहर अपनाते हैं ताकि वे स्वयं को उस निराशा, अपमान, शर्म व पीड़ा से बचा सकें जो उस वक्त महसूस होती है जब आप अपने लक्ष्य को हासिल करने में असफल रहते हैं। सम्भव है कि इस लड़के ने लूइस वैडहैम्स के दादाओं की तरह सोचा हो कि जो वह ठीक से कर सकता है उसे ही करते जाना अधिक सुरक्षित है। यानी दुश्मन बनाना, लोगों के मन में अपने प्रति घृणा और भय जगाना उसके लिए अधिक आसान था, बनिस्बत वह करने के जो उसने कभी नहीं किया था। ऐसा करना वह जानता नहीं था और उसे भरोसा ही नहीं था कि वह ऐसा कर पाएगा। यानी

दोस्ताना व्यवहार करना, ऐसा आचरण करना कि लोग उसे पसन्द करें, उस पर विश्वास करें।

समरहिल में 1965 की वसन्त में स्कूल की आमसभा में एक आठ साल के बच्चे ने एक ग्यारह वर्षीय बच्चे पर धौंस जमाने का आरोप लगाया। उसकी शिकायत थी कि बड़ा लड़का हमेशा उसके पीछे पड़ा रहता है। उसे चिढ़ाता है, अपमानित करता है, धकियाता और ठोकता है। बड़ा लड़का बैठक की भीड़भाड़ से कुछ दूर दीवार से पीठ टिकाए खड़ा था। सभापति ने उससे पूछा कि शिकायत सच थी या नहीं। बड़े लड़के ने इंकार नहीं किया। इस पर सभापति ने जानना चाहा कि, "तुम इसी लड़के को क्यों सताते हो? तुम्हारी ऐसी शिकायत पहले भी आ चुकी है।" दूसरी आवाज़ें भी उठीं, "हाँ, बताओ तो ऐसा क्यों करते हो?" बड़े लड़के ने बुदबुदाते हुए कहा कि छोटे बच्चे उसका दिमाग खराब कर देते हैं। आधी दर्ज़न आवाज़ों ने इस पर सुझाया, "तो ठीक है। तुम उससे दूर रहो। वह तो तुम्हारा पीछा नहीं करता। अगर तुम्हें उसकी उपस्थिति परेशान करती है तो उसके रास्ते में ही मत पड़ो।" तब किसी ने याद दिलाया कि क्योंकि यह शिकायत पहले भी आई थी, इसलिए इस दादा को हतोत्साहित करने का कोई उपाय ढूँढना होगा। कई तरह की सज़ाओं के सुझाव आए और बुद्धिमानी से नकार दिए गए, क्योंकि उनसे फायदा नहीं नुकसान ही होता। अन्ततः यह तय हुआ कि अगर बड़ा लड़का फिर से सताए तो छोटा तुरन्त आमसभा बुला सकेगा ताकि मामले पर निर्णय लिया जा सके। मुझे यह पता नहीं चला कि इससे उसकी दादागिरी रुकी या नहीं। पर उस समय मुझे लगा कि समरहिल ने दादागिरी की इस समस्या का एक मानवीय और समझदारी भरा तरीका ढूँढ निकाला है। पर अब मुझे इस निष्कर्ष पर शक है। क्योंकि सम्भव यह भी है कि वह दादा जो सबके ध्यान और सरोकार का केन्द्र बना था उसे निश्चित रूप से सज़ा नहीं बल्कि वह मिल सका जो वह दरअसल चाहता था - सबका ध्यान। हाँ, यह तो मिला ही पर उससे अधिक भी बहुत कुछ मिला।

ये विनाशकारी लोग, ये स्टैनली, स्टीव और जेसन, खुद से कहते हैंः मैं बिलकुल निकम्मा हूँ। मुझे कोई पसन्द कर ही नहीं सकता। अगर मैं दोस्ती करने की कोशिश करूँ तो दूसरे बच्चे मेरी इस पहल को नकार देंगे और मैं गधा ही लगूँगा। सो मैं यह कोशिश ही नहीं करूँगा ताकि स्वयं को निराशा, दुख और असफलता से बचा सकूँ। और तो और मैं उन्हें मुझे नकारने की सन्तुष्टि भी नहीं पाने दूँगा। उन्हें यही जताऊँगा कि उनकी दोस्ती पाने योग्य वस्तु तक नहीं है। और मैं जो कुछ भी करूँ अन्ततः ये सारे के सारे मेरे विरुद्ध ही होंगे। सो मैं पहले ही उन्हें इतना सताऊँगा कि वे भविष्य में जो कुछ करें उस सबका

अग्रिम चुकारा हो जाए। अतः यह पहले से जानबूझकर अपनाई गई असफलता की नीति, वैमनस्य की नीति बन जाती है। खुद से घृणा करने वाले ये लोग सोचते हैं कि खुद को साबित करने का, अपने आत्मसम्मान को बचाने का एक ही उपाय है। और वह यह कि मैं उनके द्वारा मेरी "मदद" करने के सारे प्रयासों को पहले ही विफल कर दूँ। क्योंकि मदद करने की यह वृत्ति भी तो यही जताने की कोशिश है कि वे मुझसे कितने बेहतर हैं। अतः जब उस खराब बच्चे को एक बार फिर से स्कूल की आमसभा में चर्चा के लिए हाज़िर किया जाता है (हम जेसन की मदद *कैसे करें*?) तो उसे वह भी मिलता है जिसकी उसे चाह थी। या कम से कम उन तमाम चीज़ों में से जिनके मिलने की वह उम्मीद कर सकता है, इसी की चाहत सबसे ज़्यादा थी। यानी वह बाज़ी पलटने में सफल हो जाता है। सबसे यह अनुरोध करने की बजाए कि मुझे प्यार करो! कृपया प्रेम दो! वे लोग ही उससे विनती करते हैं - हम तुम्हारी मदद कैसे करें? कैसे यह विश्वास दिलाएँ कि हमें तुम्हारी परवाह है? अर्थात् जिस चीज़ को नकारने की उनके पास ताकत है उसकी भीख माँगने के बदले वह स्वयं दूसरों की याचना ठुकराने वाला हठीला, गर्वीला राजकुमार बन जाता है। यह कुछ-कुछ ठुकराए गए प्रेमी की फन्तासी के समान है जिसमें ठुकराया गया प्रेमी अपनी प्रेमिका को गिड़गिड़ाते सुन कुछ दुख और पूरी सख्ती के साथ यह कहकर नकार देता है, "ना, तुम्हें मौका दिया जा चुका है। अब बहुत देर हो चुकी है।" यहाँ यह दिवास्वप्न का खेल है जिसे बैठकों में ये बच्चे खेलते हैं। हर बार जब वे मुसीबत में उलझते हैं, उन्हें इस महान किरदार को निभाने का एक नया अवसर मिलता है। यही तो उनकी एकमात्र ताकत और सन्तोष है।

हमें यह बात साफ-साफ समझ लेनी होगी कि समरहिल, लूइस वैडहैम्स या फर्स्टस्ट्रीट स्कूल जैसी किसी मुक्त या वैकल्पिक शाला में किसी कठोर व परम्परागत शाला की ही तरह पूर्णतः विफल होना सम्भव है। ऐसी किसी शाला में जहाँ स्कूल का तयशुदा काम है सबको परीक्षाओं में अच्छे अंक पाने के लिए तैयार करना, वहाँ जो बच्चा यह नहीं कर पाए वह असफल है। पर जिस शाला का ध्येय बच्चों को खुश रहना, प्रेम करना और दूसरों का प्यार पाना सिखाना होता है वहाँ जो यह नहीं कर पाता वह भी उतना ही असफल है। और सम्भवतः इस प्रकार की असफलता की शर्म और पीड़ा अधिक भी होती है। क्योंकि यहाँ का छात्र वास्तव में स्कूल के उद्देश्यों को खुद भी मानता है। वह प्रेम और आनन्द में सफल होना चाहता है। वह यह भी बखूबी जानता है कि बाकी लोग उसकी मदद भी कर रहे हैं। और फिर भी अगर वह असफल होता है तो वह खुद के अलावा किसी दूसरे को दोषी नहीं ठहरा सकता।

टिम, जेसन, डॉनल्ड जैसे लड़कों में स्नेहमय होने का अहसास जगाने का

शायद कोई रास्ता ही नहीं है। हम शायद सिर्फ इतना भर कर सकते हैं कि उन्हें ऐसे अनुभव उपलब्ध करवाएँ कि वे कम से कम कुछ समय के लिए यह भूल जाएँ कि वे स्नेहिल हैं या नहीं।

किसी स्नातक कक्षा के लिए दिए गए विदाई उद्बोधनों में सर्वश्रेष्ठ भाषण मैंने डेनवर स्थित, कॉलोरैडो रॉकी माउन्टेन स्कूल के डीन पॉल रॉबर्ट्स को देते हुए सुना था। उन्होंने छात्र-छात्राओं के एक ऐसे समूह को जिसमें कुछ बेहद दुखी, गड्डमड्ड, खुद से नफरत करने वाले किशोर-किशोरियाँ थे कहा थाः 1. खुद को स्वीकारो, 2. खुद को भुला दो, 3. कुछ ऐसा करने को तलाशो और उसकी फिक्र और देखभाल करो जो तुम्हें खुद से भी अधिक महत्वपूर्ण लगे। ये सारी की सारी वैसी परम्परागत बातें हैं जिसे किशोर वर्ग उबासियों के साथ सुनता है। पर जो बात दूसरे वयस्कों के मुँह से ऊबाऊ, चाशनी घुली, बेमानी लग सकती थी, उस बार सटीक सत्य में बदल गई। जब डीन रॉबर्ट्स ने उन किशोर-किशोरियों से कहा कि वे स्वयं को वे जैसे हैं वैसे ही स्वीकारें और सब भूल जाएँ, तो वे उन्हें एक ऐसी बात याद दिला रहे थे जिसे ये किशोर स्वयं गम्भीरता से लेते हैं। यह एक ऐसी बात थी जो उन्हें लगातार उलझाए रहती है। इतना कि उनका समूचा ध्यान इसी पर केन्द्रित हुआ रहता है। वह यह कि वे दूसरों की नज़र में कैसे लगते हैं? लोग उन्हें कितना बुरा मानते या समझते हैं? डीन रॉबर्ट्स स्वयं बेहद साधारण शक्ल सूरत वाले हैं। ऐसे चेहरे ही डीन रॉबर्ट्स जैसे लग सकते हैं जो या तो चोट या रोग से बिगड़े हों, या जिन्हें शल्य चिकित्सकों ने कई ऑपरेशनों द्वारा धीरे-धीरे फिर से ठीक किया हो। परन्तु उन्होंने अपनी इस कुरूपता को इतनी सम्पूर्णता से स्वीकारा था कि वे उसे पूरी तरह बिसरा सके थे। और उनके साथ चन्द मिनट बिताने के बाद आप स्वयं भी इस तथ्य को पूरी तरह भूल सकते थे। आपको केवल उनका सौम्य, शान्त, स्नेहिल और दोस्ताना चेहरा ही नज़र आता था। अपने भाषण के प्रारम्भ में उन्होंने अपने बारे में एक मज़ाक कुछ इस मज़ाकिया अन्दाज़ में, बिना किसी दया भाव के सुनाया कि हम सब *उनके साथ* बेहिचक ठहाके मारकर हँस ही सकते थे। उन्होंने बताया कि डेनवर में यह कहावत प्रचलित है कि पॉल रॉबर्ट्स दोगला नहीं है क्योंकि अगर ऐसा होता तो वह अपना वह चेहरा नहीं पहने रहता जो उसका है। जिस ढंग से यह किस्सा सुनाया गया वह अपने आप में मज़ाकिया था। और उसे सुनाने वाला व्यक्ति स्वयं इस कदर कुरूप था कि स्वयं से नफरत करने वाला कोई भी छात्र अपने खराब से खराब दुःस्वप्न में भी उस चेहरे की कल्पना नहीं कर सकता था। इस बात ने उनके शब्दों को बेहद अर्थपूर्ण बना दिया।

ज़ाहिर है कि स्वयं को स्वीकारना और भुला देना तमाम कोशिशों के बावजूद एक आसान काम नहीं है। यही कारण है कि उनकी सलाह का दूसरा हिस्सा

भी इतना महत्वपूर्ण है - करने को कुछ ऐसा ढूँढ लो जिसको तुम बेहद पसन्द करो, जिसकी देखभाल करो, जिसमें खुद को झोंक सको और जो स्वयं तुमसे अधिक महत्वपूर्ण बन सके। मैंने जब बीसवें वर्ष में प्रवेश किया तो मेरे मन में कुछ ऐसी भावना थी कि कोई मुझे खास प्यार नहीं करता और मुझमें कुछ ऐसा है भी नहीं जिसके कारण मुझे चाहा जाए। मुझे भी अपने में ऐसे गुण नहीं दिखते थे जिन्हें मैं पसन्द करूँ और ढेरों ऐसी बातें नज़र आती थीं जो मैं नापसन्द करता था। इस स्थिति से मैं इसलिए नहीं उबरा कि लोगों ने पास बैठाकर मुझे यह समझाया कि मैं ठीक-ठाक बन्दा हूँ और वे मुझे प्यार करते हैं। बल्कि शायद किस्मत और बचाव के सहज बोध से ही मैं ऐसा काम तलाश सका जिसमें मुझे अपनी पूरी ऊर्जा, कौशल और ध्यान लगाना पड़ा। ऐसा काम जो केवल मेरे लिए नहीं वरन् कई अन्य लोगों के लिए भी महत्वपूर्ण था और जिसे अच्छे से करना ज़रूरी था। मेरा पहला काम था सबमरीन अफसर का। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मैं यू.एस.एस. बारबेरो (एस.एस. 317) नामक सबमरीन में काम कर पाया। मेरा दूसरा काम था युद्ध के बाद, छह वर्षों तक विश्व संघीय सरकार के आन्दोलन के साथ। दोनों ही दृष्टान्तों में, और दूसरे दृष्टान्त में तो पहले से भी ज़्यादा, मैं इस तरह के तमाम लोगों के साथ ऐसा कुछ करने में जुटा जो उस वक्त हमें बेहद महत्वपूर्ण और सार्थक लगा था। हमने अपनी समूची ऊर्जाएँ, पूरे कौशल लगाए। और मैं खुद को भूल गया। कम से कम मैं उस "स्व" को भूल गया जिसके साथ मैं बड़ा हुआ था। और जिसे मैंने नापसन्द करना सीखा था। छह वर्षों तक मैंने खूब यात्राएँ कीं। अनेकों लोगों से मिला। उनके साथ समय बिताया। विश्व सरकार पर बोला और लिखा। उसका क्या अर्थ हो सकता है, हम उस लक्ष्य को कैसे हासिल कर सकते हैं, अपने काम से दूसरों को कैसे जोड़ा जाए। हम आन्दोलन की स्थानीय शाखाओं की चर्चा करते, जिन्हें हम बना या चला रहे थे और हमारे सामने तमाम सवाल थे। वित्त का बन्दोबस्त कैसे हो, बेहतर बैठकें कैसे आयोजित हों, नए सदस्य कैसे तलाशें, प्रचार-प्रसार कैसे करें, शेष जनता तक कैसे पहुँचें। मैं ऐसे ही लोगों के साथ चर्चाएँ करता, काम करता और रहता। क्रमशः अहसास हुआ कि हम साथ-साथ काम करने वालों की दोस्ती हो गई है। घनिष्ट मित्रता हो गई है। और वे सभी मुझे सच में *पसन्द करते हैं*। कालान्तर में डीन रॉबर्ट्स की सलाह सुनकर मुझे अहसास हुआ कि मैंने अनजाने ही ठीक यही रास्ता चुना था। क्योंकि मैं सबमरीन या वैश्विक सरकार की ओर अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ सुलझाने नहीं गया था। मैंने तो ये काम इसलिए किए थे क्योंकि मुझे वे करने योग्य लगे थे।

हमारे नाखुश किशोर-किशोरियों के सामने जो समस्या है, उसका यह एक अंश मात्र है। आज समाज में करने योग्य ऐसे कामों की बेहद कमी है (या इस तरह

की कमी का आभास होता है) जिन्हें कोई व्यक्ति आन्तरिक विश्वास और समूची ऊर्जा के साथ कर सके। हमारे इर्दगिर्द अधिकांश लोग ऐसे काम करते हैं जो वास्तव में बेईमानी भरे या विनाशकारी न भी हों तो भी नीरस, चुनौतीहीन, उबाऊ या बेवकूफी भरे लगते हैं। अच्छे सरोकार और उनसे जुड़े काम इसलिए बेमानी लगने लगते हैं क्योंकि वे पहले से ही असफल या हारे हुए लगते हैं। और जो व्यक्ति स्वयं को हारा हुआ या असफल पाता हो, वह अगर दूसरे थके-हारे लोगों से मिलकर, आगे भी हारने में ही जुटे तो भला किसी की क्या मदद हो सकेगी। विश्व सरकार के लिए मैंने जो कुछ किया वह मुझे इसलिए उत्तेजक और सार्थक लगा था क्योंकि कई वर्षों तक हम सबको यह विश्वास था कि अगर हमने अपना काम ठीक प्रकार किया तो विश्व सरकार की स्थापना वास्तव में सम्भव है।

इन दुखी और विनाशकारी युवाओं को जिस चीज़ की आवश्यकता है वह यह नहीं कि वे अपने पीड़ादायक बचपन को फिर से जी सकें। बल्कि ज़रूरत इस बात की है कि वे उससे दूर भाग सकें और किसी दूसरी ही तरह की ज़िन्दगी जी सकें। उन्हें जीने के लिए एक छोटी अधिक सुरक्षित दुनिया की नहीं, बल्कि शायद एक बड़ी दुनिया की ज़रूरत है। शायद हम सबकी तरह उन्हें भी यदाकदा एक छोटी, सुरक्षित दुनिया की भी ज़रूरत हो सकती है जहाँ वे छिप सकें, आराम कर सकें, अपनी ताकत व अपने साहस को फिर से पा सकें। पर यह आश्रय, यह सुरक्षित दुनिया उन्हें सिर्फ कभी-कभार ही चाहिए। पर अधिकांशतः किसी भी पीड़ित व्यक्ति को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, इतनी बड़ी दुनिया दरकार है जहाँ वह ऐसा काम तलाश सके जिसे करते हुए वह स्वयं को स्वीकारे और फिर भुला सके।

एक लड़का जिसे मैं निकट से जानता हूँ बचपन में एक छोटे से स्कूल में पढ़ने गया। वह स्कूल शायद लूइस-वैडहैम्स या समरहिल की तरह संवेदनशील तो न था, पर बुरा भी न था। वह दस, ग्यारह और बारह साल की उम्र में वहाँ बहुत खुश नहीं था। चिन्तित और नेकनियत वयस्क हमेशा उसके इर्दगिर्द घूमते रहते थे और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से जानना चाहते थे कि मामला क्या है और वे किस तरह उसकी मदद कर सकते हैं। पर इससे उसे कोई मदद नहीं मिलती थी। बल्कि वह बेहद बैचन हो ऐसी जगह में जीना चाहता था जहाँ लोग इतने व्यस्त हों कि उन्हें यह परवाह करने की फुर्सत ही न हो कि वे सुखी हैं या दुखी। क्योंकि अगर लोग उसकी पीड़ा को भूल पाते, या उसकी उपेक्षा कर पाते, तो शायद वह खुद भी यही कर पाता।

कई किशोर-किशोरियों को, खासकर जो दुखी हों, एक ऐसे अवसर की ज़रूरत

या इच्छा होती है जिसमें वे दूसरों की मदद कर सकें। पीटर मान के शब्दों में सबको यह महसूस करने के अवसर की ज़रूरत है कि वे "ज़िन्दा हैं, उपयोगी हैं और लोगों को उनकी ज़रूरत है।" लिन कन्वर्स, जिन्होंने पैगी ह्यूज़ के साथ मिलकर चार्ल्सटन (बॉस्टन के एक मुहल्ले में) साहसिक - कबाड़ - निर्माण खेल मैदान प्रारम्भ किया था, ने मुझे बताया कि वे स्कूल छूटने के बाद एक रिहाइशी परियोजना के खाली मकान में कुछ बच्चों के साथ काम करती थीं। उस समूह में भी कुछ दादा किस्म के परेशान करने वाले बच्चे थे। पर उन्होंने बताया कि इनमें से दो हट्टे-कट्टे, जीवन्त, तेज़-तर्रार और असम्भव आठ या नौ साल के दादा उस वक्त मददगार, सहकारी और प्रसन्न बच्चों में बदल जाते थे जब उन्हें वास्तव में कुछ कठिन व भारी काम मिलते थे। पर वह सच में कठिन काम होना चाहिए था। न कि उन्हें व्यस्त और शैतानी से दूर रखने के लिए सोची गई कोई परियोजना जिसे वे उनकी मदद के बिना खुद ही कर सकती थीं। पर अगर उन्हें कुछ वज़नी सामान उठाना या लाना होता, या ऐसा काम करना होता जिसमें कौशल और ऊर्जा की आवश्यकता होती तो ये लड़के बड़ी चतुराई से, बिना थके तब तक जुटे रहते जब तक वह काम पूरा न हो जाता। इसके बाद वे कुछ सुस्ताते और अपनी खुराफातें शुरू कर देते।

एक नई जगह पर फिर से शुरुआत करना हम सबकी ज़रूरत है। खासकर तब जब सब कुछ गड़बड़ा गया हो। जब छोटे बच्चे कुछ कर रहे हों और सब कुछ गड़बड़ा रहा हो तो वे कहते हैं "रुको!" यह वे किससे कहते हैं? वे कहते हैं काल या समय से। वे कहते हैं वापस मुड़ो। मुझे एक मौका और दो। मैं अपने जीवन में उस वक्त को याद करता हूँ जब मुझे बड़ी शिद्दत से लगा था कि समय व परिस्थितियों ने मुझे एक और अवसर दिया है। कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद, जो मुझे कतई अच्छी नहीं लगी थी, मैं तीन महीने के लिए की वैस्ट स्थित सबमरीन स्कूल में गया। वह मुझे और भी खराब लगा। तीन महीने बाद मैं कनेक्टिकट, न्यू लन्दन के सबमरीन अधिकारियों के स्कूल में गया। पतझड़ की खूबसूरत, साफ व ठण्डी शाम थी। हम पहाड़ी पर बसे अविवाहित ऑफिसरों के रिहाइशी आवासों की ओर बढ़ रहे थे कि मन में एक साहसिक अभियान का, भावी नए जीवन की आशा का भाव जगा। ऐसा नहीं था कि मुझे यह लगा हो कि मैं भविष्य में हमेशा ही प्रत्येक परिस्थिति पर काबू कर सकूँगा। पर मन में कहीं एक दूसरे अवसर को पा लेने का भाव ज़रूर जगा था। उस वक्त मेरे मन में एक ऐसी दुनिया की ओर बढ़ने का भाव था जहाँ लोग मुझे नहीं जानते थे। इसलिए मुझे लेकर उनके मन में कोई तयशुदा विचार नहीं थे। सम्भव है कि दुखी बच्चों व किशोरों को एक बार जी लिए गए बचपन या प्रेम से भी अधिक ऐसे किसी अवसर की आवश्यकता हो।

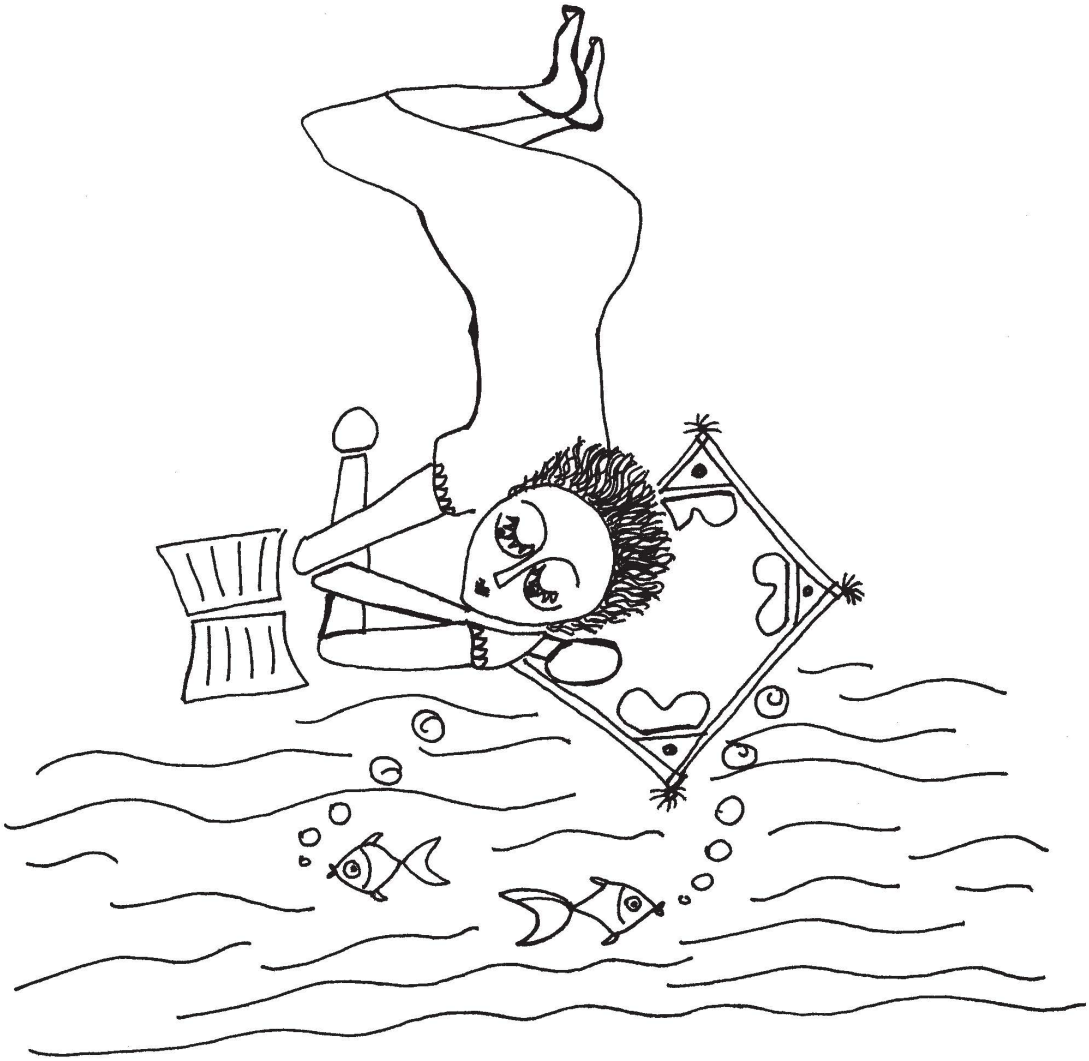

15. जो बच्चों की आवश्यकताएँ हैं, वही हमारी भी हैं

जो लोग मानते हैं कि वे बच्चों को समझते हैं और उनके पक्ष में हैं, वे अक्सर कुछ इस तरह बोलते हैं जिससे मैं स्वयं भी एक समय पर सहमत था। पर अब मुझे वह तरीका भ्रमित, भावनात्मक और भ्रान्त करने वाला लगता है। वे कहते हैं कि बच्चों को "बच्चा बने रहने की अनुमति" की ज़रूरत है या "बच्चा बने रहने की आज़ादी" की ज़रूरत है या "बाल्यावस्था को अनुभव करने" की आवश्यकता है। वे कहते हैं कि बच्चों को "विकसित होने का समय" चाहिए होता है या उन्हें "बच्चों की दुनिया" में जीना चाहिए ताकि वे साधिकार एक मानव के रूप में स्वयं को अनुभूत कर सकें। वे ऐसे लोगों की बात करते हैं जो "बचपन को नष्ट" करने की कोशिश करते हैं या "बच्चों से उनका बचपन" छीन लेते हैं।

इन शब्दों और विचारों में जो भूल है वह यह कि इनसे बच्चों या बाल्यावस्था का जो निहितार्थ निकलता है वह सही नहीं है। और जितनी सच्चाई इन शब्दों या विचारों में है, वयस्कों पर भी वह उतनी ही लागू होती है जितनी बच्चों पर। जिस हद तक बच्चों को उस सब की वास्तव में आवश्यकता है जिसका संकेत ये शब्द देते हैं, उस हद तक हम सबको भी इसकी ज़रूरत है। चाहे हम युवा हों या बड़े हों, सभी को यह दरकार है। जिस हद तक हमारा समाज या संस्कृति हम वयस्कों को उन आवश्यकताओं को उपलब्ध करवाने से मुकरता है, उसी हद तक बच्चों की आवश्यकताएँ भी नकारी जाती हैं। जब हम बच्चों की आवश्यकताओं की और उनके गुणों की बात कुछ इस तरह से करते हैं कि वे केवल बच्चों पर ही लागू हों, उस वक्त हम उन्हें तुच्छ बना डालते हैं। उन्हें अमान्य बना डालते हैं। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि तब हम यह सुनिश्चित कर डालते हैं कि उनकी आपूर्ति कभी होगी भी नहीं। क्योंकि तमाम भावनात्मक गुहारों या उपदेशों के बावजूद कोई भी समाज अपने बच्चों व युवावर्ग को उससे बेहतर जीवन स्तर नहीं उपलब्ध करवा सकता जो वह अपने वयस्कों को उपलब्ध करवाता है। अगर हम सोचते हैं कि जिस चीज़ का अभाव हम वयस्कों को सालता है उसे बच्चों को उपलब्ध करवाने का कोई रास्ता निकाला जा सकता है तो हम खुद को ही बहला रहे हैं।

"बच्चों की दुनिया", "बाल्यावस्था को अनुभूत करना", "बच्चा बने रहने की

अनुमति पाना", और ऐसे ही तमाम दूसरे जुमले मानो यह संकेत देते हैं कि बाल्यावस्था वह समय या अनुभव है जो हमारे शेष जीवन से बिलकुल भिन्न है, और वह हमारे जीवन का श्रेष्ठ हिस्सा है या होना चाहिए। पर ऐसा है नहीं। और यह बात बच्चों से बेहतर कोई नहीं जानता। *बच्चे बड़े होना चाहते हैं।* और जिस समय वे बढ़ रहे होते हैं वे अपने आसपास कुछ समय के लिए ऐसे वयस्क चाहते हैं जिन्हें बड़े होने की अवस्था पसन्द है, जो बड़े हो जाने को एक खोज अभियान या साहसिक अभियान मानते हैं, न कि वह प्रक्रिया जिसमें किसी जन्नत के बाग (गार्डन ऑफ ईडन) से भगाया जाता हो। वे नहीं चाहते कि वयस्क उनसे कहें, जैसा वैकल्पिक शिक्षा अभियान से जुड़े लोग अक्सर कहते सुने जाते हैं, कि "ये तुम्हारे जीवन के सर्वश्रेष्ठ दिन हैं। हम इन्हें तुम्हारे लिए बचाएँगे। दुष्ट दुनिया को दूर रखेंगे, ताकि वह इन्हें बिगाड़ न सके।" इससे अधिक हतोत्साहित करने वाली बात भला क्या होगी? क्योंकि बड़े तो वे होंगे ही, चाहे वे बड़ा होना चाहें या न चाहें। ज़ाहिर है वे यह भी चाहेंगे कि बड़ी उम्मीद से भविष्य को देखा जाए। अपने बड़ों से वे दरअसल यह सुनना पसन्द करेंगे कि आगे चलकर जीवन बेहतर होगा। वे ऐसा सन्देश चाहेंगे जैसा मेरे एक मित्र ने मेरे तीसवें जन्मदिवस पर मुझे भेजा था, "सर्वश्रेष्ठ तो अभी आना बाकी है।" और वह सही था। मेरा बेहतर समय उसके बाद ही प्रारम्भ हुआ। और मुझे अब भी यही लगता है।

अठारह-उन्नीस वर्ष के किशोर या अपने जीवन के तीसरे दशक के शुरुआती दौर के युवक-युवतियों ने मुझे अक्सर बताया है कि स्कूल छोड़ने के बाद वे "बच्चों के साथ" काम करना चाहते हैं। अगर मैं उनसे जानना चाहूँ कि ऐसा क्यों, तो वे कुछ यूँ कहते हैं, "क्योंकि बच्चे इतने ईमानदार, इतने खुले, इतने स्नेही होते हैं। क्योंकि उनके साथ आपको मुखौटे नहीं लगाने पड़ते। आपको झूठ बोलने, कपटी बनने या ढोंग करने की ज़रूरत नहीं होती। आप अपने स्व को, अपनी भावनाओं को दर्शा सकते हैं।" संक्षेप में, आप स्वयं बच्चा बने रह सकते हैं। किन्तु बच्चा होने का यह मतलब नहीं होता है, दूसरे बच्चों के बीच भी नहीं, और कई बच्चे ऐसे बिलकुल नहीं होते। कुछ पाँच साल के बच्चे, कई बार तो उनसे भी छोटे बच्चे, वयस्कों की तरह जकड़े हुए, सतर्क, कपटी, हिसाबी, भावनाएँ जताने से डरने वाले, जोड़-तोड़ बैठाने वाले और चालबाज़ होते हैं। उनके द्वारा किया गया सब कुछ, हँसने-मुस्कुराने समेत, किसी तरह के प्रभाव या पुरस्कार के लिए होता है। पहली कक्षा, यहाँ तक कि शिशुशाला तक में अन्य मानव समाजों की ही तरह अपनी एक आन्तरिक व्यवस्था होती है। इसमें लोकप्रिय और अलोकप्रिय गुट होते हैं। अपनी दुश्चिन्ताएँ होती हैं। यहाँ भी निपट अकेले लोग होते हैं जो स्नेह और प्यार के भूखे हों और लगातार यह कोशिश करते हों कि दूसरे उन्हें पसन्द करें। या जो यह समझना चाहते

हों कि आखिर लोग उन्हें पसन्द क्यों नहीं करते। बच्चे चाहे उम्र में बेहद छोटे ही क्यों न हों, उनका सामाजिक जीवन वयस्कों के जीवन से खास भिन्न नहीं होता। "बच्चों की दुनिया" कोई स्वर्ग नहीं है।

बावजूद इसके, बच्चों का साथ बड़ा रोचक, पुनर्जीवित करने वाला तथा ताज़गी भरा होता है। लेकिन साथ ही थकाने वाला भी होता है। यह समझ पाना कठिन नहीं है कि क्यों युवा अपने स्कूली अनुभव और अपने आसपास की दुनिया के बारे में जान लेने के बाद, मोह भंग की स्थिति में बाल्यावस्था के आशा व स्वास्थ्य रूपी फौव्वारे से जी भरकर पीना चाहते हैं। पर अगर यह सच है, तो दरअसल उन्हें शुल्क उन बच्चों को देना चाहिए जिनके साथ वे "काम करते" हैं न कि इसके उलट होना चाहिए। ऐसा मैं बड़ों को कभी-कभार कहता भी हूँ। मैंने कई बार इन युवक-युवतियों से जानना चाहा है कि वे वास्तव में क्या कर सकते हैं। बॉटने के लिए उनके पास कैसा ज्ञान या कौशल है, जो इतना रोचक और उत्साहवर्धक हो कि बच्चे खुद-ब-खुद उनके पास चले आएँ। कई बार इस सवाल का एक बढ़िया उत्तर उनके पास होता है। पर अक्सर कोई जवाब नहीं होता। "बच्चों के साथ काम करने" की इच्छा रखने वाले युवक-युवती, अधिकांश परम्परागत स्कूली शिक्षकों की तरह, समाज पर निर्भर होते हैं कि समाज उन्हें काम करने के लिए बन्दी श्रोताओं के रूप में बच्चे उपलब्ध करवाए।

"बच्चा बने रह पाने की आज़ादी" वह जुमला है जिसका अक्सर उपयोग होता है। इस जुमले की ध्वनि कुछ ऐसी है - कुछ खास काम करने पर बच्चा "बच्चा होता है" पर कुछ दूसरी तरह के काम करने पर वह बच्चा नहीं रहता। दृष्टान्त में शायद यह कहना बेहतर हो कि स्थिति के अनुरूप बच्चा किसी न किसी पल ऊर्जावान, या प्रसन्न, या दुखी या नाराज़, या तन्मय, या ज़िन्दादिल, या ऊब से भरा, या भयभीत, या विद्रोही होता है। पर वह प्रत्येक दृष्टान्त में बच्चा ही रहता है। बड़े होने के मेरे निजी अनुभव में मुझे कुछ ऐसे लोग मिले और ऐसे अनुभव हुए जिन्होंने मुझे खुशी दी, आत्मविश्वास दिया और ताकत दी। जबकि दूसरे लोगों या अनुभवों से मुझे ऊब हुई। मैं चिन्तित, भयभीत भी हुआ। आज की तरह तब भी मुझे और सकारात्मक अनुभवों की इच्छा होती थी। और नकारात्मक अनुभव मैं नहीं चाहता था। पर जो कुछ भी मेरा रहा हो उसमें ऐसा कुछ नहीं था जिसे मैं "बच्चा बने रहने की आज़ादी" से जोड़ सकूँ। अपने बचपन में मैं बच्चा था। और भला हो भी क्या सकता था?

"बाल्यावस्था अनुभव करने की अनुमति" - एक स्तर पर ये शब्द सच्चे हैं, पर कहने लायक फिर भी नहीं हैं। हम किसी भी उम्र में उस उम्र के होने का अनुभव करते ही हैं। ज़ाहिर है कि इन शब्दों का उपयोग करने वाला कहना कुछ और

ही चाहता है। इन शब्दों का अर्थ होता है कि कुछ चीज़ें करने की छूट और दूसरी चीज़ें करने से बचाना, या कहें, करने की *मनाही* होना। अर्थात् वयस्क अपने स्तर पर यह तय करेंगे, और अक्सर बच्चों की राय जाने बिना ही कि कौन-सा अनुभव उनके लिए उचित है और कौन-सा नहीं। बच्चों के लिए इसका मतलब यह होगा कि हमेशा वयस्क ही यह तय करें कि उनके लिए श्रेष्ठतम क्या है। और फिर उसे वह करने दें, या करवाएँ। मुझे लगता है कि यह ठीक नहीं कि बच्चों को सिर्फ वही अनुभव उपलब्ध करवाए जाएँ जो हमें उनके लिए उचित लगे हैं। इसकी बजाए हमें बच्चों को विभिन्न अनुभव उपलब्ध करवाने चाहिए (केवल ऐसे अनुभवों को छोड़कर जो दूसरों को तकलीफ पहुँचाएँ)। और फिर उन्हें स्वयं यह तय करने देना चाहिए कि उन्हें सबसे अच्छा क्या लगता है। दूसरों के लिए भी हम ऐसा ही करते हैं।

"बच्चों को बड़े होने का समय देना।" एक तरह से ये शब्द बेमानी हैं। कोई व्यक्ति किसी दूसरे को समय कैसे *दे सकता है?* हम बेकार में किसी दूसरे का समय लेने या खराब करने से तो बच सकते हैं, पर यह तो समय देना नहीं होता। अगर हम चाहते हैं कि बच्चा केवल उम्र, आकार या शारीरिक शक्ति में ही नहीं बढ़े बल्कि समझदारी, जागृति, दयालुता, आत्मविश्वास, कुशलता और आनन्द में भी बढ़े, तो इसके लिए उसे समय की नहीं बल्कि ऐसे अनुभवों और अवसरों की ज़रूरत होगी जो इन विशेषताओं को पनपने दें। साथ ही उसे वह अधिकार भी चाहिए होगा जिनसे वह स्वयं को उन अनुभवों से बचाए या दूर रखे जो इसका उलटा करते हैं। दरअसल अधिकांश बच्चों को अपने जीवन में ऐसे प्रतिकूल अनुभव होते ही हैं - आतंक, अपमान, तिरस्कार, अनन्त दुश्चिन्ताएँ, छल, विश्वास का अभाव, विकल्पों का अभाव, धकियाए जाने का अनुभव। और एक ऐसे जीवन का अनुभव जिसमें नीरस, निरर्थक और बारम्बार दोहराए जाने वाले बोझिल कामों की भरमार हो। हम सबको इससे बच पाने के अधिकार की इतनी ज़रूरत है कि इसका अभाव हमें बीमार बनाता जा रहा है।

हमें अक्सर बताया जाता है कि किसी बच्चे को इस अहसास की भी ज़रूरत है कि वह अपने आप में एक इंसान है। यह सही है, किन्तु हममें से किसको इसकी ज़रूरत नहीं होती? फिर हमारी उम्र कुछ भी क्यों न हो। सम्भव है कि इन शब्दों का आंशिक अर्थ यह है कि बच्चों को यह नहीं लगना चाहिए कि उन्हें लगातार किन्हीं मनमाने मापदण्डों से नापा-तोला जा रहा है, या आँका जा रहा है। पर यह तो सबका अधिकार है। बाईबल की सूक्ति है, "दूसरों को मत आँक, ताकि तुझे भी न आँका जाए।" इसका अर्थ है कि दूसरों के कृत्यों को हम आँक सकते हैं, पर उन्हें करने वाले मानव को नहीं; क्योंकि मानव को पूरी तरह जाना नहीं जा सकता, नापा नहीं जा सकता। इसका अर्थ यह भी

है कि एक समूचे मानव की सम्पूर्णता और रहस्य को यूँ घटाने का अधिकार किसी को नहीं है, जैसा कि अक्सर हमारे शिक्षक, परीक्षक और मनोवैज्ञानिक करते हैं। वे हमें किसी लेबल, संख्या समूह या श्रेष्ठता के क्रम में कहीं रख देते हैं। हममें से प्रत्येक का यह अधिकार है कि हम मानें कि हम केवल वही नहीं हैं जो हमें दूसरे मानते हैं। फिर चाहे वे विशेषज्ञ ही क्यों न हों। हम केवल अमुक प्रजाति, या आकार, या रंग, या पेशे, या आय वर्ग, या पद, या आई.क्यू., या व्यक्तित्व स्वरूप भर नहीं हैं। बल्कि हमारा एक ऐसा तत्व भी है जो इससे कहीं विशाल, अज्ञेय और अधिक महत्वपूर्ण है। और यह विश्वास करना भ्रामक होगा कि हमें यह अधिकार नहीं दिए जाने के बावजूद वह किसी प्रकार बच्चों को दिया जा सकता है - कि बच्चों को सम्मान का अधिकार होगा, उन्हें अपनी अनूठी व अलंघनीय अस्मिता का अधिकार होगा, जबकि किसी दूसरे को यह अधिकार हो ही नहीं।

16. "अधिकार" शब्द के उपयोग पर

आजकल "बाल-अधिकारों" पर बहुत कुछ कहा और लिखा जा रहा है। कई लोग इस शब्द का उपयोग उस अर्थ में करते हैं जिससे हम सब सहमत हैं, और मानते हैं कि प्रत्येक को ये मिलने चाहिए - "एक अच्छे घर का अधिकार" या "अच्छी शिक्षा का अधिकार"। यानी यहाँ अधिकार शब्द का उपयोग उसी अर्थ में होता है जिस अर्थ में हम वयस्कों के अधिकारों की बात करते हैं। मैं कहता हूँ कि कानून को वह आज़ादी बच्चों को भी देनी और सुनिश्चित करनी चाहिए जो वह वयस्कों को देता है, ताकि वे विकल्पों में से स्वयं चयन करें, कुछ खास तरह के काम कर सकें और कुछ खास तरह की ज़िम्मेदारियाँ स्वीकार सकें। इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जो कोई भी बच्चों को कुछ करने के लिए प्रदत्त इन अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा, कानून उनके *विरुद्ध* कार्यवाही करेगा। अर्थात् जब कानून मेरे मतदान का अधिकार सुनिश्चित करता है, तो वह यह नहीं कहता है कि मुझे मत देना ही होगा। वह मुझे एक मत नहीं दे रहा होता है। बल्कि कानून केवल यह कहता है कि अगर मैं मत देने का निर्णय लूँ, तो वह उन सबके विरुद्ध कार्यवाही करेगा जो मुझे मत देने से रोकने की चेष्टा करेंगे। मुझे अधिकार प्रदान करते समय कानून यह नहीं कहता है कि मुझे क्या करना ही होगा। कानून मात्र इतना कहता है कि वह दूसरों को यह अनुमति नहीं देगा कि वे मुझे ऐसा करने से रोकें।

यह बात सुनिश्चित आय को पाने के अधिकार पर लागू नहीं होगी। क्योंकि यहाँ हम राज्य या सरकार द्वारा कुछ *करने* की बात कर रहे हैं। जब हम यह कहते हैं कि लोगों को एक सुनिश्चित न्यूनतम आय का अधिकार है तो इसका अर्थ होता है कि राज्य को कानूनन लोगों को यह आश्वासन देना होगा कि एक नागरिक के तौर पर उनकी कम से कम इतनी आय सुनिश्चित की जाएगी। बच्चों को यह अधिकार देने का मतलब होगा कि राज्य जो आय वयस्कों को उपलब्ध करवाए, वही बच्चों और युवाओं को भी उपलब्ध करवाई जाए।

सरकार से वह सुनिश्चित करने को कहना निरर्थक है जो न उसके पास है, न वह उपलब्ध करवा सकती है। राज्य के पास धन है, इसलिए वह यह मुहैया करवा सकता है। राज्य यह वादा भी कर सकता है कि उन लोगों के विरुद्ध कार्यवाही की जाएगी जो उसके नागरिकों को (चाहे वे बच्चे हों या बड़े) स्वेच्छा से चुनने या करने से रोकते हैं। पर सरकार प्रत्येक बच्चे को एक अच्छा घर,

एक अच्छा परिवार सुनिश्चित नहीं करवा सकती। देने के लिए उसके पास ये चीज़ें हैं ही नहीं। वह इन्हें न बना सकती है, न प्राप्त कर सकती है। अगर सरकार सबको यह आदेश देना चाहे कि हरेक को अपने बच्चे को एक अच्छा घर देना ही होगा, तो उसके सामने क्या विकल्प होंगे? सबसे पहले तो यह कौन और किस आधार पर तय करेगा कि कोई घर अच्छा है या नहीं? *लाईफ* नामक पत्रिका में एक केस का उल्लेख हुआ था। इसमें सरकार ने कुछ बच्चों को उनके ऐसे माता-पिता से ले लिया जिन्हें वे बेहद प्यार करते थे और उनके साथ रहना चाहते थे। क्योंकि किसी मनोवैज्ञानिक ने फैसला सुनाया था कि उनका आई.क्यू. का स्तर इतना कम है कि वे एक परिवार का पालन-पोषण करने योग्य नहीं हैं। जबकि माता-पिता परिवार पाल ही रहे थे। एक-दूसरे दृष्टान्त में बच्चों को उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके माता-पिता से जबरन छीन लिया गया था, क्योंकि पड़ौसियों और समुदाय को उनके माता-पिता की जीवन शैली या राजनीति नापसन्द थी। सरकार बड़े विचित्र कारणों से ऐसे निर्णय ले लेती है। और जब सरकार यह तय कर ले कि अमुक घर अच्छा नहीं है तो वह आगे क्या करती है? बच्चे को छीन लेती है? क्या उसके पास इससे बेहतर घर उपलब्ध है? मान लें कि सरकार के यह मानने के बावजूद कि घर खराब है, बच्चा घर छोड़ना न चाहे तो? मान लें कि बच्चे को अपना पुराना घर सरकार द्वारा उपलब्ध करवाए गए नए घर से बेहतर लगे तो? मान लें वह उस "अच्छे" घर में रहने से मना कर दे और बारबार अपने उसी पुराने घर में लौटता रहे जिसे सरकार ने "खराब" घोषित कर दिया था, तो? ऐसे में सरकार उसके पीछे पुलिस भेजेगी ताकि बच्चे को जबरन सरकार के पसन्दीदा घर में ले जाया जाए। और अगर सरकार यह न करना चाहे या कर नहीं सकती हो, तो क्या वह माता-पिता से यह कहेगी, "आपका घर खराब है, इसे अच्छा बनाओ"? और अगर माता-पिता ऐसा नहीं करते हैं या कर ही नहीं सकते हैं, तो सरकार क्या करेगी? उन्हें सज़ा देगी? क्या इससे घर बेहतर हो जाएगा?

हम जो कर सकते हैं, और हमें जो करना चाहिए वह यह है कि यह अधिकार हम बच्चों को दे दें। वे स्वयं ही यह तय करें कि उन्हें उनका घर अच्छा लगता है या नहीं। और अगर उन्हें घर अच्छा न लगे तो हम उन्हें यह अधिकार दें कि वे दूसरा घर चुन सकें। सरकार ये विकल्प उपलब्ध करवाने का निर्णय भले ही ले पर उन विकल्पों को अनिवार्य न बनाए। सरकार को चाहिए कि वह बच्चों को यह अधिकार दे कि वे सरकार द्वारा उपलब्ध करवाए गए विकल्पों के अलावा भी कुछ चुन सकें। सरकार बच्चों को यह अधिकार भी दे कि वे चाहें तो *सरकार को* या माता-पिता को ना कह सकें।

एक अधिकार जो मैं बच्चों को देना चाहता हूँ वह है पैसों की एवज में काम

करने का अधिकार। यह सुनते ही लोग बच्चों को शोषण से सुरक्षित करने की चिन्ता करने लगते हैं। इस विषय पर मैं बाद में कुछ कहूँगा। पर वास्तव में जो कठिन काम होगा वह है बच्चों को भेदभाव से बचाना। जैसा कि महिलाओं और अल्पसंख्यकों के अनुभवों में हम देख ही चुके हैं। अधिकांश स्थानों पर अब कानून यह कहता है कि लोगों को काम पर लगाने में या पदोन्नत करने में प्रजाति, लिंग, व्यक्ति का मूल आदि के आधार पर भेदभाव करना अनुचित है। पर इस कानून को व्यवहार में लागू करना बड़ा कठिन काम है। यह सिद्ध करना भी बड़ा दुरूह है कि जब नौकरी देने वाले ने किसी को नौकरी दी है या पदोन्नत किया है, या दूसरों के बदले अमुक को नौकरी से निकाला है, तो इन निर्णयों का आधार गैरकानूनी रहा है। ज़ाहिर है कि नौकरी देने वाला तत्काल ही "योग्यताओं" की बात करेगा। सारे नौकरी देने वाले बच्चों या युवाओं को नौकरी न देने के तमाम कारण तलाश लेंगे। वे यह कह सकते हैं, जैसा फिलहाल वे पूरी ईमानदारी के साथ कहते हैं, कि वे बच्चों को काम पर इसलिए नहीं लगा सकते क्योंकि उनके पास काम करने की बीमा सुरक्षा नहीं है। और अगर बीमा कम्पनियाँ बच्चों को भी यह सुरक्षा देने लगें तो कानून को उनके विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ेगी।

संक्षेप में, अगर हम बच्चों के लिए काम करने का अधिकार पा भी लेते हैं तो यह सुनिश्चित करना एक कठोर समस्या होगी कि यह एक कागज़ी अधिकार, नाम के वास्ते एक अधिकार न रह जाए। यह भी एक कारण है कि हम इस अधिकार को वास्तविकता में बदलता शायद कभी नहीं देख पाएँगे। फिर बच्चे के एक ऐसे समाज में प्रभावी बनने की बात तो दूर ही है जहाँ इतनी गरीबी, बेरोज़गारी और भेदभाव पहले से ही मौजूद हों।

मैं कई बार कह चुका हूँ कि यह कहना कठिन है कि इन अधिकारों में से कौन-सा अधिकार शेष अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि जब तक एक नहीं दिया जाता, दूसरा दिया ही नहीं जा सकता है। प्रभावी बन पाने के लिए कुछ अधिकार दूसरे अधिकारों के अस्तित्व पर निर्भर हैं। जब कि कुछ दूसरे अपने आप में पूर्ण हैं। पर जैसा वयस्कों के सन्दर्भ में हमने पाया है ये अधिकार एक साथ ही लागू हो पाते हैं। अगर मेरे द्वारा प्रस्तावित समस्त अधिकार उपलब्ध भी हो जाएँ तो ज़रूरी नहीं कि युवा वर्ग उन सबका एक साथ उपयोग भी करना चाहे। सम्भव है वे इनमें से एक या दो को ही चुनें। फिर भी यह सच है कि वे अपने द्वारा चुने गए अधिकारों को तब तक प्रभावी रूप से हासिल नहीं कर सकेंगे जब तक यह सुनिश्चित न हो कि ज़रूरत पड़ने पर वे इन अधिकारों को काम में ला सकते हैं।

उदाहरण के बतौर घर छोड़ने, यात्रा करने या स्वयं अपना घर बनाने के

अधिकार को ही लें। इन अधिकारों का तब तक कोई अर्थ ही नहीं है जब तक बच्चे को पैसा कमाने का या सरकार से न्यूनतम आय पाने का और कानूनी व वित्तीय रूप से स्वयं अपने लिए ज़िम्मेदार होने का अधिकार भी हो। अर्थात् वह बैंक में अपना खाता खोल सके, चैक लिख सके, इत्यादि। पर इस स्थिति में वह बच्चे को चोरी-चपाटी और शोषण से भी नहीं बचा सकेगा (आज कई वयस्क भी ऐसा नहीं कर पाते हैं) जब तक उसे कानून का उपयोग करने और उसके माध्यम से सुरक्षा पाने का अधिकार न हो। इस कानूनी सुरक्षा का भी तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक उसे मताधिकार न हो। सम्भवतः मताधिकार ही सबसे महत्वपूर्ण है और उसे ही सबसे पहले आना चाहिए। व्यावहारिक रूप से देखें तो शायद दूसरे अधिकारों को पाने के पहले इसे पाने की सम्भावना अधिक होगी। साथ ही दूसरे अधिकारों को पाने के लिए भी इसकी ज़रूरत पड़ेगी। किन्तु मताधिकार भी केवल तब ही प्रभावी होगा जब बच्चा अपने माता-पिता की इच्छानुसार मतदान करने के नाजायज़ दबाव से स्वयं की रक्षा कर सकता हो। मैंने पुस्तक के अन्य भागों में कुछ सुझाव दिए हैं। इनके द्वारा कोई समाज या कानून बच्चों की मदद कर सकता है। जब तक बच्चों को घर से निकल पाने की छूट न हो, और निकलकर कहीं जाने का ठौर-ठिकाना ही न हो, तब तक इन सुझावों का प्रभाव भी सीमित रहेगा।

इसी प्रकार अपनी शिक्षा-दीक्षा को स्वयं प्रबन्धित करने का अधिकार भी एक ऐसा अधिकार है जो दिया जा सकता है, और दिया जाना चाहिए। यह दूसरे अधिकारों से कमोबेश स्वतंत्र रूप में लागू किया जा सकता है। कोई कारण नहीं बनता कि हर तरह से अपने माता-पिता पर निर्भर बच्चे को भी यह अधिकार न दिया जा सके या न दिया जाए कि वह स्वयं यह तय करे कि वह स्कूल में क्या, कितना और कब सीखना चाहता है; किस स्कूल में सीखना चाहता है; इसमें कितना समय लगाना चाहता है। पर यह अधिकार भी केवल तब ही प्रभावी रूप से लागू हो सकेगा जब उसके पास अपने माता-पिता के दबावों का प्रतिरोध करने या उनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय हो।

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि समाज एक ऐसा वृहद् कानून पारित कर डाले जिसमें समस्त अधिकार एक पैकेज के रूप में हों। अगर भविष्य में कभी बच्चों को अधिकार मिलते भी हैं तो सम्भवतः वे पारित नियमों या न्यायालयों के फैसलों की एक श्रृंखला द्वारा ही आएँगे, जो एक बार में एक ही अधिकार को प्रभावित करते हों। पर जो लोग बाल अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि अकेले अपने आप में बच्चों के जीवन को बदलने में कोई भी एक अधिकार खास प्रभावी नहीं सिद्ध होगा। अगर हम कुछ अधिकारों को बेहद ज़रूरी मानते हैं तो हमें शायद कुछ दूसरे अधिकारों के लिए भी कोशिश करनी होगी।

17. मताधिकार

मत देने का अधिकार उन सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारों में से एक है जो युवावर्ग को उपलब्ध करवाए जाने चाहिए। यह अधिकार इस बात पर निर्भर नहीं होना चाहिए कि उस बालक या किशोर के पास अन्य अधिकार हैं या नहीं, वह उन्हें इस्तेमाल कर रहा है या नहीं। दूसरे शब्दों में, वह व्यक्ति जो तमाम दूसरे अर्थों में एक बच्चे, एक निर्भर व्यक्ति के रूप में जी रहा हो, उसे भी मताधिकार हो। उसी तरह जैसे उन वयस्कों को भी होता है जो दूसरों पर निर्भर हैं।

यद्यपि हम सम्भवतः हर बार मत देने की आयु को एक या दो वर्ष ही घटाएँगे, फिर भी मैं यह चाहता हूँ कि अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी आयु में मत देने का अधिकार हो। इस अधिकार से कोई भी वंचित न रहे।

लोगों को अपनी सरकारें स्वयं चुनने देने के पीछे जो मुख्य कारण है वह यह नहीं है कि वे विशेषज्ञों से या किसी समूह से बेहतर सरकार चुनेंगे। इसके पीछे कारण यह है कि यह न्याय का मामला है। अगर आपके निर्णय का प्रभाव मुझ पर पड़ने वाला है, तो फिर मुझे भी इस विषय में कुछ कहने का अधिकार होना चाहिए। अगर आप मुझ पर नियंत्रण करने वाले हैं तो आप पर कुछ नियंत्रण मेरा भी होना चाहिए। प्रारम्भिक अमरीकावासियों ने बिना प्रतिनिधित्व पाए कर लगाने को अन्याय माना था। पर बात सिर्फ करों की नहीं है, उससे कहीं अधिक है। किसी समाज के नियमों के अधीन होना उस स्थिति में सबसे गम्भीर अन्याय है जब यह कहने का अधिकार ही न हो कि वे नियम कौन-से होंगे। यह स्थिति भ्रष्टाचार, अत्याचार और सत्ता के दुरुपयोग को आमंत्रित करती है। ज़ाहिर है कि सत्ता में बैठे लोगों को जब अपने मतदाताओं के समक्ष किसी तरह की रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होती है, कि वे क्या कर रहे हैं या क्या करने वाले हैं, तो अनुमोदन पाने की यह प्रक्रिया उन पर कोई खास अंकुश नहीं लगाती है। फिर भी यह किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं होने से बेहतर है।

लोगों को अपनी सरकार पर और यूँ अपने जीवन पर नियंत्रण देने का दूसरा बड़ा कारण यह है कि सम्भवतः इससे वे अधिक जानकार और ज़िम्मेदार बनें। यह सच है कि लोग हमेशा अपने अनुभवों से नहीं सीखते, पर उनके बिना तो

वे सीख ही नहीं सकते हैं। और मात्र अनुभव ही नाकाफी है। उन्हें केवल अनुभव की आवश्यकता नहीं है, वरन् अनुभव को प्रभावित करने की क्षमता भी ज़रूरी है। अगर वे यह सोचने लगें कि उनके विकल्प और निर्णय उनके जीवन को प्रभावित करते हैं, तो वे अधिक समझदारी से चुनेंगे, निर्णय लेंगे। पर अगर उन्हें यह लगे कि इससे कोई फर्क ही नहीं पड़ता तो फिर वे सोचने की ज़हमत भला क्यों उठाएँगे? लोगों को जो चीज़ भ्रष्ट करती है वह केवल सत्ता नहीं है, बल्कि नपुंसकता भी है। इससे लोगों के दिमाग, उनकी आत्माएँ गुलामों की सी बन जाती हैं। वे उदासीन, आलसी, दोषदर्शी, गैरज़िम्मेदार और बेवकूफ बन जाते हैं।

इसका इस भावनात्मक विश्वास से कोई लेना-देना नहीं कि एक साधारण व्यक्ति या जन सामान्य के पास कोई रहस्यमय बुद्धिमानी है, या वे कभी गलती कर ही नहीं सकते। ज़ाहिर है वे तमाम गलतियाँ करेंगे। लोग अमूमन अज्ञानी होते हैं और गलती कर सकते हैं। किन्तु आम तौर पर प्रत्येक इंसान दूसरे किसी व्यक्ति की तुलना में यह बात बेहतर जानता है कि उसकी ज़रूरत क्या है, उसे क्या चाहिए, कौन-सी चीज़ उसे खुशी और आनन्द देती है, और कौन-सी दुख और पीड़ा। अगर वास्तविक विकल्प उनके समक्ष हों तो लोग अपने लिए जो चुनेंगे वह उससे बेहतर ही होगा जो दूसरे उनके लिए चुनें। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से बेहतर तरीके से यह बात समझ सकता है कि उसने भूल की है। उसके द्वारा जो चुना गया था वह सही चयन नहीं था। और अगर इस भूल को सुधारने का मौका मिले तो सम्भावना यही है कि वह दूसरों की तुलना में उस भूल को वास्तव में सुधारे।

एक नौजवान ने एक बुद्धिमान व्यक्ति से, एक गुरू से पूछा कि व्यक्ति बुद्धिमान कैसे बनता है। गुरू ने जवाब दिया, "ज़्यादातर यह सही फैसले का मामला होता है।" नौजवान ने जानना चाहा कि उसमें सही फैसले की शक्ति कैसे उपज सकती है। गुरू ने जवाब दिया, "सही अनुभवों द्वारा।" बौखलाया नौजवान चीख पड़ा, "पर मुझे वैसे अनुभव कैसे होंगे?" गुरू ने कहा, "गलत फैसले करने पर"।

कुछ लोग कहेंगे उन लोगों का क्या जो हमेशा गलतियाँ ही करते रहते हैं, जो न तो उन गलतियों से कुछ सीखते नज़र आते हैं, न ही सीखना चाहते हैं? भला हमें शेष लोगों को, उनके द्वारा किए गए बिगाड़ को, क्यों माफ करना चाहिए, उनकी गलतियों का खामियाज़ा हमें क्यों भुगतना चाहिए? हम यह क्यों नहीं कह देते कि क्योंकि तुम उलझनों से दूर नहीं रह पाते, हम तुम्हारे लिए "चौकीदार" नियुक्त कर देंगे। इसका एक जवाब तो यह है कि चौकीदार रहेगा तो व्यक्ति कभी सीखेगा ही नहीं। पर सबसे अच्छा जवाब यह है कि

दूरगामी अर्थों में हमें चौकीदार की जो कीमत चुकानी होगी, वह उसके पहरे में रह रहे व्यक्ति से कहीं ज़्यादा होगी। अगर जुआ खेलना हर जगह वैध होता तो कुछ लोग अपना जीवन ही जुए में लगा देते। पर इन आदतन जुआरियों को उनके व्यसन में लिप्त रखने की कीमत निश्चित रूप से उस कीमत की तुलना में काफी कम होगी जो हमें जुए को गैर-कानूनी घोषित करने के प्रयास में वित्त और भ्रष्टाचार के रूप में अपनी सरकार, अपने समाज में चुकानी होगी। इस देश में डीमन रम (गैर-कानूनी शराब) ने उतना नुकसान कभी नहीं किया जितना शराबबन्दी ने किया।

अगर लोकतंत्र उतनी बुरी तरह से काम करता है जितना वह दरअसल करता है, तो इसका कारण यह नहीं कि लोग गलतियाँ करते हैं, बल्कि यह है कि जो लोग विभिन्न पदों के लिए खड़े होते हैं (यानी सरकारी कर्मचारी) वे उन चीज़ों के बारे में इतने गोपनीय और बेईमान होते हैं जो वे करते हैं या करना चाहते हैं। होता अक्सर यह है कि राजनैतिक सत्ता के भूखे लोग निजी स्तर पर तय कर लेते हैं कि जनता और देश के लिए क्या सर्वश्रेष्ठ है। और तब वे लोगों को सहमत करने के लिए तमाम तरह की अपीलें करते हैं, झूठ बोलते हैं, ताकि लोग उन्हें सत्ता सौंप दें। हम लोकतंत्र और प्रतिनिधि सरकार के विषय में वह कह सकते हैं जो जी. के. चेस्टरटन ने ईसाई धर्म के बारे में कहा था - ऐसा नहीं है कि लोगों ने इसका उपयोग किया और उसमें कमियाँ पाईं। बल्कि सच यह है कि लोगों को यह इतना कठिन लगा कि उसका उपयोग ही नहीं किया गया।

बच्चों, किशोरों को मताधिकार न देना इसलिए और भी अन्यायपूर्ण है क्योंकि सरकार के निर्णयों और कृत्यों का प्रभाव शेष लोगों की बनिस्बत उन पर कहीं अधिक पड़ेगा। अगर भविष्य में कोई देश युद्ध करने का निर्णय लेता है या ऐसा निर्णय लेता है जिसके चलते भविष्य में युद्ध अवश्यम्भावी हो जाए, तो आज के बच्चे और किशोर कुछ वर्षों बाद दूसरों को मारेंगे या खुद मरेंगे। पर उस निर्णय के विषय में कुछ कहने का अधिकार उनका न होगा। ऐसे में यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों को युद्ध या शान्ति के विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए जिन्हें लड़ने के लिए बुलाया ही न जाए। युद्ध की बात अगर छोड़ भी दें तो भी राजनैतिक निर्णयों का सर्वाधिक प्रभाव युवा वर्ग पर पड़ता है, क्योंकि वे ही हमारे निर्णयों और हमारी गलतियों के परिणामों को सबसे लम्बे समय तक झेलेंगे।

जब मैं कहता हूँ कि मेरी चाहत है कि युवा वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति मत दे सके तो वयस्क आश्चर्य, अविश्वास, यहाँ तक कि गुस्से से भरकर पूछते हैं कि क्या

मैं हर उम्र के बच्चे की बात कर रहा हूँ। दरअसल यही मेरा अर्थ है। मैं केवल सोलह साल के किशोरों की नहीं बल्कि छह साल के बच्चों की भी बात कर रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि छह साल का जो बच्चा मत देना चाहे, उसे ऐसा करने का अधिकार हो।

मैं छह साल के बच्चों के बारे में जितना कुछ जानता हूँ, उसके आधार पर यह असम्भव ही लगता है कि वास्तव में छह साल के बच्चे मत देना चाहेंगे। शायद उस समाज में भी यही स्थिति रहे जिसमें बच्चों को आज की तुलना में अधिक सम्मान दिया जाए और अधिक गम्भीरता से लिया जाए। बच्चे इस दुनिया को जितनी भी आतुरता और आज़ादी से तलाशना चाहें, और हम उन्हें ऐसा करने की कितनी ही अनुमति क्यों न दें, प्रोत्साहित ही क्यों न करें, इसमें मदद क्यों न दें, वे एक बार में केवल एक कदम ही आगे बढ़ सकते हैं। मुझे शंका है कि अधिकांश छह साल के बच्चे उस हद तक बढ़ सकेंगे जहाँ उन्हें मत देना सार्थक या रोचक लगेगा। हो सकता है कि इनमें से कुछ इसके प्रति उत्तेजना और नएपन के कारण या दोस्तों से बतियाने के मकसद से ऐसा करें भी। जिनके बड़े बुज़ुर्ग हमेशा उम्मीदवारों, मुद्दों या मतदान की चर्चा करते हों, उन परिवारों के बच्चे भी हो सकता है वही करना चाहें जो बड़े करते हैं। पर मुझे लगता है कि अधिकांश बच्चे ऐसा नहीं करेंगे।

मैं एक बहुत छोटी उम्र के अभियान कर्मी को व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। उसकी उम्र उस वक्त छह वर्ष की थी। 1972 में राष्ट्रपति चुनाव के दौरान इस बच्ची की माँ मैकगवर्न के दफ्तर में काम करती थीं। बच्ची को सम्भालने के लिए बेबी-सिटर लगाने का उनका बूता नहीं था। और उनकी बिटिया भी घर पर अकेले रहने से अधिक उनके आसपास रहना पसन्द करती थी। माँ जहाँ भी हो, जो कुछ भी कर रही हो। अतः वह माँ अपनी बिटिया को दफ्तर ले आती थी। सबको व्यस्त और काम में मशगूल देख, दूसरे बच्चों की ही तरह इस बालिका को भी हाथ बँटाने की इच्छा हुई। जल्दी ही वह लिफाफों में सामग्री डालने, उन पर टिकटें लगाने, कागज़ों की फोटोकॉपी करने का काम करने लगी। इसमें उसे बहुत मज़ा भी आने लगा। लौटते समय वह हमेशा दुखी होती और उत्साह से वापस आती थी।

अगर उसे मत देने का अधिकार होता तो क्या यह बच्ची राष्ट्रपति चुनाव में अपना मत डालती? मुझे लगता है कि शायद वह ऐसा करती, बशर्ते उस वक्त करने को कुछ अधिक उत्तेजक काम उसे छोड़ना न पड़ता (प्रत्येक राजनैतिक कार्यकर्ता यह जानता है कि ज़रा-सी बरसात हुई कि ढेरों वयस्क मत डालने से कतरा जाते हैं। और अगर मतदान के दिन दूरदर्शन पर फुटबॉल का मैच चल रहा हो तो...)। उस बालिका को उम्मीदवार या विभिन्न मुद्दों पर उसके

विचारों के बारे में क्या पता था? बहुत ही कम। जिन बड़ों को वह पसन्द करती थी, जिन पर उसे भरोसा था, उनके मुँह से उसने मैकगवर्न का नाम सुना था। उसने देखा था कि लोग उस चुनावी अभियान से उत्तेजित हैं और उनकी चर्चाओं से उसे यह भी अन्दाज़ लगा था कि मामला युद्ध से जुड़ा है। और अगर उसके मित्र निक्सन के प्रशंसक होते और उत्साह से निक्सन के लिए काम करते, तो शायद वह उसी उत्साह से निक्सन के लिए मत डाल देती। अगर राजनीति और युद्धों के बारे में वह बहुत कुछ न भी जानती रही हो, फिर भी जितना भर वह जानती थी वह महत्वपूर्ण था - कि यह एक गम्भीर मसला है। ऐसा मसला जिसके बारे में वयस्कों का सरोकार है। वे इस पर उत्तेजित होते हैं, और उसके लिए मेहनत करते हैं। वह जिस किसी उम्मीदवार के भी पक्ष में मत डालती, उसका मत उतनी ही सार्थकता लिए होता जितना कई वयस्कों का मत होता है।

दस वर्ष के बच्चों की स्थिति सम्भवतः काफी भिन्न हो। मेरा कयास है कि उनमें से कई मत डालते, अगर डालना सम्भव होता। और सिर्फ इसलिए नहीं कि वे उत्तेजना या अपने माता-पिता की गतिविधि में भागीदार बनना चाहते, बल्कि अपने निजी कारणों से। मैं कई ऐसे दस वर्षीय बच्चों को जानता हूँ जो दुनिया और उसकी समस्याओं के बारे में कम से कम उतना तो जानते ही हैं जितना मैं और मेरे अधिकांश मित्र कॉलेज छोड़ते समय जानते थे। इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि लोग दस वर्ष की उम्र में, जब बच्चे बहिर्मुखी जीवन जीते हैं, चौदह वर्ष के किशोरों की तुलना में अधिक मत डालें। क्योंकि चौदह वर्ष की उम्र में वे कई कारणों से अपने व्यक्तिगत, भावनात्मक और सामाजिक जीवन को लेकर अधिक चिन्तित रहते हैं। पर दूसरी ओर किशोरों की चिन्ताएँ होती भी इसलिए हैं क्योंकि दूसरी तरह की चिन्ताओं में उलझने की अनुमति हम उन्हें नहीं देते। हमने किशोरावस्था को एक पन्थ, एक जीवन शैली और (वयस्कों के लिए) एक लाभदाई उद्योग का रूप दे दिया है।

इस विषय में बच्चे स्वयं क्या सोचते हैं इसका लगभग कोई प्रमाण नहीं है। *किडस* नामक पत्रिका ने मेरा एक पत्र छापा था। इसमें मैंने पाठकों से जानना चाहा था कि उनके विचार में बच्चों को मत देने की अनुमति होनी चाहिए या नहीं, और अगर अनुमति हो तो क्या वे मत डालेंगे। एक शिक्षिका, श्रीमती पॉल, ने अपनी चौथी कक्षा को पत्र पढ़कर सुनाया और उन्हें पत्र द्वारा अपने विचार व्यक्त करने को कहा। श्रीमती पॉल मिशिगन में हॉलैण्ड नामक जगह पर लॉन्गफैलो स्कूल में पढ़ाती थीं। मुझे पता नहीं कि बच्चों ने पत्र लिखने के पहले मेरे सवालों पर कक्षा में बातचीत की, या माता-पिता से। उनके जो जवाब मिले वे नीचे दी गई श्रेणियों में संख्या के साथ दर्शाए गए हैं:

मैं मतदान करूँगा और हमें ऐसा करने की अनुमति दी जानी चाहिए	8 लड़के, 3 लड़कियाँ
मैं मतदान करूँगा	1 लड़का
मैं मतदान करूँगा पर बच्चों को अनुमति नहीं दी जानी चाहिए	5 लड़के और 2 लड़कियाँ
मैं मतदान नहीं करूँगा	1 लड़का (धार्मिक कारणों से)
हमें इसकी अनुमति नहीं होनी चाहिए	1 लड़की
मैं मतदान नहीं करूँगा और इसकी अनुमति हमें होनी भी नहीं चाहिए	4 लड़के, 4 लड़कियाँ

जिन्होंने यह कहा कि वे मतदान नहीं करेंगे, या उन्हें मतदान की अनुमति नहीं होनी चाहिए, उन्होंने निम्न कारण बताए (कुछ ने एक से अधिक कारण दिए, तो किसी ने एक भी नहीं):

मत देना आएगा नहीं, हम ज़िम्मेदार नहीं हैं, काम बहुत कठिन है, आदि	10
जिन्हें पूर्व में लम्बे समय तक इन्तज़ार करना पड़ा, उनके प्रति अन्याय होगा	4
बच्चे मतदान मशीनें ही तोड़ डालेंगे	3
बच्चे माता-पिता की ही तरह मत देंगे	2

इन आँकड़ों में रोचक बात यह है कि सात बच्चों ने कहा कि वे अनुमति पाने पर मत ज़रूर देंगे, पर बच्चों को इसकी अनुमति नहीं होनी चाहिए। यह बात मुझे अपनी पाँचवीं कक्षा के कुछ बच्चों की याद दिलाती है, जो किन्हीं परिस्थितियों में गरमाते हुए कहते थे कि अगर किसी ने एक पेंसिल चुरा ली हो, या खाने की छुट्टी में किसी को गिरा दिया हो, तो उसे घर भेज देना चाहिए या हफ्ते भर के लिए स्कूल से निलम्बित कर देना चाहिए। जबकि वे स्वयं भी ऐसी ही खुराफातें लगातार करते थे। और इसके लिए अगर कोई उन्हें कड़ी सज़ा देने की बात करता तो बेहद नाराज़ हो जाते थे (जो वाजिब भी था)। जिन सात बच्चों ने कहा कि बच्चे कई कारणों से मतदान के अधिकार के लायक चतुर नहीं थे, वे खुद को ऐसा नहीं मान रहे थे। पर स्कूल के लिए कठोर नियमों की पैरवी करने वाले छात्र-छात्राएँ ठीक ऐसी ही बात मानते हैं। वे मानते हैं कि वे स्वयं तो ऐसे नियमों के बिना भी उचित आचरण करेंगे, पर दूसरे छात्र ऐसा नहीं कर पाएँगे।

पर यह भी हो सकता है कि जब चौथी कक्षा के बच्चों ने कहा कि बच्चों को मतदान की अनुमति नहीं देना चाहिए, तब वे शायद अपने से छोटे बच्चों की बात कर रहे हों। शायद वे खुद को "बच्चा" ही न मानते हों। मैं पाँचवीं कक्षा के कई बच्चों को जानता हूँ जो स्वयं को कम उम्र की श्रेणी में रखने को तो तैयार होते हैं, पर बच्चों की श्रेणी में नहीं।

जिन दो बच्चों ने कहा कि बच्चों को मत देने की अनुमति नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह वयस्कों के प्रति अन्याय होगा, वे शायद सवाल को समझे ही नहीं। शायद उन्होंने सोचा हो कि मैं खास उनके लिए नियम में अपवाद स्वरूप छूट की बात कर रहा हूँ। पर मैं इस विषय में पक्की तरह से कुछ नहीं कह सकता।

मैंने पुस्तक के एक दूसरे हिस्से में नवीं जमात के बच्चों के साथ हुई एक बैठक का ज़िक्र किया है। इसमें लगभग दो-तिहाई बच्चों ने कहा था कि अगर वे मतदान कर सकते तो ज़रूर मत देते। सम्भव है कि उनमें से कई यह कयास लगाने कि कोशिश कर रहे हों कि मैं क्या सुनना चाहता हूँ, या वे कक्षा में मौजूद दूसरे वयस्कों के सामने स्वयं को "ज़िम्मेदार" जताना चाहते हों। मेरी एक मित्र ने अपनी नवीं कक्षा के बच्चों से पूछा था कि अगर उन्हें मतदान का अधिकार होता तो वे मत देते या नहीं। और ज़्यादातर ने जवाब दिया था कि वे मतदान नहीं करते।

पर लोग किसी स्थिति में क्या करेंगे जब वे इस पर सैद्धान्तिक रूप से बोलते हैं तो उसमें तथा उस स्थिति में वास्तव में वे क्या करते हैं में अक्सर काफी अन्तर होता है। 1972 के राष्ट्रपति चुनावों के समय अधिकांश राजनैतिक विशेषज्ञों का मानना था कि अभियान के दौरान अठारह से इक्कीस वर्ष के युवा भारी संख्या में मतदाताओं के रूप में अपना पंजीकरण करवाएँगे और मत डालेंगे। साथ ही यह भी कयास लगाया गया था कि कई राज्यों में उनका मत ही राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार को विजयी बनाएगा। पर ऐसा हुआ नहीं। युवाओं ने पंजीकरण भी करवाया, मत भी दिए, पर उनकी संख्या लगभग वयस्कों के समान ही रही, या उनसे कुछ कम ही, और उन्होंने मत भी वैसे ही दिए जैसे शेष वयस्कों ने। पंजीकरण करवाने और मत डालने में यह असफलता एक गम्भीर राजनैतिक भूल सिद्ध हुई। युवाओं ने बाद में अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि दोनों उम्मीदवारों से तथा नामांकन प्रक्रिया आदि से उनका मोहभंग हो चुका था। यह सच है कि यह मोहभंग जायज़ था, पर उनकी प्रतिक्रिया फिर भी अविवेकपूर्ण थी। अगर वे एकजुट होकर पंजीकरण करवाते, पर चयनात्मक रूप से मत देते या फिर न भी देते, तो वे दोनों ही राजनैतिक दलों के नेताओं को यह स्पष्ट कर सकते थे कि वे मतदाताओं का एक ऐसा भारी समूह हैं जिन्हें उनके तौर-तरीके नापसन्द हैं। बावजूद इसके

वे उस उम्मीदवार का समर्थन कर सकते हैं जिस पर उन्हें भरोसा हो। पर उनके कृत्य का नतीजा यह रहा कि उन्होंने राजनीतिक दलों को यह जताया कि उनके मतों की उपेक्षा की जा सकती है और जो कोई युवाओं की आवश्यकताओं या इच्छाओं का सम्मान करेगा वह स्वयं राजनैतिक जोखिम मोल लेगा। अतः यह पूरी सम्भावना है कि युवा वर्ग का नेता होने का लेबल चस्पाँ होने के कारण मैकगवर्न को युवाओं के मत तो नहीं ही मिले, साथ ही उन्हें कई बड़ों के मतों से भी हाथ धोना पड़ा। इस प्रकार की सीख भावी चुनावों के उम्मीदवार ज़रूर याद रखेंगे। वे भी आज के कई उम्मीदवारों की तरह यही मानेंगे कि युवाओं के विरुद्ध होना उनके पक्ष में होने से अधिक सुरक्षित है।

व्यावहारिक राजनैतिक मसले के रूप में मतदान की आयु अठारह वर्ष से कम होकर सोलह वर्ष की तब तक नहीं हो पाएगी जब तक कम से कम दो चीज़ें न हो जाएँ। अव्वल तो यह कि सोलह से अठारह वर्ष के युवाओं को भारी संख्या में मताधिकार की माँग करनी होगी। उन्हें राजनीतिज्ञों को कहना होगा कि "अगर तुम आज हमें मताधिकार से वंचित रखोगे, तो हम उस वक्त भी यह बात याद रखेंगे जब हमें मताधिकार मिल जाएगा।" और राजनीतिज्ञों को भी यह अहसास होना होगा कि युवा सच में ऐसा करेंगे। दूसरे, इन सोलह से अठारह वर्ष के युवाओं के समूह को अपने से बड़ी आयु के मतदाताओं के सशक्त समूहों से गठबन्धन करना होगा। मैं आशा करता हूँ कि इन समूहों में अठारह से इक्कीस वर्ष के मतदाताओं के समूह भी होंगे। मैं छात्रों के अधिकारों या अपने स्कूलों को सुधारने के संघर्ष में जुटे युवाओं से कहना चाहता हूँ कि अपनी बन्दूक ऐसे लक्ष्य की ओर दागो जो बेधने लायक हो। छात्र अधिकारों को भूल जाओ और खुद के लिए नागरिक अधिकार हासिल करो। मताधिकार प्राप्त कर लो, और जब तुम्हें वह मिल जाए तो अपने से छोटी उम्र के लोगों के मताधिकार के लिए संघर्ष करो। स्कूल अन्दर से सुधारे ही नहीं जा सकते। उनका गम्भीर सुधार एक राजनैतिक मसला है। यह रैलियों, स्कूल अध्यक्ष या डीन के कार्यालयों के घेरावों से हासिल नहीं होगा। अगर यह कभी होगा तो मतों से होगा।

पहले मैंने कहा था कि मताधिकार लोगों को अधिक सचेत और ज़िम्मेदार नागरिक बनाता है। यह बात युवाओं पर भी उतनी ही लागू होती है। मतदान की सम्भावना अपने आप मतदान में रुचि भी जगाएगी। ज़िम्मेदारी उठाने की सम्भावना लोगों को ज़िम्मेदारी के प्रति आकृष्ट करती है। आज कई युवक यह कह सकते हैं कि "मैं राजनीति में रुचि क्यों लूँ। मैं कितना ही क्यों न जानूँ और सीख लूँ, मत तो दे ही नहीं सकता।" केवल इतना जानना मात्र कि अगर वे चाहें तो मतदान कर सकते हैं, या यह जानना कि हमउम्र लोग मत डालते

हैं, युवाओं को स्कूली पाठ्यक्रम में ठूँसे नागरिक शास्त्र के उपदेशों से कहीं अधिक आकर्षित करेगा, अधिक जानकारी देगा। यह वयस्कों की दुनिया की ओर ले जाने वाला खुला दरवाज़ा या आमंत्रण होगा। एक प्रश्न की कड़ी दूसरे से जुड़ेगी। लोग मतदान क्यों करते हैं? ये उम्मीदवार करते क्या हैं? (ये ऐसे सवाल हैं जिनके उत्तर केवल कुछ ही वयस्क दे सकते हैं।) ज़रा सोचिए कि माध्यमिक या प्राथमिक शाला में स्कूल के या कक्षा के चुनावों में, जहाँ लोकप्रियता के सिवा कुछ भी दाँव पर लगा हुआ नहीं होता, बच्चे सप्ताहों तक इसकी चर्चा करते हैं, इसके लिए मेहनत करते हैं। और हम अक्सर इससे यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उनके सरोकार बचकाने हैं - देखो बिना बात ही इतने उत्तेजित हुए जाते हैं। पर हम उन्हें गम्भीर बातों में सरोकार जगाने का अवसर कब देते हैं?

हाल में छपे एक समाचार चित्र में एक बच्चा एक टी-शर्ट पहने खड़ा था। उस पर लिखा था- "स्नूपी [एक कार्टून] फॉर प्रेसिडेन्ट।" ऐसे चित्र देख हम सोचते हैं, "हाय, कितना क्यूट लग रहा है ना!" इससे हमें यह विश्वास भी हो जाता है कि बच्चे राष्ट्रपति पद का मतलब वास्तव में समझते ही नहीं और उस विषय में समझदारी से सोच भी नहीं सकते। हम भूल जाते हैं कि जिस व्यक्ति को अब टी-शर्ट पर "स्नूपी फॉर प्रेसिडेंट" छापने का विचार सूझा था, वह बच्चा नहीं, वयस्क ही था। ऐसे वस्त्र वयस्क ही तैयार करते हैं, और वयस्क ही खरीदकर इन्हें बच्चों को पहनाते हैं। पर ऐसी टी-शर्टें हमें बच्चों की सोच या उनके सोचने के तरीके के बारे में कुछ भी नहीं बतातीं।

मैं कुछ समय से इस विषय पर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के "विद्वान" श्रोताओं से भी चर्चा करता रहा हूँ। जब मैं उनके समक्ष यह कहता हूँ कि बच्चों को भी मत देने की अनुमति होनी चाहिए तो उनकी प्रतिक्रिया भय और क्रोध मिश्रित होती है। ऐसी एक बैठक में एक व्यक्ति खड़ा हुआ। उसकी आवाज़ गुस्से से काँप रही थी, उसने जानना चाहा कि मैं ऐसा सोच ही कैसे सकता हूँ। उसके शब्द ठीक से निकल तक नहीं रहे थे - मैं यह कल्पना तक कैसे कर सकता हूँ कि एक छह साल के बच्चे को पता होगा कि मूल्यवृद्धि के बारे में क्या करना चाहिए। मैंने कहा, "संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति भी नहीं जानता कि मूल्यवृद्धि के बारे में क्या करना चाहिए। जहाँ तक मैं जानता हूँ दूसरे देशों के प्रमुख भी इस बारे में नहीं जानते। और अगर वे जानते हैं तो वे कुछ कर नहीं सकते या फिर करना नहीं चाहते।"

अधिकांश लोग यह मानकर चलते हैं कि अगर बच्चे मतदान करेंगे तो बेवकूफी, अज्ञानता या गौण कारणों से करेंगे। पर मुझे नहीं लगता कि वयस्क मतदाताओं के मत देने के कारणों की तुलना में बच्चों के कारण अधिक बेवकूफी भरे होंगे।

पर अगर यह स्थापित भी हो जाए कि बच्चे अधिकांश वयस्कों की तुलना में अधिक अविवेकपूर्ण मतदान करते हैं, तो भी यह तथ्य उन्हें मताधिकार से वंचित रखने का पर्याप्त कारण नहीं होगा।

आज इस बात का पर्याप्त प्रमाण मौजूद है कि भारी संख्या में मतदाता बिना कुछ जाने-बूझे, बेहद गौण या बेवकूफी भरे कारणों के आधार पर अपना मत डालते हैं। हमने बार-बार पाया है कि शिक्षित होने के बावजूद अधिकांश लोग स्वतंत्रता घोषणापत्र (डेक्लेरेशन ऑफ इण्डिपेण्डेंस) या अधिकार पत्र (बिल ऑफ राइट्स) को साधारण कागज़ पर टंकित देखकर *पहचान* तक नहीं पाते। जब उनसे कहा जाता है कि वे इस पर हस्ताक्षर करें तो दस में से नौ लोग, हमारे समाज के सबसे मूलभूत दस्तावेज़ पर, हमारी राजनैतिक व्यवस्था का आधार माने जाने वाले इस दस्तावेज़ पर, हस्ताक्षर करने से मना कर देते हैं। वे इसे क्रान्तिकारी, विद्रोही, वामपन्थी दस्तावेज़ घोषित कर देते हैं। और अगर हमारी मौजूदा सरकार की दृष्टि से देखें तो उपरोक्त दस्तावेज़ ऐसे लग भी सकते हैं। कोरियाई युद्ध प्रारम्भ होने के दो या तीन साल बाद, एक बड़े शहर के दैनिक समाचार पत्र ने, जो शिक्षित व सुसंस्कृत माना जाता था, ताज़ा घटनाओं पर मत संग्रह का एक स्तम्भ प्रारम्भ किया। स्तम्भ में "दुनिया में क्या हो रहा है" सम्बन्धी सवाल सड़क चलते लोगों से पूछे जाते थे। इनमें से एक था "कोरिया अन्दाज़न कहाँ है?" मत संग्रह के सन्दर्भ में "प्रशान्त महासागर में", "जापान के पास" या "चीन के पास" जैसे उत्तर सही मान लिए जाते थे। पर आधे से ज़्यादा लोग इस तरह के सही जवाब तक नहीं दे पाए। हाल में 1972 के राष्ट्रपति चुनाव अभियान के दौरान कुख्यात वॉटरगेट हादसा हुआ। और अब जब मैं लिख रहा हूँ (अप्रैल, 1973) यह क्रमशः अमरीकावासियों के ध्यान के केन्द्र में आने लगा है। परन्तु 1972 की पतझड़ में जब अभियान काफी बढ़ चुका था, और अखबारों, रेडियो, टीवी आदि में लगातार वॉटरगेट हादसे का ज़िक्र हो रहा था, एक राष्ट्र स्तरीय मत संग्रह में केवल एक तिहाई लोग ही इस नाम को पहचान पाए। और उनमें से भी केवल आधे लोगों को इसके अर्थ का अन्दाज़ था। जबकि यह घटना अमरीकी राजनीति और हमारे देश के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण और खतरनाक घटना है।

कुछ समय पहले कैलिफोर्निया में काँग्रेस सीट के लिए एक कड़ा चुनावी संघर्ष हुआ था। जिस ज़िले के लिए यह चुनाव था उसमें पालो आल्टो का कुछ या पूरा हिस्सा आता था। रिपब्लिकन दल का जो व्यक्ति उस सीट पर कई सालों से था, वह भारत-चीन युद्ध का समर्थक था। उसे चुनौती दे रहा था डेमोक्रेटिक दल का एक सदस्य जो मंत्री पद पर था। पालो आल्टो एक समृद्ध समुदाय है। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय भी यहीं है। अतः अभियान में खूब पैसा लगा और खूब

मेहनत की गई। ढेरों पर्चे बँटे, पोस्टर लगे, कार्यकर्ताओं ने घर-घर जाकर सम्पर्क किया, ढेरों मतदाताओं से बातचीत की। उम्मीदवारों और मुद्दों का इतना प्रचार शायद सौ में से एक चुनावी अभियान में भी नहीं होता। चुनाव पूरा होने और रिपब्लिकन उम्मीदवार के जीतने के बाद कुछ समाजशास्त्रियों ने यह जानने का निश्चय किया कि मतदाताओं ने अपने मत किस आधार पर दिए। उन्होंने मुद्दों के बारे में क्या सोचा, उन्हें कौन-से मुद्दे अधिक महत्वपूर्ण लगे, चुनावी प्रचार के कौन-से तरीके प्रभावी रहे, कौन-से नहीं। उन्होंने पाया कि सावधानी से चुने गए सैम्पल के जितने मतदाताओं से बातचीत की गई उन्हें अभियान के मुद्दों की *लगभग कोई जानकारी नहीं* थी। उन्होंने अपने मत इन आधारों पर दिए थे - उन्हें उम्मीदवार की सूरत पसन्द आई, या उसका नाम; या इसलिए क्योंकि वह अधिक उम्र का और अनुभवी व्यक्ति लगा; या उन्हें लगा कि अब नए व्यक्ति को चुनना ठीक होगा, या उन्होंने हमेशा रिपब्लिकन या डेमोक्रैटिक दल को ही मत डाला था और इस परिपाटी को बदलने की ज़रूरत उन्हें नहीं लगी थी। मतदाताओं का काफी प्रतिशत तो यह भी साफ नहीं बता पाया कि किस दल ने कौन-से मुद्दे उठाए थे या कौन-सा उम्मीदवार किन मुद्दों को लेकर खड़ा हुआ था। कई मतदाता जो युद्ध समर्थक थे उन्होंने युद्ध विरोधी उम्मीदवार को मत दे डाला और युद्ध विरोधी मतदाताओं ने युद्ध समर्थक उम्मीदवार को। रिपब्लिकन (या डेमोक्रैटिक) दल के मतदाताओं को तब तक यह भी पता नहीं था कि उन्होंने दरअसल अपने उम्मीदवार के बदले विरोधी दल के उम्मीदवार को मत डाला है जब तक साक्षात्कार करने वाले ने उन्हें यह नहीं बताया। मतदाताओं में जानकारी का यह अभाव या गलत जानकारी का होना - और वह भी एक तथाकथित उच्च शिक्षित समुदाय में और इतने सघन प्रचार अभियान के बाद - एकदम अविश्वसनीय था।

पर कोई भी वयस्क कितना भी अज्ञानी, गलत जानकारी वाला या सीधे-सीधे भ्रमों में जीने वाला क्यों न हो, उसे मतदान करने से रोका नहीं जा सकता। आज भी देश में कुछ लोग मानते हैं कि दुनिया चपटी है, या खोखली है, पर वे मत दे सकते हैं। तमाम लोग बाईबल में लिखे प्रत्येक वाक्य के शाब्दिक अर्थ में विश्वास करते हुए आज भी मानते हैं कि ईश्वर ने सात दिनों में विश्व की रचना की, या औरत को पुरुष की पसली से बनाया गया था, आदि...आदि, फिर भी वे मत दे सकते हैं। फोर्ड मोटर कम्पनी के संस्थापक, हैनरी फोर्ड (अपने जीवन के अधिकांश वर्षों तक) उन लोगों में से थे जो एक मिथकीय दस्तावेज़ में विश्वास करते थे। दस्तावेज़ का नाम था *प्रोटोकॉल्स ऑफ द एल्डर्स ऑफ ज़ायन*। लोग इसे यहूदियों द्वारा विश्व पर कब्ज़ा करने की साजिश

का रिकॉर्ड मानते हैं। पर फिर भी वे मतदान कर सके। कई लोगों का मानना था कि एशिया डॉमीनोस यानी नकाबपोशों से बना हुआ है। ऐसे भी लोग हैं जो दूसरों को मशीन मानते हैं। संक्षेप में, तमाम ऐसे लोग हैं जो हर तरह की अजीबो-गरीब, काल्पनिक, यहाँ तक कि खतरनाक चीज़ों में विश्वास करते हैं। पर उनमें से किसी को मतदान करने से रोका नहीं जाता। तो फिर बच्चों को क्यों रोका जाता है? यह मानने की कोई वजह नहीं कि अधिकांश वयस्क जिन कारणों से मतदान करते हैं, वे उन कारणों से बेहतर हैं जिनके तहत अधिकार दिए जाने पर बच्चे मतदान करेंगे। राजनीतिज्ञ व पद पाने की इच्छा रखने वाले इस बात को बखूबी समझते हैं। यह वर्षों से अमरीकी राजनीति का मूलभूत सिद्धान्त रहा है। इस पर खूब लिखा गया है और 1972 के राष्ट्रपति चुनावों के दौरान भयावह रूप से प्रमाणित भी हुआ है। राजनीतिज्ञ जानते हैं कि चुनाव जीतने का सबसे सुनिश्चित उपाय है मुद्दों से यथासम्भव दूर रहना और पूरा ध्यान अपनी छवि को गढ़ने में लगाना।

कुछ लोग सवाल करते हैं कि "अगर बच्चों को मतदान का अधिकार दिया जाए, तो क्या यह खतरा नहीं होगा कि उनके माता-पिता उन्हें बता दें कि फलाँ व्यक्ति को वोट देना और अगर बच्चे ऐसा न करें तो उन्हें सज़ा भोगनी होगी।" शायद ऐसा हो। पर जो समाज इतना बदल चुका हो कि वह अपने बच्चों को मत देने की अनुमति दे डाले, तो उसमें बच्चों पर दबाव डालने वाले लोग भी शायद कम ही होंगे। क्योंकि ऐसे समाज में अधिकांश लोग महसूस करेंगे कि यह एक बुरी और गलत चीज़ है। जो ऐसा करेंगे उन्हें सार्वजनिक निन्दा को भी झेलना होगा। और कम ही लोग इसे झेल पाते हैं। साथ ही बच्चा स्वयं यह महसूस करेगा कि उसे दूसरों का समर्थन प्राप्त है, अतः वह दबाव डालने वाले माता-पिता या किसी अन्य का विरोध भी कर सकेगा। स्नेही, सम्मान करने वाले माता-पिता को बच्चे पर अपने स्वाभाविक प्रभाव पर अधिक विश्वास होगा। अगर वह उनके विरुद्ध जाकर भी मत डाले तो शायद वे उसके साहस और स्वतंत्रता को भी मूल्यवान मानेंगे। पर अगर पारिवारिक रिश्ते खराब हों, और माता-पिता अपने बच्चे को प्रेम न करते हों, उसका सम्मान न करते हों, तो बच्चा उनका विरोध करने के लिए और अधिक तैयार होगा। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि आज भी कई लोग पहली बार मत डालते समय, और अक्सर काफी बाद तक भी, अपने माता-पिता की तरह ही मतदान करते हैं। हम राजनीति में शेष मसलों की ही तरह उन लोगों के कथन या उदाहरण से घनिष्ठ रूप से प्रभावित होते हैं जिन्हें हम प्यार करते हैं और जिन पर हमारा विश्वास होता है। ज़ाहिर है कि बच्चों के मत उनके माता-पिता से प्रभावित होंगे। और सम्भवतः उन माता-पिता का प्रभाव सबसे अधिक हो जो बुद्धिमान

हैं, सम्मान करना जानते हैं, और जिनमें गुणों, दयालुता और विवेक की स्वाभाविक सत्ता हो। ऐसे लोगों के प्रभाव को उनके बच्चों के मतों से बढ़ाने में हर्ज़ भी क्या है? कुछ लोग यह सवाल भी उठाते हैं कि क्या इससे उन लोगों का (यानी गरीब लोगों का) प्रभाव असंगत रूप से नहीं बढ़ जाएगा जिनके ढेरों बच्चे हों। यह सम्भावना अगर है भी तो कोई ऐसा जायज़ कारण नहीं जिसके चलते बच्चों और किशोरों को मताधिकार न दिया जाए।

कुछ लोग सिद्धान्ततः तो छोटी उम्र के लोगों को मताधिकार देने के पक्ष में हैं। यह उन्हें सही और न्यायपूर्ण भी लगता है। लेकिन वे मानते हैं कि इसकी कुछ योग्यता होनी चाहिए। किसी तरह की परीक्षा होनी चाहिए। सतही तौर पर यह बात उचित भी लगती है। अगर कोई मुझे यह विश्वास दिला सके कि किसी व्यक्ति की बुद्धिमत्ता, उसके विवेक को मापने का मुँह में थर्मामीटर डालकर बुखार नापने जैसा कोई पुख्ता तरीका है, तो कम से कम मैं इस बात की पैरवी करूँगा कि प्रत्येक मतदाता की बुद्धिमत्ता, उसके विवेक के स्तर को नापे बिना किसी को मताधिकार न मिले। पर ऐसी बहस पूर्णतः सैद्धान्तिक है। बुद्धिमत्ता, नापने का कोई ऐसा परीक्षण या उपाय है ही नहीं। न हो सकता है। अगर होता भी तो यह सुनिश्चित नहीं किया जा सकता कि वह पूरी ईमानदारी से लागू किया जाएगा, उसका दुरूपयोग नहीं होगा। हम समकालीन इतिहास के उदाहरणों से ही जानते हैं कि साक्षर होने को योग्यता मानने के नाम पर कई दक्षिणी राज्यों में असंख्य अश्वेत स्त्री-पुरुषों को मताधिकार नहीं दिया गया था। जबकि उनका ज्ञान और विवेक श्वेतों से पचास गुना अधिक रहा होगा। ऐसे गोरों ने जो मुश्किल से अपना नाम लिख पाते थे तमाम अश्वेत वकीलों और विश्वविद्यालय स्नातकों को अयोग्य घोषित कर दिया था। और इन पिछले चुनावों में भी देश भर में तमाम ऐसे उदाहरण सामने आए जिसमें स्थानीय चुनाव अधिकारियों ने कानून का खुला उल्लंघन किया, और विभिन्न कारणों से युवाओं को मतदान से रोका। जबकि यह अधिकार कानून और न्यायालयों ने उन्हें दे दिया था। कोई ऐसा कारगर उपाय ही नहीं है जिससे मतदान के स्तर को जाँचा जा सके। या यह सुनिश्चित किया जा सके कि वह जाँच न्यायपूर्ण ही होगी और उन लोगों के हित में इसका उपयोग नहीं किया जाएगा जो चुनावी मशीनरी को नियंत्रित कर रहे हों। उपाय एक ही है, मताधिकार चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देना। यह सुनिश्चित करने की चेष्टा करना कि सूचना तक उनकी पहुँच हो ताकि वे विवेक से मतदान कर सकें, और तब यह उम्मीद करना कि जो होगा अच्छा ही होगा।

18. काम करने का अधिकार

किसी भी आयु के बच्चे को पैसे के लिए काम करने का और उस कमाए गए पैसे को इस्तेमाल करने का, खर्चने या बचाने का अधिकार होना चाहिए। मताधिकार और अपनी शिक्षा-दीक्षा को स्वयं प्रबन्धित करने के अधिकार की ही तरह यह अधिकार भी स्वतंत्र है। बच्चों को वयस्कों के अन्य अधिकार न दिए जाने पर भी यह अधिकार दिया जा सकता है।

आज बालश्रम विरोधी कानून बच्चों को यह अधिकार नहीं देते। मताधिकार की ही तरह अगर काम करने की आयु सीमा घटाई भी जाती है, तो वह एक बार में एक-दो साल से अधिक नहीं होगी। और जिन कारणों की पहले चर्चा हो चुकी है उनके चलते उन समाजों के अलावा कहीं घटाई भी नहीं जाएगी जहाँ राजनैतिक और आर्थिक उपायों से गरीबी और बेरोज़गारी खत्म न हो गई हो। शेष अधिकारों की ही तरह किसी भी उम्र के बच्चों और किशोरों को काम करने का अधिकार तब तक नहीं मिलेगा जब तक वे भारी संख्या में काम करने के अधिकार की पुरज़ोर माँग नहीं करेंगे। इसके लिए वे स्वयं मतदान करें और दूसरों की मदद से करवाएँ। न ही यह अधिकार तब तक दिया जाएगा जब तक बड़ी उम्र के लोग यह न मानने लगें कि छोटे भी बुद्धिमान, सक्षम और संजीदा हो सकते हैं, उनके साथ काम किया जा सकता है।

ज़ाहिर है कानून बदलने से पहले नज़रिया भी बदलना होगा।

ऐसे कई कारण हैं जिनके चलते कई बच्चे श्रम करना चाहेंगे और ऐसा कर पाना उनके लिए अच्छा और सही भी होगा। बच्चों को अपनी पसन्द की चीज़ें खरीदने के लिए या भविष्य के लिए पैसा बचाने के लिए कमाने की ज़रूरत या इच्छा होती है। हमारे जैसे उपभोगवादी समाज में पैसे का न होना व्यक्ति में अलगाव पैदा करता है, कमतर होने का भाव जगाता है। पैसे का होना बच्चे की ज़रूरत न भी हो तो भी यह आत्मसम्मान का मसला है। अमीर माता-पिता के बच्चे अब कई तरह से पैसे कमा पाते हैं। पर गरीब माता-पिता के बच्चों के सामने पैसे कमाने का कोई वैध या सम्मानजनक तरीका नहीं होता। यह एक महत्वपूर्ण कारण है जिसके चलते कई कम उम्र के बच्चे अपराध की दिशा में बढ़ते हैं - चोरी-चपाटी, जेब काटना, बटुए छीनना, हमला करना आदि-आदि। सम्भव है कि कुछ बच्चे या किशोर इसे एक साहसी कृत्य मानकर,

कौशल या दमखम की परीक्षा मानकर या साथियों पर रौब डालने के मकसद से भी अपराध करते हों। कुछ दूसरे घृणा के कारण या अपने जीवन के सूनेपन या पीड़ा की जगह दूसरों को डराने, उन पर हावी होने का सुख पाने के लिए ऐसा करते हों। सम्भव है इनमें से कई काम करने की बजाए चोरी करना ही पसन्द करें, और काम करने की अनुमति पाने के बावजूद चोरी ही करें। पर मेरा मानना है कि आज चोरी करने वाले ज़्यादातर गरीब बच्चे और किशोर वैध तरीकों से पैसा कमाना ही अधिक पसन्द करेंगे।

पचास के दशक में बड़े शहरों में बच्चों और किशोरों ने अपने गैंग बना डाले थे। ये सारे दल अपने-अपने इलाके की रक्षा करते थे और दूसरे गैंगों से लड़ते-भिड़ते रहते थे। गैंग गतिविधियाँ साठ के दशक में कुछ कम हुईं पर अब फिर से कई शहरों में भड़क रही हैं। इसने एक गम्भीर और भयानक समस्या का रूप ले लिया है। आज के गैंग पहले की तुलना में बड़े हैं। देसी हथियारों की जगह उनके पास असली बन्दूकें हैं और वे अधिकाधिक अपराधी और हिंसक बनते जा रहे हैं।

आज कोई नहीं जानता कि इस मामले में क्या कदम उठाए जाने चाहिए। शायद सबसे पहले हमें उन्हें बढ़ने का मौका देना चाहिए। पचास के दशक में इस समस्या पर लिखने वाले लोगों ने यह जानने की चेष्टा की थी कि वह क्या कारण है (मरने या बन्दी बनाए जाने के अलावा) जिसके चलते ये गैंग या उनके सदस्य अपना अपराधी गैंग जीवन छोड़ देते हैं? अधिकतर दृष्टान्तों में मिले उत्तर थे - नौकरी मिल जाना, पैसा होना, अपने परिवारों से अलग हो पाना, अपना खुद का घर बसा पाना, विवाह कर पाना और अपना निजी परिवार-संसार शुरू कर पाना। इससे भी आश्चर्यजनक बात यह सामने आई कि जब कोई सदस्य यह सब कर पाने लायक बड़ा हो जाता, तो गैंग के छोटे सदस्य उसे रोकते नहीं थे, जाने देते थे। मानो वे जानते हों कि गैंग जीवन लड़कपन की हरकत है जिसे अधिक गम्भीर और बड़ों-सा काम कर पाने का मौका मिलते ही त्याग देना चाहिए।

काम दरअसल एक अनूठा और साहसिक अभियान-सा होता है, दुनिया को तलाशने का एक नया तरीका होता है। कई लोग स्कूली कक्षा की ऊब और बोझिलपन का पक्ष यह कहते हुए लेते हैं कि हम बच्चों को सिखा रहे हैं कि काम क्या है। पर यह सिखाने के लिए स्कूली कक्षाओं को इतना नीरस बनाने की ज़रूरत ही क्या है, जबकि अधिकांश बच्चे यह *जानना चाहते हैं* कि काम क्या है और वे कुछ समय तक तो इसे कतई नीरस नहीं पाते हैं? कई बच्चे, अक्सर सबसे ज़्यादा खुराफाती और अनियंत्रित बच्चे, वास्तव में उपयोगी

बनना चाहते हैं, वे यह महसूस करना चाहते हैं कि उनके काम से कुछ अन्तर पड़ेगा। वास्तविक काम यह अहसास दिलाने का ही उपाय है। साथ ही काम उस रहस्यमय और आकर्षक दुनिया का हिस्सा है जिसमें वयस्क अपना अधिकतर समय लगाते हैं। जब बच्चे को वयस्कों के साथ काम करने का अवसर मिलता है, तो वह उनके एक नए ही रूप को देख पाता है और स्वयं को उनकी दुनिया का हिस्सा महसूस कर पाता है। उसे अपने भविष्य की भी एक झलक दिखती है। आखिर किसी दिन वह भी बड़ा होगा, ज़्यादातर समय काम करेगा। यह सब कैसा होगा, उस बारे में वह आज भी कुछ जान सकता है।

मैं एक बच्चे को जानता था जो अपने अच्छे और उदार स्कूल में बहुत खुश नहीं था। वह काम करने को आतुर रहता था। वह जानना चाहता था कि काम भला होता कैसा है। उसके कई दोस्त काम करते थे। उसे जो जेब खर्च मिलता, उससे ज़्यादा वह काम करके कमा सकता था। और यह कमाई दूसरी तरह से पाए रुपयों से कहीं अधिक उसकी अपनी भी होती। यद्यपि उसने कभी इस बारे में कुछ कहा नहीं, पर मुझे लगता है कि वह अंशतः इसलिए भी काम करना चाहता था कि वयस्कों के साथ उसका रिश्ता बदल सके। वह एक ही रिश्ते से परिचित था जहाँ वह ज़िम्मेदारीहीन और पर निर्भर था। वयस्कों ने उसकी देखभाल की थी, उसकी फिक्र की थी। कुछ वयस्क उसे पसन्द थे, तो कुछ नापसन्द भी थे। पर वह उनके इस दावे से खुद को बचा नहीं सकता था कि वे जो कहें वह उसे करना ही होगा, क्योंकि यह उसके भले के लिए ही तो था। पर अगर वह किसी दुकान में काम करता होता तो उसे कभी यह नहीं सुनना पड़ता। यह सही है कि उसे खरीददारों या मालिक की इच्छाओं के अधीन रहना होता। पर वह *उनके लिए* सच में कुछ करता भी। कितनी ही छोटी क्यों न हो, किसी प्रकार की सेवा वह ज़रूर दे सकता। और तो और वह किसी वास्तविक गतिविधि में अपनी ऊर्जा और कौशल को लगा रहा होता। दुकान का अस्तित्व इसलिए नहीं होता कि उसे बच्चे की मदद करनी है, बल्कि चीज़ें बेचने के लिए, सेवा मुहैय्या करवाने के लिए, पैसा कमाने के लिए ही वह दुकान मौजूद थी। दुकान में उसके कार्य प्रदर्शन का आकलन इन ठोस और समझ आने वाले लक्ष्यों के हिसाब से होता। हो सकता है कि उसे सुनना पड़ता, "कितनी बार बताना होगा कि यह चीज़ इसके साथ रखी जाती है" या "फटाफट पिछला कमरा साफ कर डालो।" या योग्य पाए जाने पर उसे सराहा जाता। पर ऐसे निर्देशों में कुछ अस्पष्ट नहीं होता जबकि उसे स्कूल में अस्पष्ट कारणों से लगातार मापा जाता रहा था। न जाने किन-किन कारणों से उसने स्कूल में लोगों को निराश किया था, या उसे सुनना पड़ा था कि उसका नज़रिया खराब

है। उसे कॉलेज में दाखिला ही नहीं मिल सकेगा, या वह सफल हो ही नहीं सकता। दुकान में अमूमन जो कुछ उसे करने को कहा जाएगा उसमें और दुकान के काम और सफलता में एक स्पष्ट और तात्कालिक सम्बन्ध होगा। और यह सब स्कूल से कितना भिन्न है जहाँ पीटर मरीन के शब्दों में "कृत्य व परिणाम के कृत्रिम कर्मकाण्ड" होते हैं। जहाँ अच्छा या बुरा वह होता है जिसे शिक्षक अच्छा या बुरा कह दे। जहाँ किसी चीज़ को करने का एकमात्र कारण होता है किसी अन्य द्वारा ऐसा करने को कहा जाना।

काम से दुनिया में अक्सर एक ऐसा अन्तर भी पड़ता है जो साफ नज़र आता है। वह भाग्यशाली और बिरला बच्चा, जो किसी चीज़ को बनाने या बढ़ाने में वयस्कों की मदद कर पाता है, आगामी तमाम सालों तक उस काम को याद रखता है, सोचता है "यह करने में मैंने मदद की थी।" काम अक्सर बच्चे की अधिकांश ताकत और कौशल की भी माँग करता है। काम करते समय बच्चा रोचक मशीनों या औज़ारों का उपयोग कर पाता है, जिन्हें वैसे उसे स्कूल में या बाहर छूने तक नहीं दिया जाता। जो बच्चा किसी वैक्यूम क्लीनर या मिक्सर या लॉन कटाई मशीन या ट्रैक्टर को चला सकने लायक हुआ ही हो और उस वक्त उसे इन उपकरणों के उपयोग का मौका मिले तो उसके लिए इससे अधिक उत्तेजक चीज़ और क्या होगी? कौन-से खिलौने इनकी तुलना में टिक सकेंगे? मैं एक आठ-नौ साल के लड़के को जानता हूँ जो घर में किसी को बिजली से चलाई जाने वाली घास कटाई मशीन का उपयोग करने ही नहीं देता। उसे मशीन को धकियाने में काफी ज़ोर लगाना पड़ता था। पर आखिर यह उसकी मशीन और उसका काम जो था। बाद में जब इसकी नवीनता खत्म हो गई तो मशीन से लॉन काटना भी एक ऐसा काम बन गया जिसे कभी-कभार ही करना पड़ता था। फिर भी कुछ समय तक वह काम उसकी ज़िन्दगी का सबसे उत्तेजक काम बना रहा।

समरहिल के ए.एस. नील समेत कई लोग यह भी कहते हैं कि बच्चों को काम करना पसन्द नहीं। और जब तक ज़बरदस्ती काम करने का दबाव न हो, वे खेलना ही पसन्द करेंगे। कई माता-पिता जो सालों से यह कोशिश करते रहे हैं कि बच्चे घरेलू कामों में हाथ बँटाएँ, वे भी इस कथन से सहमत होंगे। बेशक कुछ तरह के काम बच्चों को पसन्द नहीं आते और जब तक ज़ोर-ज़बरदस्ती न हो, वे ऐसे काम कतई न करें। पर ये सब ऐसे काम हैं - जैसे घरेलू काम - जिन्हें वास्तव में कोई भी करना पसन्द नहीं करता। *एमएस* मैगेज़ीन के कार्यक्रम "फ्री टू बी यू एण्ड मी" में कार्यक्रम संचालिका कैरल चैनिंग घरेलू काम पर एक मज़ाकिया गीत गाती हैं। गीत के साथ घरेलू काम करती हुई कई महिलाओं के चित्र टीवी पर दिखाए जाते हैं। वे हमेशा मुस्कुराते हुए काम

करती दिखाई जाती हैं। पर कैरल बताती हैं कि काम करती महिलाएँ इसलिए नहीं मुस्कुराती हैं क्योंकि उन्हें ये तमाम काम अच्छे लगते हैं। बल्कि इसलिए क्योंकि वे अभिनेत्रियाँ हैं और उन्हें काम करने का *दिखावा* करने के लिए पैसे दिए जाते हैं। पर कोई भी घर के काम वास्तव में मुस्कराते हुए नहीं करता। इसलिए परिवार के हरेक सदस्य को - पुरुषों, महिलाओं, लड़कों, लड़कियों को - इसमें हाथ बँटाना चाहिए।

बच्चों और काम की बात करते वक्त एक समस्या आती है। वह यह कि काम से हमारा तात्पर्य क्या है, और किस तरह यह खेल से भिन्न है। कुछ लोग इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काम वह है जिसका कोई गम्भीर उद्देश्य होता है, जबकि खेल का नहीं होता। पर गम्भीर क्या है, यह कौन तय करता है? काम करने वाला या उसे देखने वाला? कुछ लोग पैसों के बदले खेलते हैं, या गाने-बजाने का काम करते हैं, दूसरे ऐसा नहीं करते। क्या पैसों के लिए काम करने वाले लोग अधिक गम्भीर होते हैं? मैं जब शौकिया टेनिस खेलता हूँ या चैलो वाद्य बजाता हूँ, तो उतना ही गम्भीर होता हूँ जितना उन कामों को करते समय जिनके लिए मुझे पैसे मिलते हैं। जिस व्यक्ति को नीरस, उबाऊ या खतरनाक काम करना पड़ता है वह शायद यह राय रखता हो कि आजीविका के लिए लिखने या संगीत बजाने वाले नहीं जानते कि वास्तविक काम क्या होता है। ज़ाहिर है तमाम ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें लोग काम कहते हैं, और जो दूसरे कामों की तुलना में अधिक रोचक, उत्तेजक और सुखद होती हैं। काफी हद तक जो काम बच्चों को पसन्द नहीं आते हैं वे किसी को भी पसन्द नहीं आते।

काम और खेल में अन्तर करते हुए नील कहते हैं कि बच्चे खेल को लेकर कल्पना कर सकते हैं, पर काम को लेकर नहीं। और क्योंकि उनके लिए यह काल्पनिक जीवन महत्वपूर्ण होता है, वे खेलना पसन्द करते हैं और काम करना नापसन्द। इस बात में कुछ सच्चाई ज़रूर है। आखिर बर्तन माँजने को लेकर कल्पना की उड़ानें भरना मुश्किल ही होगा। इसके विपरीत कोई किताब लिखते वक्त मैं उसके बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ कर पाता हूँ। सोचता हूँ कि उसकी सकारात्मक समीक्षाएँ छपेंगी, पाठक उसे पढ़ेंगे। शायद इससे उनके जीवन में कुछ अन्तर भी पड़ेगा। सच तो यह है कि अगर मैं यह कल्पना न कर सकूँ कि पुस्तक पूरी हो चुकी है, उसका अस्तित्व है, और वह पसन्द की गई है, तो मैं उसे लिख ही नहीं सकता। ऐसे में वह मेरे लिए वास्तविकता का रूप ही नहीं ले सकती। जिन शब्दों को कोई न पढ़े, उन पर कोई ध्यान ही न दे, तो टाइपराइटर पर उन शब्दों को धड़ाधड़ टंकित करना तो समय बर्बाद करना ही होगा। बहरहाल जो लोग कहते हैं कि बच्चे आलसी हैं और केवल

वे काम करेंगे जो आसान हों, और जब तक उन पर दबाव न डाला जाए कठिन काम करेंगे ही नहीं, वे गलत हैं। जब मैंने समरहिल में पहले-पहल वे गहरे गड्ढे और गुफाएँ देखीं जो बच्चों ने - छोटे बच्चों ने भी - खोदी थीं, तब मुझे अहसास हुआ कि इसके पीछे कोई गहन व गम्भीर उद्देश्य था। क्योंकि ऐसा करने में उन्होंने खूब मेहनत की थी, कौशल का उपयोग किया था और पूरी कटिबद्धता के साथ उसे पूरा किया था। उनमें से कई गुफाएँ तो सप्ताहों की मेहनत से खोदी गई थीं। लेकिन एक भी ऐसी नहीं थी जिसे हम तैयार गुफा कह पाते। अर्थात् बच्चे आगे भी उसमें मेहनत करने वाले थे।

कल्पना करना महत्वपूर्ण है। बच्चे ऐसी चीज़ें करना और बनाना पसन्द करते हैं जो उनकी कल्पनाशीलता को मुक्त और केन्द्रित कर पाएँ, जिनका वे अपनी कल्पना में, दिवास्वप्नों में, उपयोग कर सकें। परन्तु जिस बात को आज कुछ देश समझने लगे हैं, पर अमरीका में अब तक समझी नहीं जा सकी है, वह यह है कि बच्चे इस बात का विरोध करते हैं कि दूसरे लोग उनके लिए कल्पनाएँ कर लें। वयस्क सोचते हैं कि अगर वे ऐसा कुछ बना दें, मानो एक व्हेल मछली, तो बच्चे उसके साथ या उस पर सवार होकर ऐसे खेल खेलेंगे जो वे कल्पना में किसी असली व्हेल मछली के साथ खेलें। पर ऐसा नहीं है। एक तैयारशुदा व्हेल का उपयोग वे यह जानने के लिए ही करेंगे कि उसे तोड़ा कैसे जा सकता है। उनका यह उद्देश्य भी काफी गम्भीर हैः पर क्योंकि ऐसी व्हेल अमूमन मज़बूत प्लास्टिक या स्टील व कांक्रीट से बनी होती है, और बच्चों के औज़ार बिलकुल आदिम होते हैं, ऐसे में तोड़-फोड़ का यह काम काफी कठिन बन जाता है। फिर भी आम तौर पर वे यह काम पूरा करने में सफल हो जाते हैं। नतीजतन खेल मैदानों में बनी व्हेल का जीवन काल संक्षिप्त रहता है। साहसिक व निर्माण खेल मैदानों में बच्चे लगातार कुछ न कुछ बनाते हैं। वे अपने आकार से काफी बड़े औज़ारों से, बड़ी ऊर्जा और निरन्तरता से आरी से काटते हैं, हथौड़ों से ठोंकते या कीलें गाड़ते हैं। महत्वपूर्ण बात यह कि इन कामों पर उनका अपना नियंत्रण होता है। वे जो स्वयं चाहते हैं वह गढ़ते हैं और कैसे गढ़ना है यह भी स्वयं ही तय करते हैं। इस अर्थ में वे अनगढ़पन के बावजूद मज़दूर नहीं, कारीगर ही होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि वे जो कुछ निर्मित करते हैं उसका एक काल्पनिक उद्देश्य भी होता है - वे जहाज़ या ऊँची मीनार, कोई होटल या गुप्त क्लब बना रहे होते हैं। उसमें तमाम रोमांचक घटनाएँ घटने वाली होती हैं, जो उनके दिमाग में अभी से घटने लगती हैं। ज़ाहिर है कि कल्पना तब अधिक कारगर हो जाती है जब उसको आकार देने के लिए कुछ वास्तविक काम भी हो। यही बात बेन रॉजर्स को उस वक्त पता चली थी जब वह अपना काल्पनिक भाप का जहाज़ चलाते हुए

सड़क पर चला जा रहा था और उसे एक वास्तविक पुताई की कूँची लिए टॉम सॉयर दिखा था।

हम बच्चों से जो छोटे-मोटे काम करने को कहते हैं उन्हें नापसन्द करने के उनके पास और भी कई कारण होते हैं। एक तो यह कि ये काम उन्हें अक्सर अकेले ही करने पड़ते हैं। जिन छोटे बच्चों को मैं जानता हूँ उन्हें अपने कमरे की सफाई अकेले करना नापसन्द था। पर मेरी या किसी दूसरे की मदद से वे इसे आसानी से कर डालते थे। हम उसका कोई खेल या स्पर्धा बना डालते। तब बच्चे खूब मेहनत करते और काम चुटकियों में खत्म हो जाता था। अगर कोई दूसरा भी उसमें उनका हाथ बँटाए तो बच्चे वे घरेलू काम खुशी-खुशी कर डालें जिनसे वे कतराते हैं।

हमारे द्वारा बताए या कहे गए काम नापसन्द करने का एक और कारण यह भी है कि उन्हें हमारा लक्ष्य बेमानी लगता है, या समझ नहीं आता। जब हम कूड़ा बाहर डालते हैं तो हम उसका कारण भी समझते हैं। अगर हम कूड़ा न फेंकें तो हमारा घर, हमारी रसोई कचरे से भर जाएगी। हम वह स्थिति न केवल मानसिक रूप से देख पाते हैं, बल्कि कचरे की दुर्गंध तक को सूँघ पाते हैं। इस अर्थ में हमारी कल्पनाशक्ति बच्चों की कल्पनाशक्ति से अधिक सक्रिय होती है। पर कचरे को लेकर बच्चे की ऐसी कल्पनाशक्ति नहीं होती। हम उससे पूछ सकते हैं, "अगर कचरा बाहर न डाला तो पता भी है क्या होगा?" पर बच्चे को इसका भान ही नहीं होता। मुझे लगता है वह शायद यह सोचता हो कि कूड़े की थैली पड़ी रहे, उसमें हर्ज़ भी क्या है? एक सामान्य अर्थविज्ञानी और *साइंस एण्ड सेनिटी* के लेखक एल्फ्रेड कोरज्येबस्की इंसान को काल बाँधने वाला (टाइम बाइण्डर) कहते थे। वे बड़ों और छोटों में एक अन्तर बताते हैं। उनके मुताबिक बड़े कई अर्थों में अधिक समय को बाँध सकते हैं। उन्हें यह बेहतर नज़र आता है कि जो हमने पहले किया वह हमारे आज के करने से कैसे जुड़ा है। और हम आज जो कर या नहीं कर रहे हैं वह भविष्य में कैसी स्थिति पैदा करेगा - हमारी कल्पना में कूड़े से भरा घर या ऐसा घर जिसके आँगन में तीन फीट ऊँची घास उगी है बड़ी आसानी से सजीव हो जाता है। इसी तरह हमारे कई काम बच्चों को समय की बर्बादी लग सकते हैं, पर हम उनका उद्देश्य समझते हैं। हम एक नन्हा पौधा रोपते हैं और कल्पना में उसे खूब बड़ा देख सकते हैं। वह कितना सुन्दर हो जाएगा, उसकी छाया का कितना सुख हमें मिलेगा, इसकी कल्पना भी कर सकते हैं। पर बच्चा ऐसी कल्पना भला कैसे कर सकता है? वह उसे रोपने में शायद हमारी मदद भी करे ताकि बाद में उसे देखकर सोचे कि उसे लगाने में उसने मदद की थी। पर एक बड़े वृक्ष की कल्पना करने में काफी समय लगता है।

हम बच्चों से जो काम करवाना चाहते हैं उनमें से अधिकांश काम बच्चों को अनन्त लगते हैं। कभी न पूरे होने वाले काम। और यह सच भी है, वे कभी खत्म नहीं होते। उन्हें बार-बार, फिर-फिर, करना पड़ता है। ऐसे में कई बार बच्चा सोच सकता है कि इसका अर्थ ही क्या है। मैं बिस्तर भला क्यों समेटूँ? आखिर रात को सोते समय तो वह फिर से बिखरेगा ही? सवाल बुरा नहीं है और इसका जवाब कम से कम मेरे पास तो नहीं है। किसी दूसरे के घर जाने पर मैं अपना बिस्तर इसलिए समेटता हूँ क्योंकि जानता हूँ कि अगर मैं यह नहीं करूँगा, तो कोई दूसरा उसे समेटेगा। और यह बोझ उन पर क्यों पड़े? पर यह क्यों करना चाहिए यह मुझे भी समझ नहीं आता। चादर को चारों ओर से दबाना, उस पर से सलें हटाना। किसलिए? यह दिखाने के लिए कि कोई उस पर कभी सोया नहीं है, जबकि हर रात उस बिस्तर पर कोई सोता है?

जिन कामों को हम बच्चों से करवाना चाहते हैं, उनमें से कुछ हमारी नज़र में निश्चित उद्देश्य लिए होते हैं। पर बच्चों के वे उद्देश्य हो ही नहीं सकते। मेरे पिता को बागवानी का शौक था; हमारे घर में हमेशा एक सब्ज़ी का बाग हुआ करता था। मेरे दादा एक खेत पर पले थे, जहाँ उनका परिवार पीढ़ियों से रहता आया था। मेरे ताऊ उसे अब तक सँभालते थे। इसलिए ज़मीन से एक पारिवारिक जुड़ाव था। पर यह भावना ऐसी नहीं जिसे कोई बच्चा समझ सके या जिसका वज़न उसे महसूस हो। साथ ही बागवानी वह चीज़ थी जो उनके शहरी जीवन के विपरीत थी। और इस अर्थ में बागवानी उनके शहरी जीवन को सन्तुलन भी देती थी जिसे वे नापसन्द करते थे। वे तमाम लोगों की तरह एक ऐसे धन्धे में थे जिसमें वे उत्पादन तो करते थे पर किसी ऐसी वस्तु का नहीं जिसे वे देख या महसूस कर सकें। पर सब्ज़ियाँ बिलकुल ठोस थीं। आप बीज बोएँ, और कुछ चीज़ें करते रहें। कुछ समय बाद कुछ ऐसा उगेगा जिसे आप देख और खा सकते हैं। पर बच्चे के लिए इसमें से कोई भी चीज़ महत्वपूर्ण नहीं होती। उसके लिए दुनिया में कुछ भी अमूर्त नहीं होता। प्रत्येक वस्तु ठोस और मूर्त होती है। उसके लिए सब्ज़ी दूसरी किसी वस्तु से अधिक चमत्कारिक नहीं है। अतः बागवानी का यह काम जो मेरे पिता के लिए कई प्रकार के अर्थ रखता, हम बच्चों को कभी न खत्म होने वाला और निरर्थक काम लगता था। आश्चर्य नहीं कि हम उसका हर सम्भव विरोध करते थे। शायद यही बात समरहिल के बच्चों के लिए भी कही जा सकती है। ये नील की बागवानी में कोई मदद करना नहीं चाहते थे। और उन्हें यह समझ ही नहीं आता था कि बागवानी के औज़ार गायब कर लेने पर नील इतना नाराज़ भला क्यों हो जाता था।

बगीचे और चीज़ें उगाने की चर्चा करते हुए मैंने वयस्कों के काम के विषय में

एक अधिक सामान्य उद्देश्य भी बताया है। इसे बच्चे न तो समझते हैं और न ही उन्हें इससे कोई सरोकार होता है। बच्चा दुनिया को वैसे ही स्वीकारता है जैसी वह है। उस दुनिया को तलाशने, उसे जानने, उसमें जीना सीखने का काफी काम उसके पास होता है। जब वह उसमें कोई बदलाव ला पाता है, उस पर कोई दृश्य छाप छोड़ता है तो उसे प्रसन्नता होती है। ऐसा करने का कोई दूसरा उपाय न हो तो वह दीवारों पर ही (अक्सर रोचक) इबारतें लिखता है या कांक्रीट व स्टील से बने खेल मैदानों को तोड़ता-फोड़ता है। उसे इसकी हड़बड़ी नहीं होती। उसे लगता है कि जीवन अनन्त काल तक उसके सामने पसरा हुआ है। हम जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, समय जल्दी बीतता-सा लगने लगता है। जीवन अधिक सीमाबद्ध और छोटा लगने लगता है। यह अहसास होने लगता है कि हम काल व अन्तरिक्ष की विशालता में या मानवता के समूचे जीवन की तुलना में कितने तुच्छ और क्षणिक हैं। और फिर हम एक आग्रहपूर्ण रफ्तार से दुनिया को बदलना चाहते हैं, ऐसी रफ्तार जिसकी बच्चों या किशोरों से उम्मीद ही नहीं की जा सकती। वह भले छोटी-सी ही क्यों न हो, लेकिन हम कोई छाप छोड़ना चाहते हैं, यह जताने के लिए कि किलरॉय की तरह हम भी यहाँ थे।

साथ ही मैंने, चाहे प्रकारान्तर से ही क्यों न हो, इस प्रकार के कामों का संकेत भी दिया है जो बच्चे करना पसन्द करते हैं। इसमें कुछ और जोड़ता हूँ। बच्चे ऐसा काम पसन्द करते हैं जिसमें उन्हें अपने हाथों से या किसी सामग्री से कुछ करना पड़े। यही रेत की आकृतियों का आंशिक रहस्य है। वे चीज़ें मिलाना पसन्द करते हैं, ताकि उनकी बनावट को महसूस कर सकें, उनके रंग देख सकें। वे उन्हें बदलता देखना भी पसन्द करते हैं। वे पानी को नियंत्रित करना, उसका उपयोग करना पसन्द करते हैं। पाइप से पानी पिलाना या डालना उन्हें हमेशा सुखद लगता है। तालाब या गड्ढे खोदना, पानी का रास्ता बदलना या उसमें बहाव को रोकना उन्हें अच्छा लगता है।

कई बच्चों को, खासकर जब वे छोटे हों, खाना पकाना पसन्द आता है। प्राथमिक शालाओं या कक्षाओं में पकाने की गतिविधि हमेशा बच्चों की मनपसन्द गतिविधि या कक्षा सिद्ध होती है। जितनी भी चीज़ों का उपयोग किया जाता है, शायद चिपचिपे अण्डों को छोड़कर (जो जल्दी ही कुछ दूसरी ही चीज़ में बदल जाते हैं), वे देखने में सुन्दर लगती हैं। उनकी सुगन्ध, उनका स्पर्श सुखद होता है। और फिर इसमें काफी बदलाव और जादू भी होता है। चीज़ पहले एक तरह की दिखती है, पर जल्दी ही कुछ और बन जाती है। यह सब कितना चमत्कारी होता है; बिस्कुट, केक या जो कुछ बनाया जा रहा है, ठीक बनेगा? पर बच्चे को पता होता है कि उसे अधिक इन्तज़ार नहीं करना

पड़ेगा। उसके श्रम का अन्तिम उत्पाद जल्दी ही सामने होगा। और जब वह उत्पाद सामने आता है, बच्चे को उसका उपयोग भी पता होता है। और वह उसे पसन्द भी होता है। शुरू से ही उसका उद्देश्य, उसकी दृष्टि काफी स्पष्ट होती है। उसकी समयावधि भी पक्की होती है। वह सोचता है मैं बिस्कुट बनाऊँगा और फिर उसे *खाऊँगा*।

पुताई का काम अच्छा है। पुताई के औज़ार भी बस में किए जा सकते हैं और इन्द्रियों को सन्तोष देने वाले होते हैं। दीवार के विरुद्ध कूँची के बालों के रगड़ खाने से अधिक सन्तोषजनक भला क्या होगा? रंग की बनावट गाढ़ी होती है और उसका एक निश्चित रंग होता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि आप देख सकते हैं कि काम की प्रगति क्या है, वह कैसा चल रहा है, कितना बाकी बचा है। कूँची का हर आघात उन्हें उपलब्धि के नए अहसास से भरता है। कूँची के साथ कल्पना भी की जा सकती है। जब कभी मैं कुछ रंगता हूँ, जिसके मौके कम ही आते हैं, मैं खुद से कहता हूँ, शाबाश! क्या खूब रंगा है!

अगर इस्तेमाल किए जाने वाले औज़ार अपरिचित या अनोखे हों, कुछ हद तक खतरनाक भी, और अगर उनमें कहीं आग या ताप का उपयोग करना पड़ता हो तो वे बच्चों को बेहद पसन्द आते हैं। कॉपनहेगन के बाहर, बागस्वैर्ड में स्थित न्ये लिलेस्कोल (न्यू लिटिल स्कूल) के बच्चे वैल्डिंग का काम करते हैं। इनमें सबसे बड़ों की आयु चौदह साल की होती है। जो कोई बच्चा करना चाहे उसे अनुमति दी जाती है। इस काम में बेहद उत्साह रखने वाले और सच में कुशल बच्चों की उम्र दस साल से कम है। उनमें से कम से कम एक तो उतना ही माहिर हो चुका है जितना उन्हें सिखाने वाला वयस्क है। यह स्कूल की सबसे लोकप्रिय गतिविधि है। किसी अमरीकी प्राथमिक शाला में वैल्डिंग के औज़ारों की कल्पना तक नहीं की जा सकती। और जब तक स्कूल अनिवार्य रहेंगे और इस कारण बच्चे के घायल या चोटिल होने पर कोर्ट-कचहरी के भय से ग्रस्त होंगे, यह बात समझ में भी आती है कि वैल्डिंग की गतिविधि वहाँ क्यों नहीं होती। पर जितना मैं जानता हूँ न्यू लिटिल स्कूल का एक भी बच्चा वैल्डिंग करते हुए घायल नहीं हुआ है। और सच तो यह है कि अगर हमारे सारे स्कूल वैल्डिंग की छूट दे दें तो भी उससे बच्चों को फुटबॉल खेलने से लगी चोटों से कम नुकसान ही पहुँचेगा।

कोई भी काम जिसमें बच्चे यह देख सकें कि वे क्या कर रहे हैं, कितना कर रहे हैं, कितनी अच्छी तरह से कर रहे हैं, उनके लिए अच्छा है। वैक्यूम क्लीनर को चलाना कुछ समय के लिए मज़ेदार होता है। पर जब मशीन चलाने की आदत पड़ जाए, तो उसमें आगे ज़्यादा कुछ नहीं बचता। कभी-कभार वैक्यूम से कोई कागज़ या रस्सी का निगलना देखना रोचक होता है। पर अधिकांश

समय यह पता ही नहीं चलता कि वैक्यूम से सफाई हुई है या नहीं। आपकी मेहनत से कोई अन्तर पड़ा है या नहीं। मेरे पिता के बाग में सबसे खराब काम था खरपतवार निकालने का। हमें वह अनन्त लगता था। और क्योंकि हम अपने पिता की इस कल्पना के भागीदार नहीं थे कि पूरा बगीचा विशाल खरपतवार में खो जाएगा, हमें वह उद्देश्यहीन भी लगता था। पर एक काम मुझे बेहद पसन्द था। कभी-कभार घास का कुछ हिस्सा खोदकर नई क्यारी बनानी पड़ती थी, या बगीचों की मिट्टी में खाद डालकर मिट्टी को उलट-पलट करना होता था। इसमें सचमुच दम लगाना पड़ता था। मुझे इसकी ज़रूरत भी समझ आती। काम करते समय मुझे उसकी प्रगति भी नज़र आती। हर खुरपी पर माटी की छाप दिखाई देती थी। मैं कह सकता था कि एक चौथाई, आधा या तीन चौथाई काम हो गया है और बचा हुआ हिस्सा भी इसी तरह होता जाएगा और - सफलता! - अन्ततः वह शेष हो जाएगा। इसी बात ने बाद में लॉन की घास की कटाई या खेत में घास कटाई को मेरे लिए रोचक बनाया। लॉन के कटे हुए हिस्से की तुलना मैं शेष हिस्से से कर सकता था। एक हिस्सा बढ़ता तो दूसरा घटता जाता। दोनों ही हिस्सों का आकार लगातार बदलता जाता था। और क्रमशः कटा हुआ भाग अनकटे को लील लेता। बच्चों को यह अच्छा लगता है। किसी लकड़ी को आरी से काटने या कुल्हाड़ी से फाड़ने में भी यही विशेषता है। यह काम भी कठिन होता है। आरी बड़ी धीरे-धीरे चलती है। काम करने वाले को बार-बार अपने दुखते हाथों को आराम देना पड़ता है। पर फिर भी काम करते वक्त वह आरी से बने गहरे कटाव को क्रमशः बढ़ते देखता है। उसमें से निकला बुरादा गवाही देता रहता है कि वास्तव में कुछ हो रहा है।

अगर किसी काम का समझा जा सकने वाला उद्देश्य हो, अगर उसमें ताकत और कौशल लगाने पड़ते हों, अगर वह अपनी मेहनत का नतीजा काम करते समय देख पाता हो, तो बच्चा बड़े कठिन काम करेगा और खत्म होने तक उसमें खुश रहेगा। महत्वपूर्ण यह है कि उसे ऐसा काम न दिया जाए जो उसे अनन्त लगे। इतना बड़ा न हो कि वह उसमें प्रगति को माप न सके, उसकी कल्पना ही न कर सके। इतना विशाल न हो कि तमाम मेहनत करने के बावजूद उसे लगे कि वह वहीं का वहीं खड़ा है। बहुत बड़ा काम ठीक वैसा है जैसा थाली में परोसा गया ढेर-सा खाना, जो कल्पना और भूख दोनों को ही मार देता है। वह यह सोच ही नहीं पाता कि वह कभी उसे पूरा कर पाएगा या खा पाएगा। सो शुरुआत करने का भला क्या फायदा? किसी किताब को शुरू करते समय मैं स्वयं भी ऐसी ही भावना से अटक-सा जाता हूँ। और तब मुझे काम करते रहने के तमाम तरीके सोचने पड़ते हैं, जब तक कि वह पुस्तक मेरी कल्पना में आकार न ले ले, वास्तविक नहीं बन जाए।

हम बच्चों से अपने लिए मदद माँगने या उनके पूछने पर हाँ कहने में अक्सर बड़ी देर करते हैं। बच्चे शायद उस उम्र में मदद करने की अनुमति चाहते हैं जब हम उन्हें खास मदद कर पाने लायक मानते ही नहीं। सम्भव है वे कालीन पर वैक्यूम क्लीनर चलाकर उसे साफ करने की बात करें। पर हमें मालूम होता है कि वे व्यवस्थित नहीं हैं। वे जगह-जगह इतनी गन्दगी छोड़ देंगे कि हमें फिर से सफाई करनी पड़ेगी। यह हमें झंझट की बात लगती है। खुद कर डालना अधिक आसान लगता है। पर शायद बुद्धिमानी इसी में है कि उन्हें तब से ही मदद करने दी जाए जब वे पूरी तरह मदद करने लायक न हुए हों। हम यह न सोचें कि क्योंकि उनके प्रयास अनगढ़ हैं, वे मदद करने को लेकर गम्भीर नहीं हैं। एक लड़के को मैं जानता हूँ, जिसने साढ़े तीन साल की उम्र में अपनी माँ को खाने की मेज़ सजाते देखा और उसकी मदद करनी चाही। उस दिन मेहमान आने वाले थे और वे अपनी पसन्दीदा प्लेटें सजा रही थीं। गिरने पर प्लेट टूट जाएगी सोचकर उन्होंने बेटे को पहले मना कर दिया। पर बच्चा ज़िद करता रहा। अन्ततः उन्होंने बात मान ली और उसे समझाया कि सावधानी से प्लेट कैसे उठाई और मेज़ पर लगाई जाती है। ना उस दिन, ना उसके बाद कभी उस लड़के ने एक भी प्लेट गिराई या तोड़ी। और वह अपनी माँ की कई तरह से मदद भी करता रहा है। पर हमेशा सब इतना आसान नहीं होता। सारे बच्चे एक ही तरह से मददगार नहीं होते। और सबसे मददगार बच्चे भी अक्सर बेहद ज़रूरत के समय हमेशा मदद देते भी नहीं हैं।

फिर भी मुझे लगता है कि जब भी बालक के मन में मदद करने, उपयोगी होने की इच्छा जगे, हमें उसका सम्मान करना चाहिए। उसे प्रोत्साहित करना चाहिए। क्योंकि अगर हम ऐसा नहीं करते तो हम उनके मन में यह भावना जगा सकते हैं कि हम उन पर विश्वास नहीं करते या वे मदद करने, उपयोगी बनने लायक ही नहीं हैं। या शायद हमें उनकी मदद चाहिए ही नहीं - अन्यथा जब उसने पहले मदद देनी चाही थी तो हमने मदद ली क्यों नहीं। वे यह भी सोच सकते हैं कि जो काम हम करवाना चाहते हैं वह दरअसल करने लायक है ही नहीं और वह केवल वयस्कों का खुद को व्यस्त रखने का एक शगल भर है।

अब तक बच्चों द्वारा वयस्कों की मदद के विषय में मैंने जो कुछ लिखा है वह मध्यवर्गीय परिवारों की बात है। गरीब और बड़े या संयुक्त परिवारों के बच्चे अक्सर छोटी उम्र से ही मदद करने के आदी हो जाते हैं। उनसे शुरू से ही छुटपुट काम करवाए जाते हैं। माता-पिता व्यस्त हों तो खाना या दवा लाने, छोटे-भाई बहनों की देखभाल करने के काम वे करते हैं। मेक्सिको में और (मेरा अनुमान है) अन्य अमरीकी शहरों में दो-तीन साल के बच्चों की देखरेख अक्सर

छह साल से कम उम्र के बच्चे ही करते हैं। क्या यह बुरा है? सम्भव है कि बड़े बच्चे को यह हमेशा ही करना पड़े, जैसा अक्सर होता है; उसे भी अपना समय मिलना चाहिए। पर अपने से छोटे भाई-बहनों की देखभाल बच्चे को नुकसान नहीं बल्कि लाभ ही पहुँचाती है। मैं जहाँ तक देख पाया हूँ, अपने से छोटे बच्चों की देखभाल करने वाले बच्चे काफी स्नेही, रोचक और ज़िम्मेदार साथी बनते हैं। वे जीवन्त और उत्साही होते हैं।

"परन्तु" कुछ लोग कहते हैं "अगर बच्चे पैसों के लिए काम करना चुन सकेंगे तो बालश्रम के भयावह दिन लौट आएँगे।" कई कारणों से इसकी सम्भावना कम ही दिखती है। और इसे रोकने के तमाम उपाय बच्चों से काम करने का अधिकार छीने बिना भी किए जा सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिन चीज़ों ने बालश्रम को इतना भयावह बनाया उनमें पहली तो यही थी कि बच्चों ने काम करने का चुनाव स्वयं नहीं किया था और ना ही वे इससे इंकार कर सकते थे। वे वास्तव में लगभग गुलाम ही होते थे जिन्हें उनके माता-पिता अपनी गरीबी और लाचारी के चलते काम में धकेलते थे। क्योंकि उनकी आय के बिना परिवार का गुज़ारा नहीं चलाया जा सकता था। वह अधभूखा बच्चा अगर श्रमिक न बनता तो वह भुखमरी का ही शिकार हो जाता। किन्तु अगर वह गुलाम था भी, तो उतना ही गुलाम जितने उसके माता-पिता थे। उनकी ही तरह उसके समक्ष भी कोई विकल्प नहीं थे कि वह अपने काम को चुन सकता। वह हर जगह की टोह लेकर, मोल-तोल कर अपने लिए उचित काम का इन्तज़ार नहीं कर सकता था। उसे जो काम जब भी, जहाँ भी दिया जाता स्वीकारना पड़ता था।

गरीबी ने बच्चे को गुलाम बनाया था और बालश्रम सम्बन्धी कानूनों से गरीबी में आई कमी ने उसे आज़ाद किया। हमारे समाज में आज उन्नीसवीं शताब्दी के बालश्रमिकों की तुलना में कम गरीब बच्चे हैं। यद्यपि ऐसा एक भी बच्चा हमारे समाज के माथे पर कलंक ही कहलाएगा, किन्तु जितने भी ऐसे गरीब बच्चे हैं, वे तमाम कानूनों के बावजूद अब भी उतना ही काम करते हैं जितना वे कर पाते हैं। उन्हें पैसों की दरकार है और अपनी मेहनत से वे जो कुछ भी कमाते हैं, वह उनके लिए अच्छा है। यह उनकी तात्कालिक और गहनतम ज़रूरतों को पूरा करता है। यह स्थिति उनके काम न करने की या किसी दूसरे द्वारा उनके लिए कुछ न कुछ करने की स्थिति से तो हर हाल में बेहतर है। उन्हें वैसे भी पर्याप्त या समुचित भोजन नहीं मिलता है। और अगर वे काम कर कमा नहीं पाएँ तो उन्हें अब जितना भोजन भी न मिले। निकट या दूरगामी दोनों ही दृष्टि से भोजन के अभाव की यह स्थिति उनके लिए स्कूली पढ़ाई से वंचित रहने से अधिक खराब होगी। उस स्थिति में भी जब वे स्कूलों में जितना बच्चे

आज सीखते हैं उससे बहुत अधिक सीखते, या उन्हें वहाँ सबकी मदद मिल पाती। संक्षेप में, बालश्रम कानून हमारे गरीबतम बच्चों को काम करने से रोककर उन पर कोई भारी उपकार नहीं करते।

बालश्रम को इतना भयावह बनाने वाली दूसरी बात थी - काम का स्वरूप। वे कठिन काम होते थे, और बच्चों से उनके सामर्थ्य और ताकत के परे माँग करते थे। चौदह या सोलह घण्टों का दिन उस वक्त कोई असामान्य बात नहीं थी। काम की परिस्थितियाँ अस्वास्थ्यकर और खतरनाक होतीं थीं। परन्तु ठीक यही परिस्थिति वयस्कों की भी थी। खदानें, मिलें, कारखाने वयस्कों के लिए भी पीड़ादायक हुआ करते थे। वे भी मशीनों से कुचले जाते थे, रसायनों की धूल से विषाक्त होते थे, दुर्घटनाओं में मरते थे। उनका स्वास्थ्य और ताकत निचुड़ जाती। न्यू यॉर्क की कपड़ा दुकानों में सिलाई का काम करने वाली महिलाएँ अक्सर अपनी दृष्टि खो देती थीं। एक भयानक आँकड़ा दिमाग को झकझोरता हुआ याद आ रहा है। पीटर ड्रकर नामक वित्तीय व औद्योगिक सलाहकार ने एक बार लिखा था कि जिन प्रवासी श्रमिकों ने हमारे रेलमार्ग बनाए थे उनका औसत कार्य-जीवन मात्र *पाँच वर्ष* का था। यह तथ्य स्टालिन द्वारा स्थापित गुलाम श्रम शिविरों के विनाशकारी प्रभाव के समतुल्य है, जिसको लेकर हम सब इतने नाराज़ रहे हैं। हमारी आधुनिक अर्थव्यवस्था, जिस पर हमें इतना नाज़ है, अन्य बड़े औद्योगिक देशों की ही तरह, उतनी ही इंसानी हड्डियों और खून की बुनियाद पर गढ़ी गई है जितना कि रूसी गणराज्य।

बच्चों के शोषण का अन्तिम कारण था अपने माता-पिता की तरह उन्हें भी काम का बहुत कम पारिश्रमिक मिलना। और क्योंकि परिवार के गुज़ारे के लिए एक-एक पाई की ज़रूरत पड़ती थी, वे अपनी कमाई का एक धेला भी अपने लिए रख या खर्च नहीं सकते थे।

यद्यपि आज भी हमारे देश में इतनी ढेर सारी और इतनी दुखद गरीबी है जितनी किसी सम्पन्न देश में होनी नहीं चाहिए, फिर भी इसकी उन्नीसवीं शताब्दी के औद्योगिक शहरों की गरीबी से तुलना नहीं की जा सकती। और जैसा कि मैं संकेत कर चुका हूँ जब तक हम आज की इस गरीबी को कम करने के उपाय नहीं तलाश पाते, बच्चों को काम करने का अधिकार देने की सम्भावना भी नहीं है। ऐसे समाज में जिसमें किसी को ऐसी भयानक गरीबी का डर न हो जो बालश्रम को जन्म देती है, लोग लम्बे-लम्बे घण्टों तक ऐसे काम करने पर मजबूर नहीं होंगे जो असम्मानजनक, विनाशकारी और खतरनाक हों। ना ही वे अपने बच्चों को ऐसे काम में झोंकेंगे। कुछ खान श्रमिकों और कम मज़दूरी पाने वाले खेत मज़दूरों को छोड़ दें तो आज ऐसे लोग कम ही हैं जो

पिछली शताब्दी में आम तौर पर पाई जाने वाली खराब स्थितियों में काम करते हों। उस तरह का काम आज *किसी के लिए* नहीं है, क्या वयस्क, क्या बच्चे। अतः इस बात से डरने का भी कोई कारण नहीं कि बच्चों को वैसी स्थितियों में वैसे काम करने पड़ेंगे।

फिर भी एक सम्भावना और बचती है, कि भय या अभाव के कारण नहीं बल्कि दूसरों का सा जीवन स्तर बनाने की जलन और लालच के कारण लोग अपने बच्चों को परिवार के लिए खटने पर मजबूर करें। कई परिवारों में पति दो नौकरियाँ करता है और शायद पत्नी भी काम करती है, ताकि रोज़-रोज़ टीवी पर दिखाई जा रही चीज़ों को खरीदा जा सके। या फिर इसलिए कि बच्चों को वह महँगी शिक्षा उपलब्ध करवाई जा सके जिसके सहारे समाज में उनके उच्चतर स्तर की उम्मीद बने। क्या ऐसे में वे अपने बच्चों से यह नहीं कहेंगे कि उन्हें भी इसमें सहयोग देना होगा? सम्भावना है ज़रूर। पर मेरा मानना है कि अधिकांश दृष्टान्तों में यह होगा नहीं। हमें एक ऐसे समाज के बारे में सोचना होगा जिसमें अधिकतर लोग बच्चों और किशोरों के अधिकारों तथा सम्मान के बारे में हमारी आज की सोच से कुछ अलग सोचें। सम्भव है कि तब भी कुछ बच्चे अपनी ज़रूरतों के लिए पैसे कमाना चाहें, पर उनके माता-पिता उनसे यह माँग करें कि उनकी कमाई परिवार की आय में शामिल हो। ये तमाम सवाल एक अधिक व्यापक प्रश्न की ओर ले जाते हैं: हम बच्चों के कुछ अधिकारों को कैसे बचाएँ, उनकी सुरक्षा कैसे करें या माता-पिता द्वारा डाले जाने वाले दबाव या ज़ोर ज़बरदस्ती से उन्हें बचाने में उनकी कैसे मदद करें? खास तौर से उस स्थिति में जब बच्चे घर से दूर रह पाने योग्य न हों, या रहना न चाहते हों।

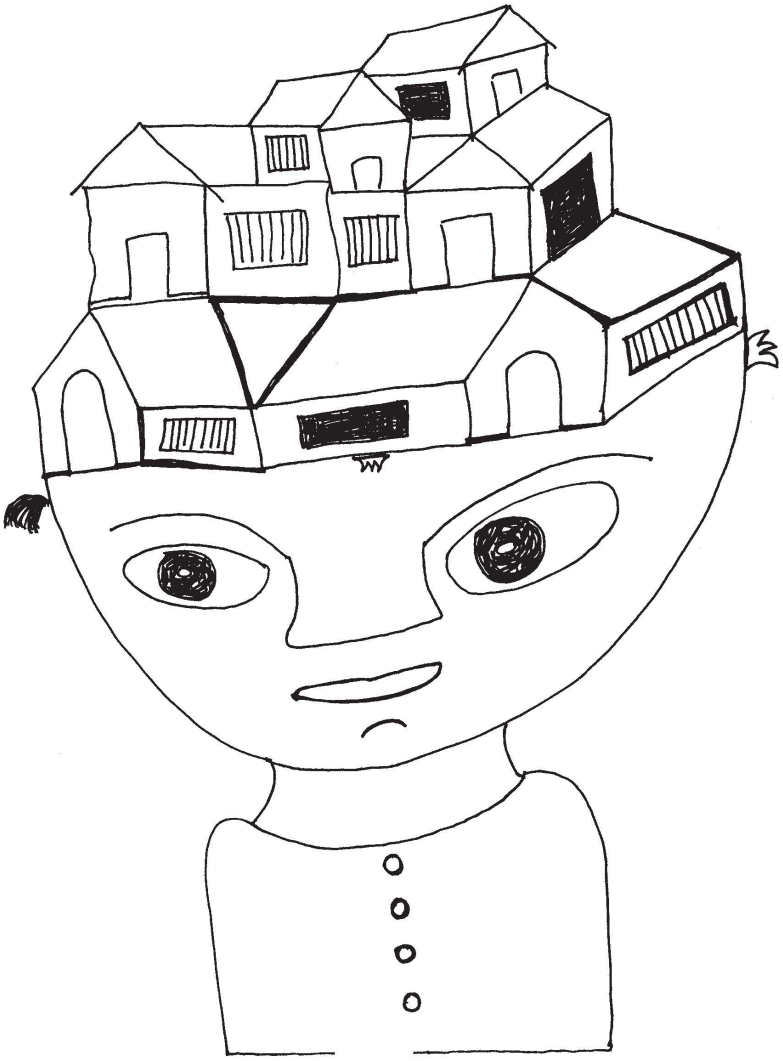

19. सम्पत्ति का अधिकार

बच्चों को कम से कम कुछ चीज़ों पर स्वामित्व का अधिकार होना चाहिए। यह बात उस व्यापक अधिकार से भिन्न है जो किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण वित्तीय स्वतंत्रता और ज़िम्मेदारी देती है। इसमें सम्पत्ति की खरीद-फरोख्त करने, कर्ज़ लेने, अनुबन्ध करने या जो भी वित्तीय कार्य वयस्क वैध रूप से करते हैं उन्हें करने के अधिकार शामिल हैं। दरअसल यह सब भी मैं बच्चों के लिए चाहता। पर ज़ाहिर है कि एक लम्बे अर्से तक यह व्यापक अधिकार बच्चों को नहीं मिलेगा। पर इस बीच कानून बच्चों को, जो परतंत्र जीवन जीते हैं, पहले सम्पत्ति का अधिकार तो दे ही सकता है। अगर ये सीमित और व्यापक दोनों ही अधिकार उपलब्ध हों तो भी कई बच्चे सम्भवतः सीमित अधिकार पर ही दावा करें।

आज, जितना मैं जानता हूँ, कानून के हिसाब से नाबालिग बच्चे को किसी भी चीज़ पर स्वामित्व का अधिकार नहीं है। उसके पास जो भी चीज़ें हैं उनमें से अन्ततः कोई भी उसकी नहीं होती। हरेक वस्तु उसके माता-पिता की या अभिभावकों की होती है। वह उसकी केवल तभी होती है जब वे वह चीज़ उसे देना चाहें। उसके तन के कपड़े उसके माता-पिता के होते हैं, जिन्हें वे उठाकर फेंक सकते हैं, यद्यपि कानून उन पर कपड़े उपलब्ध करवाने की ज़िम्मेदारी भी डालता है। जो पैसा वह अपनी मेहनत से कमाता है, वह भी उसका नहीं होता। उसके नाम पर सम्पत्ति अलग रखी जा सकती है, जो उसे कानूनी रूप से बालिग होने पर मिले। पर उसे अभी और इसी वक्त किसी वस्तु का अधिकार नहीं होता।

आज कई उदार या उच्च आय वर्ग के परिवार ज़्यादातर समय यूँ आचरण करते हैं कि एक बार जो वस्तु बच्चे को दे दी गई है, जो उसने अपने कमाए, बचाए या उपहार में पाए पैसों से खरीदी है, वह उसकी है और उससे छीनी नहीं जा सकती। पर यह बात भी केवल एक सीमा तक ही सच होती है। अधिकांश बच्चे केवल छोटी-सी राशि ही अपने माता-पिता की अनुमति के बिना खर्च कर सकते हैं, फिर चाहे यह राशि उनके द्वारा ही कमाई गई क्यों न हो। वास्तविकता यह है कि माता-पिता को यह अधिकार है कि वे जब तक के लिए चाहें वह चीज़ छीन सकते हैं जो वे बच्चे को देना नहीं चाहते। ऐसा करने के पीछे सुरक्षा, सज़ा या कोई और भी कारण हो सकता है।

जब बच्चा पूछता है, "क्या मुझे फलाँ वस्तु मिल सकती है?" माता-पिता कह सकते हैं, "नहीं तुम उसके लिए बहुत छोटे हो, तुम्हें वह दरकार नहीं है, वह बहुत खतरनाक है, अच्छी नहीं है, कुछ ही दिनों में तुम उससे ऊब जाओगे, यह तो पैसों की बर्बादी है, तुम्हें यह सिर्फ इसलिए चाहिए कि दूसरों के पास भी वह है।" अक्सर ये आपत्तियाँ जायज़ भी होती हैं। पर जायज़ हों या नाजायज़, माता-पिता की मनमर्ज़ी अन्तिम होती है। ऐसे में बच्चों का सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार सिर्फ उन वस्तुओं पर स्वामित्व के अधिकार में तब्दील हो जाता है जिन पर माता-पिता सोचते हैं कि उसका अधिकार होना चाहिए।

मोटे तौर पर यह बात मुझे न तो विवेकपूर्ण लगती है, न न्यायपूर्ण। बच्चा जो वस्तु चाहता है उस पर स्वामित्व के अधिकार में, और माता-पिता, जो बच्चे को घर निकाला नहीं दे सकते, अपने घर में क्या रखना चाहते हैं, यह तय करने के अधिकार में टकराव सम्भव है। छोटे से घर में या ढेरों पड़ोसियों वाले बहुमंज़िला इमारत में रहने वाला बच्चा अगर ढोल या ऐसी ही शोर करने वाली किसी चीज़ को चाहता हो, तो माता-पिता को ना कहने का अधिकार होना चाहिए। अन्यथा, अगर वे शोर सहन नहीं कर सकते हों, या शोर से पड़ोसियों को दिक्कत हो तो मकान मालिक के साथ झगड़ा हो सकता है। इसकी ज़िम्मेदारी न तो बच्चे पर आएगी, न उसे इस नतीजे से निपटना ही पड़ेगा। ऐसे में यही न्यायोचित होगा कि जिसका मकान हो, या जिसने उसे किराए पर लिया हो, या जो उसके लिए ज़िम्मेदार हो, वही यह भी तय करे कि जो कुछ हो रहा है वह होना चाहिए या नहीं। यह नियम उस स्थिति में कठोर भी न हो अगर घर के बच्चों के पास दूसरे विकल्प हों। उन्हें ऐसे स्थान उपलब्ध हों जहाँ वे अपनी मर्ज़ी के काम कर सकें। किसी भी मानवीय समाज में ऐसे स्थान और विकल्प ज़रूर होंगे।

मैं प्रस्तावित करता हूँ कि यह सिद्धान्त कानून में शामिल हो जाए कि माता-पिता, रिश्तेदार, दोस्त, जो कुछ भी बच्चे को देते हैं, या वह जो कुछ भी अपनी मेहनत से कमाता है, वह उसका ही हो। वह उसे रख सकता है। जैसे चाहे उसका उपयोग कर सकता है, बशर्ते कि वह घर के नियमों का, पड़ोसियों की सुविधा-असुविधा का और समुदायों के नियमों का ख्याल रखे। ठीक उसी तरह जिस तरह वयस्क भी रखते हैं। पर उनसे अधिक भी नहीं। मसलन किसी भी उम्र के किसी व्यक्ति को यह अधिकार न हो कि वह रात को (दरअसल किसी भी वक्त) बिना साइलैंसर के मोटरसाइकिल या कार चलाए। पर जो लोग वयस्कों को किसी काम से नहीं रोक सकते, या रोकें तो कानून उनका साथ न दे, तो उन्हें बच्चों को उस काम से रोकने का अधिकार भी नहीं होना चाहिए।

इससे कुछ प्रश्न उठते हैं। यह हम कैसे तय करेंगे कि बच्चे की सम्पत्ति क्या है? अगर वह कुछ कमाता है, तो ज़ाहिर है कि वह उसी का है। अगर उसे किसी से उपहार मिलता है तो वह उसका है। पर उसके कमरे के सामान का क्या? क्या वह उसे बेच या बदल सकता है? मैं कहूँगा नहीं। जब तक कि उसके माता-पिता भी सहमत न हों। और उसके कपड़े? बढ़ते बच्चों को कपड़े उपलब्ध करवाना काफी खर्चीला काम होता है। किसी भी प्रकार के कपड़े बच्चे को दे दिए जाने पर क्या वे स्थाई रूप से बच्चे के ही हो जाते हैं, या कि वे चाहें या ऊब जाएँ तो उन्हें बेच डालें? मैं कहूँगा कि जिन परिवारों में अभाव है, वहाँ नहीं। उसे कपड़े उपयोग करने के लिए दिए जाते हैं, वैसे ही जैसे उसके कमरे का सामान है। उन पर परिवार के दूसरे सदस्यों, उसके भाई बहनों का भी दावा होता है। उसे ऐसा कुछ बेच डालने का अधिकार नहीं होना चाहिए जिसे फिर से उपलब्ध करवाने की नैतिक या कानूनी ज़िम्मेदारी उसके माता-पिता की हो। और फिर जब उसके कपड़े छोटे हो जाते हैं, या जिन्हें वह पहनना नहीं चाहता तो माता-पिता को यह अधिकार होना चाहिए, जैसा अब भी है, कि वे उसका दूसरा उपयोग कर सकें। यही बात स्कूल के लिए खरीदी गई सामग्री पर भी लागू होती है। जो चीज़ें माता-पिता द्वारा बच्चे के जीवनयापन के लिए खरीदी जाती हैं, वे अन्ततः उनकी ही होनी चाहिए ताकि जब वह उनका उपयोग नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता, तो वे उसका उचित निस्तारण कर सकें।

अगर कोई परिवार अपनी छोटी सी आय में से बालक को एक साइकिल उपलब्ध करवाए ताकि वह स्कूल जा सके, अपने साथियों के साथ खेल सके या अखबार बेचने जा सके, तो यह उचित न होगा कि वह दूसरी वस्तु को खरीदने के लिए साइकिल ही बेच डाले।

खिलौने कुछ मुश्किल में डालते हैं क्योंकि वे अधिक व्यक्तिगत होते हैं। जिस बच्चे को किसी खास खिलौने से मोह हो जाए, उसे रखने का अधिकार बच्चे का होना चाहिए, उस स्थिति में भी जब माता-पिता को यह लगता हो कि वह उसके लिए बड़ा हो चुका है या परिवार के किसी छोटे बच्चे के लिए उसकी ज़रूरत है। मैं एक बच्चे को जानता हूँ जो फिलहाल ग्यारह वर्ष का हो चुका है। उसके पास हर आकार के कोआला भालुओं का संकलन है। छुटपन से ही उसे इसी जानवर के खिलौनों से प्यार था। दूसरे किसी भी प्रकार के पशु-खिलौनों से कोआला भालू ही उसे अधिक प्यारे लगते थे। उन्हीं में उसकी रुचि रही है। ये भालू उसके लिए महत्वपूर्ण हैं। वह उनका ध्यान रखता है। उनके साथ सोना पसन्द करता है। हाल ही में उसकी माँ ने जानना चाहा कि क्या बड़े हो जाने पर और घर छोड़कर अपने घर में अपने परिवार के साथ रहने पर

भी वह उतने ही भालू रखेगा? उसका जवाब था, "शायद तब मेरे पास और भी ज़्यादा भालू होंगे।" अब इस बच्चे को तो अपने भालू तब तक रखने का अधिकार होना ही चाहिए जब तक वह उन्हें रखना चाहे।

हम यह कहें, और कानून में दर्ज कर लें, कि जो कुछ एक बच्चा खुद कमाता है या अपनी कमाई से खरीदता है या जो उसे दिया जाता है या भेंट में मिलता है, वह उसी की सम्पत्ति है। फिर चाहे वह उसका उपयोग करे या उसे उचित लगे तो किसी को दे दे या बेच डाले।

20. यात्रा का अधिकार

बच्चों तथा किशोरों को माता-पिता की अनुमति के बगैर यात्रा करने का और घर से दूर रहने का अधिकार होना चाहिए। अब तक चर्चित कई अधिकारों की तरह यह अधिकार अपने आप खड़ा नहीं रह सकता। अगर स्वामित्व का, कमाने का या किसी दूसरे तरीके से रुपए पाने का अधिकार न हो तो कम उम्र के लोग घर से ज़्यादा दूर की यात्रा नहीं कर सकते या लम्बे समय तक घर से दूर नहीं रह सकते। साथ ही जब तक वे स्वयं के लिए वित्तीय और कानूनी रूप से ज़िम्मेदार न हो जाएँ, तब तक ऐसा कर भी नहीं सकते। क्योंकि ऐसे में हमें बच्चों और किशोरों के कृत्यों के लिए किसी दूसरे को ज़िम्मेदार ठहराना होगा, जो उन बच्चों की न तो देखरेख कर सकते हैं, न ही उन्हें नियंत्रित कर सकते हैं। मैंने इन दूसरे अधिकारों की अन्य स्थानों पर चर्चा की है। पर यहाँ मैं केवल यात्रा के अधिकार की चर्चा करना चाहूँगा।

अधिकांश कम उम्र के लोग यात्रा करना पसन्द करते हैं। उन्हें जोखिम पसन्द है। और अधिकांश लोगों के लिए आज के ज़माने में जो गिने-चुने जोखिम भरे कारनामे बचे हैं, यात्रा करना उनमें से एक है। दुनिया के बारे में ऐसा बहुत कुछ जानने का यह एक बढ़िया तरीका है जो किताबों में नहीं पाया जाता। साथ ही किसी ऐसे अपरिचित समुदाय में जीना जहाँ की भाषा तक आप न जानते हों, आपकी चतुराई और बुद्धिमानी को भी जाँचता है।

बच्चों और किशोरों को अगर अनुमति होती तो वे कहीं जल्दी और ज़्यादा यात्राएँ करते। तमाम परेशानियों और कानूनों के बावजूद कई बच्चे ऐसा करते भी हैं। ज़्यादातर अमरीकी राज्यों में हिच-हाइकिंग (वाहनों को रोककर वाहन चालकों से कुछ दूर साथ ले जाने का अनुरोध कर अपने गन्तव्य की ओर जाना) गैर-कानूनी है। कुछ अमरीकी राज्य यह कानून सख्ती से लागू करते हैं और हिच-हाइकिंग करने वालों के साथ-साथ उन चालकों को वित्तीय दण्ड भी देते हैं जो यूँ राह चलते किसी को अपने वाहनों में बिठा लेते हैं। इसके बावजूद युवा ऐसा करते हैं, यद्यपि वे अपने साथियों को यह सलाह भी देते हैं कि उन्हें ऐसे राज्यों से दूर रहना चाहिए जहाँ यह कानून कठोरता से लागू होता है। हिच-हाइकिंग के खतरों के बारे में, खासकर अगर यात्री लड़कियाँ हों तो उन

पर होने वाले हमलों या उनकी हत्याओं के खतरों के बारे में खूब शोर किया जाता है। यह सच है कि यदा-कदा ऐसा होता है। पर हिच-हाइकिंग से होने वाली मौतों की तुलना साधारण वाहन दुर्घटनाओं में होने वाली मौतों से करें तो वे बिरली लगती हैं। हिच-हाइकिंग विरोधी कानूनों का कारण, खासकर जिन राज्यों में पर्यटन बड़ा धन्धा है, लोगों को आहत होने से या मारे जाने से बचाने का उतना नहीं लगता। मुख्य कारण तो उन लोगों को यात्रा करने से रोकना या राज्यों से बाहर रखना लगता है जिनके पास पैसे नहीं हैं। ऐसे लोगों को रोकना जिन्हें "बम" या "हिप्पी" की उपाधि दी जाती है।

हिच-हाइकिंग यूरोप की सैर करने वालों का एक लोकप्रिय तरीका है या था। दक्षिण-यूरोपीय देशों में महिलाओं के प्रति पुरुषों के परम्परागत दृष्टिकोण के चलते, युवा महिलाओं का वहाँ अकेले या दूसरी महिलाओं के साथ हिच-हाइकिंग करना ठीक नहीं है। परन्तु उत्तरी यूरोप में कोई भी अकेली महिला सुरक्षित रूप से हिच हाइकिंग कर सकती है। यह तो सब समझते हैं कि यात्रा करना युवाओं के लिए अच्छा है। नए-नए स्थान देखना, घूमना-फिरना अच्छा है, जब तक वे यात्रा कर सकते हैं। पर अगर इसमें बहुत खर्चा आता हो तो वे ऐसा नहीं कर सकते। किन्तु जैसे-जैसे पर्यटन बड़ा व्यवसाय बनता जा रहा है, जिससे लोगों की यात्रियों के माध्यम से अधिकाधिक कमाई होती है, लोग गरीब यात्रियों को नापसन्द करने लगे हैं। ऐसे में सम्भव है कि यूरोपीय देश भी युवाओं के लिए यात्रा करना और कठिन बना डालें। पर यह शायद आगे की बात है।

युवा यात्रियों के प्रति पूर्वाग्रह इस भय से होता है कि वे नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं। कुछ इसलिए भी कि वे बड़े विचित्र लगते हैं। पर अधिकांश पूर्वाग्रह उस समाज के हैं जो धड़ाधड़ पैसे खर्चता है, "अभी खरीदो, कीमत बाद में चुकाओ" के दर्शन में विश्वास करता है। ऐसे समाज को वे लोग पसन्द नहीं आते जिन्हें ढेर सारी चीज़ों की न तो ज़रूरत है, न कामना ही, जो अनावश्यक खरीददारी नहीं करते। एक स्की कस्बा कई वर्षों से उन युवाओं में लोकप्रिय है जो पीठ पर सामान लादे पहाड़ी इलाकों की सैर करने जाते हैं। इनमें से कई युवक-युवतियाँ वास्तव में गरीब नहीं हैं। वे कॉलेजों के छात्र-छात्राएँ हैं जिनके पास बढ़िया साइकिलें और कैम्पिंग का सामान होता है। पर इन साइकिलों से स्थानीय पेट्रोल पम्प की कोई कमाई नहीं होती। और पीठ पर लदे सामान का मतलब होता है कि यात्री अधिकांश समय जहाँ कहीं भी तम्बू गाड़कर सो जाएँगे और पच्चीस डॉलर वाले होटल पर धेला भी नहीं खर्चेंगे। इसलिए व्यापारी और दुकानदार शिकायत करते हैं कि युवक-युवतियाँ उनके शहर को

बर्बाद कर रहे हैं, उनसे धन्धे को नुकसान होता है। इसीलिए पैसा खर्चने वाले यात्री वहाँ नहीं आते। क्या उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं किया जा सकता?

कई साल पहले मैं कॉलोरैडो में पढ़ता था। एक बार गर्मियों में मैं अपनी पुरानी गाड़ी से पूर्व की ओर चल पड़ा। मैं बिना रुके सीधे बढ़ता रहा। थकने पर गाड़ी में ही सो भी जाता था। एक रात जब मैं न्यू यॉर्क हाइवे पर रॉचेस्टर के आस-पास था, मुझे तेज़ नींद आने लगी। ज़ाहिरा तौर पर ऐसे में गाड़ी चलाना खतरनाक था। सो मैं रुकने की जगह ढूँढने लगा। कहीं भी कोई आराम स्थल या छोटी सड़क नज़र नहीं आ रही थी। एक जगह सड़क के पास ही घास का टुकड़ा दिखाई पड़ा। मैंने सड़क छोड़ दी। गाड़ी नीचे उतारी। बाहर निकला और घास पर पसर गया। पर जल्दी ही चौंककर जगा क्योंकि आँखों पर तेज़ रोशनी पड़ रही थी। वह एक पुलिस वाला था। उसने पूछा कि मैं उस जगह क्या कर रहा हूँ। मैंने बताया कि मैं यहाँ से गुज़र रहा था और तेज़ नींद के कारण आराम करने को रुक गया हूँ। उसने बड़ी सख्ती से कहा कि मैं सड़क किनारे सो नहीं सकता। यह कहने का कोई कारण नहीं था। रात के तीन बजे थे। सड़क पर यातायात लगभग बन्द था। और वैसे भी मैं सड़क से लगभग डेढ़ सौ फीट दूर था। मैंने फिर से कहा कि अगर मैं गाड़ी चलाऊँ तो झपकी आने का खतरा है। उसने और भी कड़ाई से कहा, "सोना है तो किसी मोटल में जाकर सोओ।" इस कथन से बात स्पष्ट हो गई। वह स्थानीय मोटल मालिकों के लिए धन्धा पटाने में लगा हुआ था।

दरअसल हमें यूरोप में पाए जाने वाले कैम्प शिविरों जैसे स्थल दरकार हैं जहाँ अपनी गाड़ी से यात्रा करने वाले या हिच-हाइक करने वाले यात्री रात बिता सकें। ये शिविर स्थल बहुत रमणीय नहीं होते। और तम्बु खचाखच भरे होते हैं। पर ये रात बिताने की सस्ती जगह तो उपलब्ध करवाते हैं ताकि कम पैसों वाले यात्री भी यूरोप दर्शन कर सकें।

हम ऐसे उपाय भी कर सकते हैं जिससे हिच-हाइकिंग आसान और अधिक सुरक्षित बने। अक्सर नौजवान ऐसे स्थानों पर वाहनों को रोकने की कोशिश करते हैं जहाँ गाड़ी रोकने से दुर्घटना की सम्भावना हो। किन्तु अगर हिच-हाइकिंग कानूनी हो तो उसके लिए सुरक्षित स्थान बनाए जा सकते हैं। आज भी कॉलेजों और युवा वर्ग के सम्मेलन स्थलों के नोटिस बोर्डों पर कहीं जाना चाहने वाले या दूसरों को ले जा सकने वाले तमाम लोग अपनी सूचनाएँ लगाते हैं। एक कॉलेज में तो अमरीका का बड़ा-सा नक्शा है। इसमें प्रत्येक राज्य को रेखाओं में दर्शाया गया है और राज्यों के बड़े शहरों के नीचे हुक लगा हुआ है। जो भी किसी शहर में वाहन से जाना चाहता है, वह अपनी यात्रा तिथि और

जितने लोगों को वह साथ ले जा सकता है, सम्पर्क का तरीका क्या है आदि सूचनाएँ उपयुक्त हुक पर लटका देता है। परन्तु सूचना का यह आदान-प्रदान उन्हीं कॉलेजों या स्थलों में हो पाता है जहाँ छात्र-छात्राएँ जाते हैं। हमें ऐसी ही किसी चीज़ की आवश्यकता उन छोटे या बड़े लोगों के लिए भी है जो छात्र-छात्राएँ न हों। देश के कई भागों में अब शिक्षण आदान-प्रदान केन्द्र उभरने लगे हैं जहाँ लोग सूचनाएँ और कौशलों का आदान-प्रदान कर सकें। शायद यह सम्भव हो कि यात्रा सम्बन्धी सूचनाओं के आदान-प्रदान का कोई तरीका भी ढूँढ लिया जाए।

यात्रियों को रुकने और आराम करने के लिए सस्ते स्थान भी दरकार हैं। यूरोप में तमाम युवा-छात्रावास (यूथ हॉस्टल) हैं। 1953 में मैंने पेरिस से रोम तक की डेढ़ हज़ार मील लम्बी साइकिल यात्रा की। मैं उन्हीं हॉस्टलों में रुका करता था जहाँ मुझे हर रात के लिए सिर्फ पच्चीस सेंट या बेहतर स्थानों पर इससे कुछ ही अधिक खर्चना पड़ता। जो देश अपने हर उम्र के ऐसे नागरिकों के लिए भी यात्रा करना आसान बनाना चाहे जिनके पास खर्चने को अधिक पैसे न हों, वह देश ऐसे सामान्य स्थान भी निर्मित कर सकता है जहाँ यात्री अपना स्लीपिंग बैग, कम्बल, दरी आदि बिछाकर रात भर रुक सकता हो, और सुबह नहा धोकर आगे बढ़ सकता हो। 1953 में कई इतालवी रेलवे स्टेशनों पर एलबर्गो दियूर्नो अर्थात् दिवा होटल होते थे। वे यात्रियों के लिए एक वरदान थे। खासकर गर्मियों में। वहाँ लोग बैठ सकते थे, आराम कर सकते थे, नहा-धो सकते थे, वहाँ बिस्तर और पलंग भी होते थे जहाँ आप एक घण्टा या रात आराम से सो सकते थे। मैंने कनाडा में एडमन्टन में, एमस्टरडैम में, कोपनहेगन आदि के हवाई अड्डों में भी ऐसे स्थान देखे हैं। वहाँ भी शुल्क लिया जाता था। पर वह शुल्क किसी भी होटल से काफी कम होता था।

अगर बच्चे बिना अपने माता-पिता की अनुमति के यात्रा कर सकते तो क्या उनके खो जाने का खतरा नहीं है? जी हाँ, यह सम्भव है। वयस्क भी खो जाते हैं। यह एक सिरदर्द ज़रूर हो सकता है पर त्रासदी या आपदा नहीं, जब तक कि बच्चे को यह मालूम हो कि उसे अपने घर या मित्रों से कैसे सम्पर्क करना है। या यदि उसके पास अपना नाम, पता-ठिकाना हो तो कुछ समय के लिए खो जाने या भ्रमित होने से खास नुकसान नहीं होगा। सम्भव है कि कुछ लोग पूछें कि अगर बच्चे को घर या मित्रों से सम्पर्क करना ही न आता हो, तो क्या होगा? इस बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि जो बच्चा बिना पर्याप्त जानकारी के घर से दूर निकलेगा वह वैसे भी इतना दुस्साहसी और बेवकूफ होगा कि उसे कानून या उसके माता-पिता भी परेशानियों में फँसने से बचा

नहीं सकते। वैसे भी मेरा प्रस्ताव है कि सरकार विकल्प उपलब्ध करवाए। यह सुनिश्चित करने का तो कोई उपाय ही नहीं है कि एक बार विकल्प चुनने के बाद कोई गड़बड़ नहीं होगी। हमें यह भी सोचना होगा कि हमारे द्वारा कल्पित ऐसे दुस्साहसी बच्चे के पास यात्रा लायक पैसे कहाँ से आएँगे या वह बस या जहाज़ का टिकट खरीदने कैसे पहुँचेगा।

आज भी यात्रा करने वाले कई वयस्क यात्रा की इच्छा रखने वाले अधिकांश बच्चों से अधिक लाचार होते हैं। मैंने जहाज़ों में पूरी तरह लकवाग्रस्त यात्रियों को देखा है। इन्हें कोई दूसरा व्हील चेयर पर बिठाकर ले जाता है। या जिन्हें अँग्रेज़ी भाषा नहीं आती, या जो अन्धे हैं। वे बिना दूसरों की मदद के यात्रा नहीं कर सकते। पर हम उनके लिए यात्रा करना प्रतिबन्धित तो नहीं करते। बल्कि उन्हें जो मदद चाहिए उसे आसानी से उपलब्ध करवाने की व्यवस्था करते हैं। हम उन्हें अनिवार्य सहायकों के ज़िम्मे भी सुपुर्द नहीं कर देते। दुनिया एक बहुत बड़ी, विविध, विचित्र और भ्रमित करने वाली जगह है। इस तथ्य को हम बदल नहीं सकते। बेहतर संकेतों, नक्शों, सूचना स्रोतों के ज़रिए हम हर उम्र के यात्री के लिए उनके अपने शहर में तो यात्रा को अधिक सुविधाजनक और आसान बना सकते हैं। हमारे समाज को इतना अपारदर्शी बनाए रखने की ज़रूरत भी नहीं जितना वह आज है। पर हम बच्चे के लिए पूरी दुनिया को उसके घर या मुहल्ले की तरह निरापद भी नहीं बना सकते। पर यही कठिनाई ही तो यात्रा का मकसद भी है। माता-पिता के आग्रह के बावजूद कई बच्चे, कहीं दूर जाकर, घूमने-फिरने या किसी रिश्तेदार से मिलने जाने में कतराते हैं। वे शायद साफ-साफ इंकार करें। ऐसे बच्चों को घर ही रहना चाहिए। और वे वहीं रहेंगे भी। वहाँ बिना माता-पिता की अनुमति के यात्रा करने के *अधिकार* का प्रश्न भी नहीं उठेगा। उन्हें कोई यात्रा पर भेज ही नहीं सकेगा।

कुछ लोगों को यह भी लग सकता है कि माता-पिता की अनुमति के बिना बच्चों को यात्रा करने का अधिकार देने का मतलब होगा माता-पिता की सत्ता को कमज़ोर बनाना। पर शायद हमें एक बार फिर से अधिक कौशल, ज्ञान, अनुभव, साहस, कटिबद्धता या सरोकार पर टिकी स्वाभाविक सत्ता और उस सत्ता में अन्तर करना पड़ेगा जो केवल दबाव, धमकी, सज़ा या पीड़ित करने पर टिकी होती है। मैं यहाँ जो कुछ प्रस्तावित कर रहा हूँ उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो बच्चे पर माता-पिता या छोटों पर बड़ों की स्वाभाविक सत्ता को डिगा सके। बल्कि इससे स्वाभाविक सत्ता और बलवती ही होगी।

बच्चे इस स्वाभाविक सत्ता के प्रति उदासीन नहीं होते। बल्कि इससे उन्हें

दुनिया में अपने स्थान का आभास होता है। उन्हें वह आधार मिलता है जिसके सहारे वे दुनिया में उत्तरोत्तर बड़े वृतों में घूम पाते हैं। इस सत्ता पर उनका विश्वास और उसकी ज़रूरत काफी मज़बूत, लचीली और स्थाईत्व लिए होती है। अक्सर जब माता-पिता बच्चे को दण्ड देते हैं, या चपत भी जड़ देते हैं तो वह पीड़ित और नाराज़ होता है। कुछ समय तक उनसे दूरी भी बना लेता है। पर यह नाराज़गी देर तक नहीं रहती। वह कुछ समय बाद दोस्ती की पहल करता है और अक्सर बच्चा ही यह पहल करता है। शायद यह बेहतर भी है कि पहल उसी की ओर से हो, ताकि उसे खुद ही पहल का निर्णय लेने का समय मिले। हमें अपने पश्चाताप (अगर हमें उसका अनुभव हो तो) को उस पर बहुत जल्दी नहीं लादना चाहिए। बच्चा अगर छोटा है तो जल्दी ही, और बड़ा है तो शायद कुछ देर से सुलह की ओर बढ़ता है। समझदार और स्नेही माता-पिता खुले हाथों से इसका स्वागत करते हैं, और उसी उदारता से इस पहल को स्वीकारते हैं। अन्य माता-पिता फिर भी अड़े रहते हैं। वे बच्चे से पश्चाताप की माँग करते हैं, उससे मंशा का प्रमाण चाहते हैं। यह बड़ी भारी गलती है। पर कई माता-पिता यह गलती कई-कई बार कर सकते हैं। बच्चे की ओर से की गई सुलह की कोशिश को वे तब तक ठुकराते हैं जब तक वह भारी मन से यह तय न कर ले कि दोस्ती की कोशिशें ही फ़िजूल हैं क्योंकि उन्हें कोई स्वीकारेगा ही नहीं। अतः बेहतरी इसी में है कि किसी भी परेशानी से बचो।

मान लें कि कोई बच्चा यात्रा करना चाहता है और उसके माता-पिता उसे जाने नहीं देना चाहते। हमें एक समूचे जीवन्त परिवार की कल्पना करनी होगी। बच्चा अचानक एक दिन कहता है कि वह घूमना चाहता है। अगर इस परिवार में पारस्परिक प्रेम और एक दूसरे के प्रति श्रद्धा है, अतः स्वाभाविक सत्ता भी है, तो शुरू में ही यह नहीं कहा जाएगा कि यात्रा का विचार ही गलत है या बेवकूफी भरा है। वे उसे प्रोत्साहित करेंगे कि वह बताए कि वह कहाँ जाना चाहता है, कब, कैसे और क्यों जाना चाहता है। अगर उन्हें यह विचार बेतुका लगेगा तो वे बताएँगे कि ऐसा उन्हें क्यों लगता है। ऐसी चर्चाएँ अब भी होती हैं, जब बच्चा कहीं जाने, या कुछ करने की अनुमति चाहता है। अगर बच्चे को अनुमति की आवश्यकता न भी हो तो भी वह वयस्कों का अनुमोदन ज़रूर चाहेगा, और अपना काफी समय उन्हें सहमत करने में बिताएगा। अर्थात् तय करने का अधिकार किसे है यह प्रश्न ही काफी बाद में उठेगा।

एक बार मैंने एक ग्यारह वर्षीय लड़के को अपनी माँ से यह कहते सुना कि वह अपने दो दोस्तों के साथ पहाड़ों पर दो-तीन दिन की कैम्पिंग के लिए जाना चाहता है। माँ ने तमाम शंकाएँ और चिन्ताएँ ज़ाहिर कीं। उस मौसम में

आँधियाँ आती हैं। बिजली गिरने का खतरा रहता है। क्या उसे आँधी-तूफान की सम्भावना नहीं डराती? ना, उसे उससे डर नहीं था। क्या वह और उसके दोस्त यह समझते हैं कि ऐसे तूफान के दौरान उन्हें खुले में या बिजली आकर्षित करने वाली जगहों, जैसे बड़े पेड़, बिजली या फोन के खम्बों के पास नहीं होना चाहिए? गीले हो जाने पर क्या होगा? वे कितने कपड़े ले जाना चाहते हैं? रात को काफी ठण्ड होती है। उनकी कल्पना से भी कहीं ज़्यादा। क्या उनके पास ओढ़ने-बिछाने के लिए ठीक-ठाक स्लीपिंग बैग हैं? खाना कैसे पकेगा? वे क्या खाएँगे? तीन दिन खुद को कैसे व्यस्त रखेंगे? कई दिनों तक यह चर्चा चलती रही। माँ और बेटा दोनों ही कोई न कोई बिन्दु उठाते, एक दूसरे से बहस करते, कभी एक-दूसरे की बात मानते भी। वे यह इसलिए कर सके क्योंकि बच्चे को पता था कि माँ उसे कैम्पिंग जाने से नहीं रोक रही है, बल्कि उसके साहस और कुशलता को कीमती मानती है। उसकी सत्ता की अहमियत भी इसलिए थी क्योंकि वह नितान्त स्वाभाविक थी। ज़ोर-ज़बरदस्ती से थोपी हुई नहीं।

यात्रा अन्ततः तय हुई। एक दिन के लिए स्थगित ज़रूर हुई क्योंकि दिन बेहद तूफानी लग रहा था। अन्ततः एक समझौता हुआ। ठीक है जा सकते हो बशर्ते तुम यह करो और वह ले आओ, आदि। हुआ यूँ कि यात्रा में कई अप्रत्याशित परेशानियाँ आईं। पहाड़ों पर बिताई दोनों ही रातों को अचानक कोहरा घिर जाने से बच्चों को अपने तम्बू से दूर खुले में सोना पड़ा। अनुमान से अधिक ठण्डक और गीलेपन को झेलना पड़ा। अगर इन बच्चों को या उनकी माओं को इन परेशानियों का पहले से पता होता तो यह यात्रा सम्भव ही नहीं होती। बहरहाल वे बच्चे पहाड़ों से यह कहते हुए उतरे कि हज़ारों ऐसी चीज़ें थीं जिनके बारे में कैम्पिंग करने से पहले उन्होंने सोचा तक नहीं था। पर इसे ही तो अनुभव कहते हैं ना।

यह परिदृश्य तब भी लगभग ऐसा ही होता अगर बच्चों को उनके माता-पिता की अनुमति की कानूनन ज़रूरत नहीं होती। उन परिवारों के सिवाए जो वास्तव में परिवार हैं ही नहीं, बच्चे बड़ों की राय की काफी हद तक कद्र करते हैं। वे चाहते हैं कि उनके बारे में बड़ों की अच्छी राय हो।

अपनी यात्रा करने के पहले उन बच्चों ने घर के पास घास में अपना तम्बू गाड़ा था, ताकि वे उसे खुद गाड़ सकें। एक अन्य परिवार में एक काफी छोटे बच्चे ने अपने पिता और बड़े भाई के साथ कैम्पिंग जाने से पहले कई रातें बाग में तम्बू लगाकर बिताईं, ताकि उसे पता चल जाए कि ऐसा करना कैसा लगता है। अमूमन नए अनुभव को बच्चे इस प्रकार पाना भी पसन्द करते हैं। धीरे-

धीरे, एक बार में थोड़ा-थोड़ा। उन्हें अपरिचित को तलाशना पसन्द आता है। पर वे काफी सतर्क और रुढ़िवादी होते हैं और उन्हें अचानक से तलाश में कूद पड़ना पसन्द नहीं आता। कोई बच्चा जो कभी घर से दूर गया ही न हो शुरुआत में दो हज़ार मील दूर किसी स्थान की तीन महीने की यात्रा के बारे में सोचेगा भी नहीं। उस पुराने मज़ाक में काफी सच्चाई है कि घर से भागने की तमन्ना रखने वाला बच्चा नदी किनारे तक नहीं जा सका क्योंकि उसे सड़क पार करना नहीं आता है। या वह खाना खाने घर लौट आता है क्योंकि उसे भोजन पाने का कोई तरीका ही नहीं पता। बच्चा एक बार में एक कदम बढ़ता है। सवाल यह है कि बड़ी दुनिया की दिशा में बढ़ाए गए उसके छोटे-छोटे कदमों को हम प्रोत्साहित करेंगे या अकारण ही उन्हें वर्जित कर डालेंगे। अगर लोगों को यह पता हो कि सच में बल परीक्षण की नौबत आने पर वे अपने बच्चों को उनकी मनमर्ज़ी करने से रोक नहीं सकते, तो वे उनकी तलाश में निकलने की इच्छा को अधिक गम्भीरता से लेंगे। वे उनकी योजनाओं पर चर्चा करेंगे और केवल गम्भीर व वास्तविक आपत्तियाँ उठाएँगे और यथासम्भव समझदारी भरे समझौते करेंगे।

अगर हम यह जानते होते कि इच्छा होने पर बच्चे स्वयं को हमसे आज़ाद कर सकते हैं, तो हम उन्हें स्वावलम्बी बनाने में मदद करते और जल्द ही वे स्वतंत्र जीवन के लिए तैयार भी होते। जो बच्चा यह जानता है कि उसे जहाँ कहीं जाना हो कोई वयस्क ही ले जाएगा, वह रास्ते पर अधिक ध्यान नहीं देगा। न ही वयस्क उसे रास्ता बताएगा। कितना अच्छा होता अगर हम उसे बताते चलते कि वह जहाँ जाना चाहता है वहाँ कैसे पहुँचे। यहाँ बॉस्टन में रहने वाली एक माँ और उसकी सात वर्षीय बेटी एक रोचक खेल खेलते हैं। घर लौटते समय, सड़क के खतरनाक हिस्से को पार कर चुकने के बाद वे घर पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते पकड़ लेती हैं। यह कोई रेस नहीं होती। बल्कि घर पहुँचने के विभिन्न रास्तों की तलाश होती है। इस खेल से बच्ची अपने मुहल्ले को और इस तरह ज़्यादा से ज़्यादा बड़े इलाके को जानने लगेगी। या हम अपनी छोटी यात्राओं के समय बच्चे को निर्देश देने दें। हम उनसे कह सकते हैं हम वहीं मुड़ेंगे या बढ़ेंगे जहाँ बच्चा बताए। मानो हम अपरिचित या अन्धे हों। या वयस्क और बच्चा किसी नई राह को तलाशने निकल सकते हैं, जहाँ बच्चा नेतृत्व करे, जहाँ उसकी इच्छा हो मुड़े। उसे यह डर भी न हो कि वह खो जाएगा क्योंकि ऐसे में वयस्क उसे घर वापस ले जा सकता है। यह सब हम बच्चों के साथ अभी कर सकते हैं।

शहरी बच्चे रास्तों को जानने लगते हैं। कम से कम कुछ स्थानों तक तो वे

पहुँच ही जाते हैं। किन्तु अधिकांश बच्चों का रुझान सुरक्षित रहने का होता है और वे घर के इर्दगिर्द ही घूमते हैं। पर अधिक दूर के इलाके तलाशने निकलते वक्त उनके मन में यह भावना रहती है कि वे ऐसा वयस्क सत्ता के विरुद्ध जाकर कर रहे हैं। ज़ाहिर है कि एक नए शहर या देश को (जो निषिद्ध क्षेत्र हो) तलाशने में, और एक ऐसे अधिक बड़े मुहल्ले को तलाशने में जहाँ आपका स्वागत हो, आपके *अपने* देश, *अपनी* दुनिया को तलाशने में, बड़ा भारी अन्तर है।

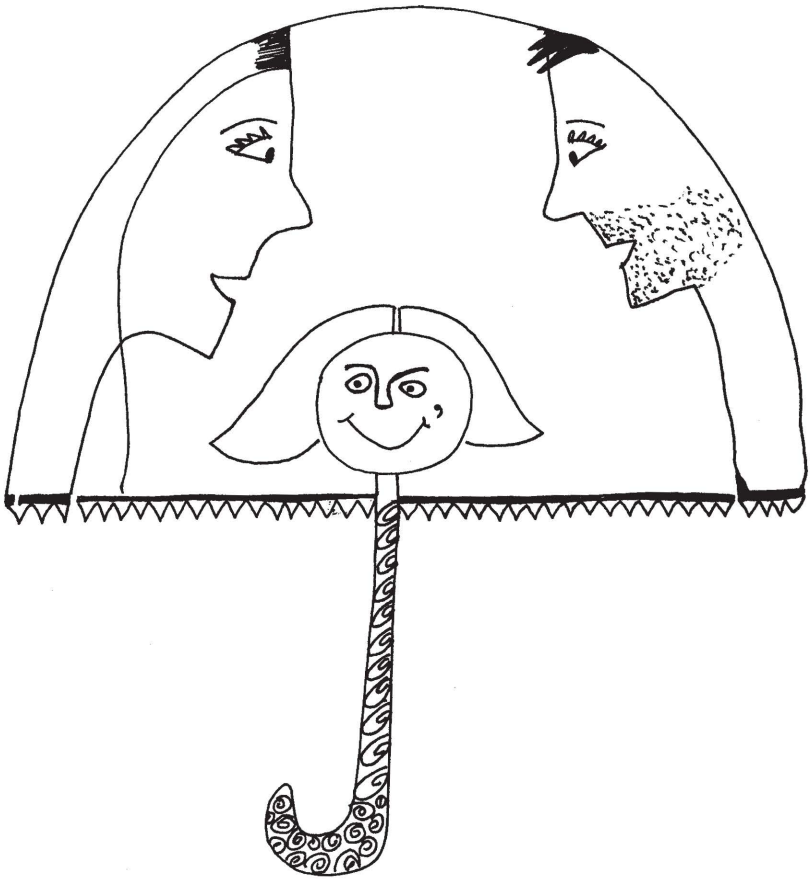

21. अभिभावक चुनने का अधिकार

मैं बच्चों और किशोरों को तीन प्रकार के विकल्प उपलब्ध करवाना चाहता हूँः (1) अभी की तरह वे आश्रित व्यक्ति के रूप में अपने माता-पिता (प्राकृतिक या जिन्होंने गोद लिया हो) की देखभाल, उनके नियंत्रण में रहें - इन्हें मैं प्राथमिक अभिभावक कहता हूँ; (2) आश्रित के रूप में, अपने माता-पिता के बदले में *अपनी पसन्द के* किसी बड़े व्यक्ति या लोगों की देखभाल और नियंत्रण में रहें। अर्थात् उन्हें द्वितीयक (सैकेण्ड्री) अभिभावक चुनने का अधिकार हो; (3) वे नितान्त स्वावलम्बी, वित्तीय तथा कानूनी रूप से ज़िम्मेदार नागरिक की तरह रहें। इस अध्याय में मैं दूसरे विकल्प पर विस्तार से चर्चा करना चाहूँगा।

आज भी उच्च मध्यम वर्ग के या सम्पन्न परिवारों के बच्चे उम्र में बड़े होने के साथ अपना अधिकाधिक जीवन माता-पिता के साथ नहीं बिताते। उनका अधिकांश समय ऐसे लोगों के साथ बीतता है जिन्हें कानून "लोको पेरेंटिस" या माता-पिता की जगह खड़े लोग कहता है। अमीर लोगों को अपनी ऐसी औलादों के साथ रहने की पीड़ा या तनाव को नहीं झेलना पड़ता जो बच्चे होने की स्थिति से तो निकल चुके हैं पर जिन्हें समाज कोई दूसरा दर्जा नहीं देता है। ऐसे माता-पिता अपने बच्चों के लिए द्वितीयक अभिभावक खरीदते हैं। पर अधिकांश लोग ऐसा नहीं कर सकते। मैं चाहता हूँ कि ऐसे द्वितीयक अभिभावक अधिक आसानी से और कम कीमत पर सुलभ हों ताकि ज़रूरतमन्द बच्चे उनका उपयोग कर सकें। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि मैं यह भी चाहता हूँ कि बच्चे को यह अधिकार हो कि *वह स्वयं* उन्हें तलाशे और चुन सके। ये द्वितीयक अभिभावक दो प्रकार के हो सकते हैंः (1) कोई बड़ा व्यक्ति या परिवार, या (2) कोई समूह या समुदाय।

मैं प्राथमिक और द्वितीयक अभिभावकों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने की कोशिश करता हूँ। द्वितीयक अभिभावक के साथ का सम्बन्ध स्वैच्छिक और अन्तरिम होगा। यह बच्चे व द्वितीयक अभिभावक की सहमति से स्थापित होगा। दोनों को ही यह समझौता या सम्बन्ध समाप्त करने का अधिकार होगा। वे यह करार बिना किसी समापन अवधि का उल्लेख किए कर सकते हैं। कानूनी भाषा में इसे *साइने डाई*, अर्थात् अनिश्चित काल के लिए कहते हैं। यानी यह सम्बन्ध उस वक्त तक जारी रहेगा जब तक दोनों में से एक (या दोनों) पक्ष

इसे खत्म करने का निर्णय नहीं ले लेता। या वे यह सम्बन्ध एक निश्चित अवधि के लिए - एक माह, एक साल या किसी भी कालावधि के लिए स्थापित कर सकते हैं। उस अवधि के बाद दोनों पक्ष यह तय कर सकते हैं कि वे यह रिश्ता आगे भी कायम रखना चाहते हैं या नहीं। पर यहाँ भी दोनों ही पक्षों को यह अधिकार होगा कि वे जब चाहें इसे समाप्त कर दें।

यह समझौता कुछ वैसा है जैसा किसी छात्र का अपने विश्वविद्यालय के साथ होता है। यह समझौता एक निश्चित अवधि के लिए होता है। स्नातक स्तर का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए यह चार वर्षों का होता है। यह मान लिया जाता है कि अगर कोई आपत्ति न करे तो छात्र आगामी चार वर्षो तक विश्वविद्यालय में ही रहेगा। फिर भी छात्र को यह अधिकार होता है कि अगर वह चाहे तो किसी भी समय विश्वविद्यालय छोड़ सकता है। साथ ही कॉलेज को भी यह अधिकार होता है कि वह कई कारणों के आधार पर किसी भी समय छात्र को कॉलेज छोड़ने को कह सकता है। अन्तर बस इतना भर है कि क्योंकि कॉलेज ने छात्र से शुल्क लिया है, इसलिए उसे उन कारणों को स्पष्ट व सिद्ध करना पड़ेगा जिनके आधार पर छात्र को निकाला जा रहा है। पर द्वितीयक अभिभावक को बच्चे की ही तरह सम्बन्ध समापन के कारणों को स्पष्ट नहीं करना होगा। जो भी कारण हो उन्हें किसी तीसरे पक्ष के समक्ष बताना या उनका स्पष्टीकरण देना उसके लिए ज़रूरी नहीं होगा।

इसके विपरीत प्राथमिक अभिभावक के साथ रिश्ता स्वैच्छिक या अस्थाई नहीं होगा। एक बच्चे के माता-पिता, चाहे वे प्राकृतिक हों या उन्होंने बच्चे को गोद लिया हो, उसके प्राथमिक अभिभावक रहेंगे। कम से कम जब तक बच्चा बालिग नहीं हो जाता वे इस सम्बन्ध को किसी भी कारण से नहीं तोड़ सकेंगे। भले ही बच्चा घर छोड़ने का निर्णय ले, दूसरे अभिभावक को तलाशे या उनके साथ रहने लगे, कुछ समय एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में बिताए। किन्तु इस सबके बावजूद अगर वह किसी भी कारण से अपने प्राथमिक अभिभावकों के पास लौटना चाहे और फिर से उन पर आश्रित होकर जीना चाहे तो वे उसे मना नहीं कर सकेंगे। संक्षेप में, यह पारस्परिक या आपसी दायित्व नहीं होगा। कानूनी रूप से नाबालिग प्रत्येक व्यक्ति के पास कोई न कोई होगा। अगर कोई दूसरा न ले, तो इस पर उस व्यक्ति की ज़िम्मेदारी उठाने का दायित्व हो। कुछ लोग कहेंगे कि माता-पिता पर इस तरह की एक-तरफा ज़िम्मेदारी थोपना तो न्यायपूर्ण है ही नहीं। पर उनका यह दायित्व तो आज भी है और उचित भी है। क्योंकि वे ही बच्चे को इस दुनिया में लाए हैं। या गोद लेने वाले माता-पिता के सन्दर्भ में उन्होंने ही यह स्वीकारा था कि वे ऐसे बर्ताव करेंगे मानो उन्होंने ही बच्चे को जन्म दिया हो।

कुछ लोग सवाल उठा सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी बच्चे का द्वितीयक अभिभावक बनने के बदले प्राथमिक अभिभावक बनना चुनेगा ही क्यों? एक उत्तर तो यह है कि द्वितीयक अभिभावक के साथ का सम्बन्ध अभिभावक और बच्चे की पारस्परिक सहमति से ही स्थापित हो सकता है। और अगर बच्चा छोटा है, शिशु है, तो ज़ाहिर है कि प्राथमिक अभिभावक ही उसे रख सकते हैं। उन्हें ही प्राकृतिक माता-पिता का दायित्व निभाना होगा।

कुछ लोग यह रेखांकित करेंगे कि आज भी कुछ प्राथमिक अभिभावक, बच्चे के माता-पिता, कानून से कह सकते हैं, "हम इस बच्चे को अब नियंत्रित नहीं रख सकते। हमें उसे इस घर में नहीं रखना है। उसे ले जाओ। उसके लिए कुछ करो।" ऐसे अधिकांश दृष्टान्तों में कानून मेहरबानी दर्शाते हुए बच्चे को ले जाता है और उसे जेल में ठूँस देता है। मेरा प्रस्ताव है कि कानून ऐसे बच्चे को दूसरे विकल्प दे। उसे अन्य अभिभावक चुनने या स्वतंत्र नागरिक के रूप में जीने की छूट दे। पर एक कठिन और शायद असम्भव स्थिति की कल्पना करें जहाँ बच्चा स्वतंत्र नागरिक के रूप में जीना नहीं चाहता, और न ऐसे द्वितीयक अभिभावकों को तलाश सका है जो उसे रखना चाहते हों, और माता-पिता इसी बात पर अड़े हों कि वे बच्चे को नहीं सँभाल सकते, तो क्या होगा? इस स्थिति में शायद राज्य को उसकी ज़िम्मेदारी लेनी होगी और बच्चे को किसी प्रकार की संस्था में रखना पड़ेगा। ऐसे किसी समाज की राजकीय संस्थाएँ भी आज की मौजूदा संस्थाओं की तुलना में शर्तिया रूप से अधिक मानवीय होंगी। और शायद माता-पिता को भी अपने प्राथमिक अभिभावक के दायित्व से मुक्त होने के लिए अधिक ठोस सबूत प्रस्तुत करने होंगे। या फिर राज्य बच्चे से यह भी कह सकता है कि जब तुम आश्रित या परावलम्बी बने रहने से इंकार करते हो तो तुम चाहो या न चाहो हम तुम्हें स्वतंत्र और स्वावलम्बी घोषित करते हैं।

जब तक बच्चा द्वितीयक अभिभावकों के साथ रहेगा, वे बच्चे के माता-पिता के स्थान पर होंगे। उसके कृत्यों के लिए वे उतने ही ज़िम्मेदार होंगे जितने आज उसके प्राकृतिक माता-पिता माने जाते हैं। मान लें कि अपने द्वितीयक अभिभावकों के साथ रहते हुए बच्चा कुछ भारी गलती करता है या अपराध करता है। ऐसे में इसकी आंशिक ज़िम्मेदारी उनकी भी होगी। वे बच्चे से कह सकते हैं कि "अगर तुम ऐसा करते हो, तो हम नहीं चाहते कि तुम हमारे साथ रहो; किसी दूसरे को तलाशो या माता-पिता के पास लौट जाओ।" पर अपने अभिभावकत्व को खत्म करने पर वे उस कृत्य की ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं हो जाएँगे जो बच्चे ने उनके पास रहते समय किया था। इसी प्रकार अगर कोई बच्चा कोई भारी भूल या अपराध उस वक्त करे जब वह स्वतंत्र नागरिक के

रूप में जी रहा था तो वह यह ज़िम्मेदारी अपने माता-पिता पर इतना भर कहकर टाल नहीं सकेगा कि "मैं वापस तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ।"

मैं जो कुछ प्रस्तावित कर रहा हूँ उसका एक मकसद है। और वह यह कि जब तक बच्चा कानूनी रूप से बालिग घोषित नहीं हो जाता (चाहे वह उसके लिए तैयार हो या न हो) और इस तरह एक सम्पूर्ण नागरिक नहीं बनता है, उसे ऐसे लोगों पर आश्रित होने पर बाध्य न होना पड़े जिन्हें उसने न तो चुना था और न ही वह उन्हें पसन्द करता है। बल्कि वह चयनित आश्रितता या स्वावलम्बी रूप से जीने की दिशा में बढ़ सके। वह अपने अभिभावक और शासक चुन सके या यह चुन सके कि उसे ऐसे लोग चाहिए ही नहीं। वह इन स्थितियों में आ-जा सके और दुनिया में एक अधिक क्रमिक और कम पीड़ादायक प्रवेश कर सके।

यह सब काफी अमूर्त लग सकता है। पर ज़रूरी नहीं कि ऐसा ही हो। जो मैं सुझा रहा हूँ उसे कई लोग पहले भी कर चुके हैं - कोई भारी-भरकम नाम दिए बगैर। जब मैं छोटा था तो अपनी गर्मियों का कुछ समय मिशिगन स्थित ग्रैण्ड रैपिड्स में रहने वाले अपने दादा-दादी के साथ मज़े से बिताता था। मैं उन्हें खूब प्यार करता था और वे मुझे। उनके मुहल्ले के बच्चों के साथ मेरी दोस्ती थी। एक साल, जब मैं ग्यारह वर्ष का हुआ तो दादा-दादी और मैंने सोचा कि शायद पूरी सर्दियाँ उनके साथ बिताना हम सबको अच्छा लगे। यह विचार पहले काफी अजीब लगा - दादाजी उस समय अस्सी साल के रहे होंगे - हम इस सम्भावना की कल्पना ही नहीं कर पा रहे थे। अन्ततः हमने हिम्मत जुटाई और माता-पिता से इसकी अनुमति चाही। पिता का तार आया, *हाँ, सर्दियाँ बिता सकते हो।* सो मैं वहीं रहा। यह मेरे बड़े होने का सबसे खुशनुमा साल था।

हाल में बॉस्टन में रहने वाले कुछ मित्रों के साथ साल भर एक ऐसा बच्चा रहा जो बॉस्टन में ही पढ़ाई करता था और वहीं रहना चाहता था। उसके माता-पिता साल भर के लिए विदेश जा रहे थे।

यह व्यवस्था सबको रास आई। ऐसे तमाम लोग होंगे जिनके अपने बच्चे काफी पहले बड़े हो चुके होंगे और जिन्हें बच्चे अच्छे लगते हों। वे शायद कुछ समय (साल भर या उससे कम समय) के लिए किसी बच्चे को अपने साथ रखना पसन्द करें। या जिन परिवारों के बच्चे हों और वे अपने बच्चों की अदला-बदली करना चाहें। सुखी परिवारों में भी एक ऐसा समय आता है जब बच्चा अपने परिवार को झेल नहीं पाता है या वे उसे। सालों पहले एक बड़े और सुखी परिवार वाले मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा था, "जॉन, अगर कभी तुम्हारा अपना

परिवार हो तो एक बात जान लो। जब तुम्हारे बच्चे छोटे हों और उनसे तुम्हारे रिश्ते कितने ही अच्छे क्यों न हों, एक समय आएगा जब तुम उनके लिए निकम्मे हो जाओगे। इसकी तैयारी ज़रूर रखना।" यह मैंने कई बार देखा है। उन परिवारों में भी जहाँ स्नेही और प्रसन्न बच्चे रहते रहे हों।

किशोरावस्था की शुरूआत में अपने माता-पिता के साथ मेरे रिश्ते, दूसरों की ही तरह, बहुत अच्छे नहीं थे। मेरे एक पक्के दोस्त की स्थिति भी मेरे ही समान थी। मैं जब भी उसके घर जाता वह किसी न किसी मुसीबत में फँसा मिलता। पर उसके माता-पिता मुझे खूब पसन्द करते थे और मेरे माता-पिता उसे। शायद यह हम सबके लिए अच्छा होता कि वह मेरे और मैं उसके परिवार के साथ कुछ समय बिताता। कुछ ही समय में नयापन खत्म हो जाने पर उसके माता-पिता मेरी तमाम कमियों को देख पाते और मैं उनकी। यही बात मेरे परिवार और मेरे दोस्त के साथ होती। माता-पिता भी यह समझते कि उनके बच्चे की कमियाँ बिलकुल अनूठी नहीं हैं। और हम बच्चे भी माता-पिता के बारे में यही बात समझ पाते। इसके बाद जब हम अपने परिवारों में लौटते तो शायद साथ-साथ जीना हम सबको अधिक आसान लगता।

कई बार ऐसा हो सकता है कि किसी घर में बच्चे को बहुत पसन्द न किया जाता हो। उसे वहाँ प्यार न मिलता हो। पर किसी दूसरे घर में स्थिति इसके बिलकुल विपरीत हो। मैं एक बच्ची को जानता हूँ जो फिलहाल अपने घर में बहुत लोकप्रिय नहीं है। पर एक दूसरे परिवार में उसे आनन्द का स्रोत माना जाता है। वे उसे साल भर या उससे भी ज़्यादा समय के लिए अपने पास रखना बेहद पसन्द करेंगे। कोई *आवश्यक* कारण नहीं कि माता-पिता अपने ही बच्चे को सबसे ज़्यादा पसन्द करें या उसे पसन्द भी करें। सम्भव है उन्हें कोई दूसरा ही बच्चा अधिक पसन्द आता हो। ऐसे में वयस्कों और बच्चों के लिए जीना आसान क्यों न बनाया जाए? क्यों न उन्हें ऐसा परिवार ढूँढने दिया जाए, उसके साथ अधिक समय बिताने का मौका दिया जाए?

समूह, समुदाय, संगठन आदि भी द्वितीयक अभिभावकों की भूमिका निभा सकते हैं। इसके कुछ उदाहरण आज भी मौजूद हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण तो सेना ही है। सेना में काम कर रहे लोगों और सेना का रिश्ता कई अर्थों में बच्चों और माता-पिता के रिश्ते जैसा ही है। सेना सैनिकों की मूलभूत ज़रूरतों, भोजन, वस्त्र, आवास आदि को पूरा करती है; उन्हें बताती है कि क्या करना है और उनके कृत्यों की ज़िम्मेदारी भी लेती है। छावनी या जहाज़ से दूर कोई सैनिक अगर मुसीबत में फँसे तो सेना पुलिस उसे अपने कब्ज़े में लेती है और नागरिक पुलिस से कहती है, "हम इसे सँभाल लेंगे।" कॉलेजों व विश्वविद्यालयों का रिश्ता भी अपने छात्रों के साथ कुछ ऐसा ही है। यद्यपि अब यह रिश्ता पहले

से काफी कमज़ोर हो गया है। वे उसे भोजन और आवास उपलब्ध करवाते हैं। उसके जीवन के कई हिस्सों को नियंत्रित करते हैं। उनके कृत्यों की, कम से कम परिसर के कृत्यों की, कानूनी ज़िम्मेदारी भी लेते हैं। छोटे बच्चे जिन छात्रावासों या शिविरों में जाते हैं वे भी ऐसे ही उदाहरण हैं। हालाँकि वहाँ कार्यरत लोग माता-पिता की भूमिका के अलावा पुलिस की भूमिका भी निभाते हैं। साथ ही वाय.एम.सी.ए., वाय.डब्ल्यू.सी.ए. और वाय.एम.एच.ए. जैसी संस्थाएँ, स्की स्थलों के पास रहने के सस्ते रैनबसेरे, चर्चों द्वारा चलाए जाने वाले अल्पावास गृह, कोपनहेगन या अन्य यूरोपीय शहरों में युवाओं में लोकप्रिय सस्ते अल्पावास आश्रय आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं।

अगर इन्हें ध्यान में रखकर हम संगठनों, समुदायों के एक समूह या नेटवर्क की कल्पना करें जहाँ बच्चों व किशोरों को यह सुविधा उपलब्ध हो कि वे मुफ्त में या कम पैसों में कुछेक ऐसे वयस्कों की लचीली देखरेख में समय बिता सकें जो उनकी ज़िम्मेदारी भी लें, तब उस बच्चे के लिए भी घर से अलग कुछ समय बिताना सम्भव हो सकेगा जो किसी दूसरे परिवार को अपना अभिभावक नहीं बना पाया हो। वह इस समूह में अपना नाम लिखवाकर उस पर निर्भर हो सकेगा। बल्कि यह भी सम्भव है कि जिस बच्चे का अपने परिवार के साथ कड़वा अनुभव रहा हो, वह एक भिन्न प्रकार के समुदाय में एक कम व्यक्तिगत सम्बन्ध ही पसन्द करे। जैसा अनुभव कई बच्चों को शिविरों या छात्रावासों में मिलता है।

वैकल्पिक या मुक्त शालाएँ, जैसे समरहिल, लूइस-वैडहैम्स, माइन स्थित कॉलिन्स ब्रुक स्कूल, न्यू यॉर्क शहर का लीप स्कूल और ऐसे ही तमाम दूसरे स्कूल हैं जिन्हें ऐसे ही समुदाय माना जा सकता है। दरअसल नील तो हमेशा ही समरहिल को पहले एक समुदाय और फिर एक सीमित हद तक स्कूल मानते थे। और स्कूल भी इसलिए क्योंकि कानून बच्चों को स्कूलों के अतिरिक्त किसी समुदाय में रहने की अनुमति नहीं देता था। लीप (लोअर ईस्टसाइड एक्शन प्रोजेक्ट) एक समुदाय के रूप में ही *शुरू हुआ था*। मुहल्ले के बच्चों के लिए घर से दूर एक घर के रूप में। बाद में (तमाम अन्य परियोजनाओं के साथ) उन्होंने एक स्कूल भी खोला, क्योंकि बच्चे यह चाहते थे। सम्भव है कि अगर उन पर स्कूलों का जामा ओढ़ने का दबाव न हो तो ऐसे कई समुदाय बेहतर काम करें। वे कम खर्च में अधिक लोगों को सेवाएँ दे सकें, बशर्ते उन्हें साफगोई के साथ समुदायों के रूप में काम करने दिया जाए। अन्यथा उन्हें भी एक हद तक स्कूलों के अमानवीय और अनुचित काम करने पड़ेंगे। अर्थात् जो बड़े चाहते हैं वही बच्चों को सिखाना-पढ़ाना, उन्हें कॉलेजों में दाखिल करवाना, बाद में अच्छी नौकरियों में लगवाना। यानी उन्हें ठोक-पीटकर सफल बनाना।

अगर इन समुदायों में रहने वाले बच्चे और किशोर किसी प्रकार की शैक्षणिक गतिविधियाँ सच में चाहें तो स्वयं ही उन्हें नियोजित करें, चलाएँ और उसका प्रबन्ध करें। ऐसे कुछ समुदायों के लिए शायद यह भी बेहतर हो कि वे केवल बच्चों या किशोरों के लिए न होकर हर उम्र के लोगों के लिए हों, अगर इन समुदायों का अपना कोई केन्द्रीय उद्देश्य हो - जैसे खेतीबाड़ी, हस्तकलाएँ, छोटा-मोटा कुटीर उद्योग, व्यवसाय, संगीत या नाटक। संक्षेप में, अगर वह किसी साझे सरोकार के सूत्र में बन्धे लोगों का समूह हो तो वह और भी बेहतर हो।

लिंक्स बुक्स, न्यू यॉर्क से छपी माइकल एस. काय की पुस्तक *द टीचर वॉज़ द सी* एक ऐसे ही समुदाय के उद्भव, विकास और बदलाव का एक उम्दा, ईमानदार और संवेदनशील विवरण है। इसकी शुरुआत पॉलो आल्टो के पास एक वैकल्पिक स्कूल के रूप में हुई थी जिसका नाम था पेसिफिक हाई स्कूल। जितना अधिक समय वहाँ लोगों ने काम करते बिताया, उन्हें अक्सर दुख के साथ उतना ही अधिक स्पष्ट होता चला कि वे बच्चों और किशोरों की गहनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर, छोटे और बड़े लोगों के बीच ईमानदार रिश्तों की स्थापना नहीं कर सकते, तब तक जब तक वे एक स्कूल होने का ढोंग त्यागकर एक ऐसा समुदाय न बन जाएँ जहाँ भिन्न-भिन्न उम्र के लोग साथ-साथ जीते और काम करते हों। किसी दूसरे लेखक ने उन विरोधाभासों का इस खूबसूरती से वर्णन नहीं किया है जो तब उभरते हैं जब किसी मुक्त शाला में परम्परागत अकादमिक कक्षाएँ चलाने की कोशिश की जाती है।

शेष समुदायों की ही तरह ऐसे समुदायों के भी अपने निजी कानून होंगे। और वहाँ आश्रितों के रूप में रहने वाले बच्चों के लिए शायद कुछ विशेष नियम भी हों। जैसे रात को वापस लौटने का समय, शान्त रहने का समय, और शायद जो बच्चे एक या अधिक रात बाहर गुज़ारना चाहें उन्हें व्यवस्थापकों को इसकी सूचना भी देनी पड़े कि वे कहाँ जा रहे हैं। ऐसे समुदायों को भी किसी द्वितीयक अभिभावक की ही तरह यह अधिकार होगा कि अगर कोई बच्चा बहुत अनियंत्रित या परेशान करने वाला हो, तो वे उसके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ दें, या उसे लौट जाने को कहें। कुछ लोगों को इस बात में विरोधाभास नज़र आ सकता है। पर किसी स्वैच्छिक समुदाय में स्वतंत्रता और नियमों में कोई विरोधाभास नहीं होता। अगर आप अपनी ही इच्छा से आते हैं और रहने या जाने का विकल्प वास्तव में आपके सामने होता है, तो समुदाय को यह कहने का अधिकार भी होता है कि "अगर यहाँ रहना चाहो, तो तुम्हें ये काम करने होंगे। और अगर तुम वे काम नहीं करना चाहते तो तुम जा सकते हो।" समरहिल जैसे कुछ समुदायों में खुली आमसभाओं में इन नियमों पर चर्चा की

जा सकती है। उन्हें बदला जा सकता है। कुछ दूसरों में वे कमोबेश तय होते हैं। मुझे लगता है कि किसी समुदाय को आगन्तुक को यह कहने का अधिकार भी होना चाहिए कि "तुम्हें कुछ समय यहाँ बिताना होगा। समुदाय में स्थाई रुचि दिखानी होगी। योगदान देना होगा। हमारे सरोकारों को बाँटना होगा और केवल तब ही तुम्हें हमारे नियमों को बदलने के विषय में कुछ कहने का अधिकार मिलेगा।" इस विषय में और भी तरीके सोचे जा सकते हैं।

सम्भव है कि कई समुदाय यह चाहें, और शायद उन्हें यह आवश्यक भी बना देना चाहिए, कि वहाँ रहने वाला प्रत्येक सदस्य समुदाय चलाने के लिए कुछ न कुछ काम करे। यह अपने आप में अच्छी बात है और इससे लागत में भी कमी आएगी। सम्भव यह भी है कि कुछ समुदाय इसे ज़रूरी न मानें। वे वाय.एम.सी.ए. या किसी सस्ते होटल या यूथ हॉस्टल की तरह हों जहाँ स्थाई कार्यकर्ता हों। जिन स्थानों पर आवासियों को काम में हाथ बँटाने की ज़रूरत न हो, और वे अपने काम वेतन देकर करवा सकें, वे शायद अधिक शुल्क लें। यूँ कोई बच्चा या किशोर किसी बिलकुल सस्ती जगह पर भी रह सकता है जहाँ उसे कुछ काम करने पड़ें और कुछ अधिक महँगी जगह पर भी जहाँ उसे कुछ भी न करना पड़े। ज़्यादातर बच्चे पहला विकल्प ही चुनेंगे।

ऐसे स्थानों को बनाने की ज़िम्मेदारी कौन लेगा? उनकी कीमत कौन चुकाएगा? वहाँ काम कौन करेगा? इन सवालों के कुछ जवाब मैं यहाँ सुझा सकता हूँ। जब भी हम सरकार द्वारा चलाई जाने वाली ऐसी संस्थाओं के बारे में, उनमें काम करने वाले लोगों के बारे में सोचते हैं तो कुछ ठिठक जाते हैं। क्या ऐसे आश्रयों को चलाना भी उसी तरह का उद्योग बन जाएगा जैसा आज स्कूल चलाना या अन्य संस्थाएँ चलाना बन चुका है? क्या स्कूलों की ही तरह यहाँ भी अनावश्यक और खर्चीला प्रशिक्षण, पंजीकरण, प्रमाणन का धन्धा होगा? हमें इस सबको रोकने में सक्षम होना चाहिए। मौजूदा संस्थाओं और जिस प्रकार के समुदायों को मैं प्रस्तावित कर रहा हूँ, उनमें अन्तर यह है कि अधिकांश राजकीय संस्थाएँ जेल के समान हैं। न तो लोग उनमें जाना चुनते हैं, न उन्हें छोड़ना चाहें तो छोड़ ही सकते हैं। लोग वहाँ इसलिए हैं क्योंकि दूसरों ने अपने निजी कारणों से उन्हें वहाँ भेज दिया है। और वे वहाँ तब तक रहने को मजबूर हैं जब तक उन्हें भेजने वाले, फिर से अपने ही कारणों के चलते, उन्हें वहाँ से निकालने का निर्णय न ले लें। ज़ाहिर है इससे दुर्व्यवहार और ज़ोर-ज़बरदस्ती को बढ़ावा मिलता है। किन्तु अगर लोग उन समुदायों को छोड़ सकते जो उन्हें नापसन्द हों, तो ऐसे समुदायों को चलाने वालों को अपने मुवक्किलों के अनुरूप स्वयं को ढालना पड़ता, क्योंकि अन्यथा वहाँ कोई आता ही नहीं।

इन संस्थाओं के लिए वित्त कहाँ से आएगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि

ये संस्थाएँ किस समाज में चलाई जा रही हैं; वह समाज बच्चों व किशोरों समेत अपने सभी बाशिन्दों को एक न्यूनतम आय की गारण्टी देता है या नहीं। अगर समाज यह करता है तो इन आश्रमों या समुदायों का खर्चा उन्हीं लोगों को उठाना होगा, और उठाना चाहिए भी, जो इनका उपयोग करते हैं। इस तरीके से यह भी सुनिश्चित किया जा सकेगा कि ये स्थान वास्तव में उन लोगों को सेवाएँ दें जिनके लिए वे बनाए गए थे। किन्तु अगर बच्चों और किशोरों की न्यूनतम आय सुनिश्चित नहीं होती तो संस्थाओं को अपना वित्त खुद लाना होगा। या वे दान माँगेंगी या शुल्क लेंगी। सम्भव है कि उन्हें अधिकांश राशि सरकार से माँगनी पड़े।

यहाँ दो सम्भावनाएँ हैं। डेनमार्क में एक कानून है कि दस या उससे अधिक परिवारों का समूह अपने बच्चों के लिए एक स्कूल शुरू कर सकता है। समूह को साल भर तक उसे अपने बूते पर चलाना होगा। इसके बाद ही सरकार स्कूल चलाने में आने वाले व्यय की करीब 85 प्रतिशत राशि उपलब्ध करवाती है। पर प्रारम्भ में लगने वाली पूँजी की व्यवस्था उन्हीं लोगों को करनी पड़ती है जो इसे चलाना चाहते हैं। सरकार इसी प्रकार का प्रस्ताव बच्चों और किशोरों के आश्रम या समुदाय के लिए भी दे सकती है। किन्तु अगर बच्चों या किशोरों के पास अपना पैसा है तो शायद बेहतर यह हो कि सरकार इन आश्रमों की प्रारम्भिक लागत का अधिकांश हिस्सा स्वयं वहन करे - यानी भवन, मरम्मत, उपकरण, मेज़-कुर्सी आदि पर आने वाली लागत। और उसे चलाने का खर्च वे लोग वहन करें जो वहाँ रहें। या सरकार दोनों विकल्प ही सामने रखे।

ऐसे स्थानों में कौन काम करेगा? आज भी मुक्त शालाओं, साहसिक उद्यानों या अन्य स्वैच्छिक समुदायों में नौकरियाँ तलाशने वाले नौजवानों की संख्या उपलब्ध नौकरियों से अधिक है। अतः यह मानने का कोई कारण नहीं कि इन समुदायों में काम करने वाले लोग नहीं मिलेंगे। खासकर उस स्थिति में जब सबके पास एक न्यूनतम आय हो और उन्हें वेतन देने की या अधिक वेतन देने की आवश्यकता न हो। संस्थाओं द्वारा दिए जा सकने वाले वेतन में शायद सरकार भी एक छोटी राशि जोड़ सके। या उनके काम के बदले एक निश्चित आय उपलब्ध करवा सके।

सवाल है कि ऐसी संस्थाओं या सहायक संस्थाओं को सरकार चलाए या वे सरकारी समर्थन से चलाई जाएँ? मेरे हिसाब से बेहतर यह है कि सरकार वित्त उपलब्ध करवाए और लोग अपनी आवश्यकता और पसन्द के अनुरूप इन्हें बनाएँ और चलाएँ। शायद सरकार को इन संस्थाओं में स्वास्थ्य व सुरक्षा के न्यूनतम मापदण्ड लागू करना ज़रूरी लगे। परन्तु इसके भी अपने ही खतरे होते हैं। अक्सर भवन निर्माण या दिवस देखभाल जैसे कामों के बारे में "मानक"

लागू करने के प्रभावस्वरूप उस अत्यावश्यक सेवा की कीमत बढ़ जाती है। और वह उन लोगों से दूर हो जाती है जिन्हें उसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है। साथ ही तब यह सेवा एक मानवीय गतिविधि न रहकर एक बाज़ारू वस्तु बन जाती है। वह एक ऐसे एकाधिकार का रूप ले लेती है जिसे विशेषज्ञ अपने लाभदायक व्यवसाय का ज़रिया बना डालते हैं। सरकार (अधिकांश दृष्टान्तों में शहर) उन आवासीय इलाकों में अपने ही द्वारा बनाए गए स्वास्थ्य और सुरक्षा के नियमों को लागू नहीं करती जहाँ गरीब लोग रहने पर मजबूर हैं। पर जब स्कूल या दूसरी संस्थाओं को बन्द करना हो, जो इन्हीं गरीबों द्वारा अपनी मदद के लिए बनाई गई हों, तो वह इन नियमों का बहाना इस्तेमाल करती है।

कोई कारण नहीं कि इन आश्रयों या समुदायों के आवासीय हिस्से बिलकुल साधारण न हों। न्यू यॉर्क के लीप स्कूल के लैरी तथा मिशेल कोल ने ऐसी साधारण पर अनोखी, बन्द हो जाने वाली खाटें, सामान रखने के आले और अध्ययन करने के स्थान बनाए थे जिनका उपयोग स्कूल में रहना चाहने वाले बच्चे और किशोर कर सकते थे। इन्हें एक बड़े बक्से में बन्द किया जा सकता था या खोलकर छोटे निजी कमरों का रूप दिया जा सकता था, या जोड़कर दो या तीन छात्रों लायक एक कमरा बनाया जा सकता था, या जैसा छात्र चाहते वैसा आकार दिया जा सकता था। ये बक्से कम लागत में बनाए जा सकते थे और एक कमरे में रखे जा सकते थे। इस अर्थ में लीप स्कूल एक भण्डार गृह ही था।

जिस खतरे का मुझे डर है और जिससे हर कीमत पर बचना चाहिए वह यह है कि ऐसे स्थलों की माँग इतनी हो जाएगी कि यह भी एक नया उद्योग या नौकरशाही बन जाएगा, जैसा स्कूलों के साथ हुआ है। प्रारम्भ में यह संवेदनशील और विवेकपूर्ण रहेगा। पर समय के साथ इसका स्वरूप भी गैर-लचीला, नियमों से जकड़ा, सुरक्षात्मक व स्वार्थी बन जाएगा। यह अत्यावश्यक है कि ये स्थल छोटे, अनौपचारिक तथा विकेन्द्रित हों। मौजूदा व्यवस्था से असन्तुष्ट लोगों को हमेशा यह अधिकार भी हो कि वे अपने लिए कुछ नया बनाएँ। ऐसा डेनमार्क के स्कूलों के साथ होता है। आश्रय, रहने का स्थान और अन्य लोगों का साथ लोगों की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। इन्हें उपलब्ध करवाने पर किसी का भी एकाधिकार नहीं होना चाहिए - फिर चाहे यह एकाधिकार व्यावसायिक, कानूनी या कोई अन्य ही क्यों न हो।

क्या उस समाज को भी ऐसी संस्थाओं की *ज़रूरत* होगी जो इतना अच्छा हो कि उसने इन्हें बनाया हो? जी हाँ, पर शायद हमारे मौजूदा समाजों से कहीं कम। बेहद विवेकपूर्ण और मानवीय समाजों में भी बच्चों को बदलाव, आज़ादी,

साहसिक अनुभवों तथा नए स्थानों की यात्रा कर नए लोगों से मिलने की ज़रूरत होगी। उन्हें अपने परिवारों से कुछ समय तक अलग रहने और फिर वापस लौट पाने की ज़रूरत होगी। अपने परिवार से फिर मिलने और नवागन्तुकों के रूप में उन्हें फिर से जानने की ज़रूरत होगी। इससे परिवारों को भी लाभ होगा। वे भी अमीरों की तरह अपने चंचल और अधीर बच्चों से, कम से कम कुछ समय के लिए, छुटकारा पा सकेंगे।

22. सुनिश्चित आय का अधिकार

अगर किसी समाज में सम्मानजनक आजीविका का एकमात्र उपाय नौकरी पाना हो, और उपलब्ध नौकरियों की संख्या नौकरी चाहने वालों से कम हो, तो ज़ाहिर है कि कई लोगों को नौकरीपेशा व्यक्ति पर निर्भर रहना होगा। आज हमारे देश की तकरीबन आधी महिलाएँ, कई वृद्ध और सभी बच्चे इस स्थिति में ही हैं। और जब तक यह स्थिति बनी रहती है इन लोगों की स्वतंत्रता, उनके समान अधिकारों की चर्चा ही अवास्तविक है। अगर अपनी ज़रूरत की चीज़ें उन्हें उसी व्यक्ति से मिल सकती हैं जो नौकरी करता हो या रोटी कमाने वाला हो तो उसे भी यह लगेगा कि बच्चों को क्या करना चाहिए कहने का अधिकार उसका है। और काफी हद तक उसका यह मानना सच भी होगा। फिर कानून चाहे जो कहता हो। इनके सामने भी अपने अन्नदाता का कहा मानने के अलावा कोई चारा नहीं होगा। क्योंकि जाने के लिए उनके पास कोई दूसरा ठौर भी तो नहीं है।

हमारे समाज में महिलाओं और बच्चों के समान अधिकारों की बात करते वक्त हम आवश्यक रूप से उच्च मध्यम वर्ग और सम्पन्न वर्ग की ही बात कर रहे होते हैं। क्योंकि इन्हीं वर्गों में यह सम्भावना है कि महिलाओं और बच्चों के पास अपना पैसा हो, और वे जो भी, जैसे भी काम उपलब्ध हैं उन्हें पा सकते हों, या उन लोगों की मदद ले सकते हैं जिनके पास पैसा है। पर ये विकल्प अधिकांश लोगों के पास हैं ही नहीं। निम्न मध्यम वर्ग या गरीब वर्ग की महिलाएँ और बच्चे किसी नौकरीपेशा व्यक्ति पर तब तक निर्भर रहेंगे जब तक उनके पास निजी आय का कोई साधन न हो।

इस कारण स्वतंत्र होने का अधिकार उसी समाज में सार्थक बन सकता है जो हरेक के लिए न्यूनतम आय सुनिश्चित करे। यह राशि क्यों दी जानी चाहिए, राशि कितनी हो, उसके लिए वित्त कहाँ से आएगा, इसे पाने में कौन-कौन सी मनोवैज्ञानिक और राजनैतिक बाधाएँ हैं, इन बाधाओं के लाँघने के प्रभावी उपाय क्या हो सकते हैं - इन तमाम सवालों का उत्तर मैं यहाँ नहीं दे सकता। मेरा प्रस्ताव है कि ऐसी आय प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध करवाई जाए। केवल वयस्क स्त्री-पुरुषों को, विवाहित या एकल वयस्कों को ही नहीं बल्कि हर बच्चे को भी। जिस उम्र में बच्चा स्वतंत्र आय चाहे उसे वह तभी से ही उपलब्ध

करवाई जाए। क्योंकि जब तक व्यक्ति के पास जीवनयापन के लिए आवश्यक राशि नहीं होगी, घर छोड़ने, यात्रा करने, अपने अभिभावक स्वयं तलाशने, अपने इच्छानुरूप स्थान में रहने आदि के अधिकार भी सार्थक नहीं हो सकेंगे। कुछ लोग यह कहते हुए आपत्ति करेंगे कि इस हद तक आर्थिक स्वतंत्रता पारिवारिक बन्धनों को कमज़ोर बना देगी। पर राज्य को परिवार या व्यक्तिगत सम्बन्धों को जोड़े रखने के लिए गरीबी की धमकी का उपयोग गोंद की तरह नहीं करना चाहिए।

अगर कोई बच्चा आश्रित के रूप में जीता है और कोई अभिभावक उसके आवास, कपड़े, भोजन व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो, तो क्या बच्चे की आय का कुछ भाग खर्चे के रूप में अभिभावक को भी मिलना चाहिए? अगर हाँ, तो कितना? अगर कोई बच्चा आपसी समझौते के बाद अपने द्वारा चुने गए किसी द्वितीयक अभिभावक के साथ रहता है तो उन्होंने इस राशि पर पहले ही बातचीत कर ली होगी। अगर अभिभावक के पास अधिक पैसा नहीं हो तो वह शायद बच्चे से कहे, "अगर तुम्हें यहाँ आकर रहना है तो तुम्हें अमुक राशि खर्च के लिए देनी होगी"। अगर वह सम्पन्न हो तो उसे शायद इसकी ज़रूरत ही न हो। और अगर वे बाद में इस वित्त व्यवस्था से असन्तुष्ट हो जाएँ तो इस पर फिर से बातचीत की जा सकती है। परेशानी में फँसने पर अभिभावक बच्चे से कह सकता है, "देखो, अगर तुम अमुक राशि नहीं दे सकते तो तुम्हें रखना हमारे लिए सम्भव नहीं है। तुम अब हमारे साथ नहीं रह सकते।" यह भी कुछ असम्भव-सा ही लगता है कि जो लोग तमाम कारणों से साथ रहना चाहते हों, वे केवल इस मुद्दे पर अलग हो जाएँ।

परन्तु माता-पिता, अर्थात् प्राथमिक अभिभावक, बच्चे को कुछ राशि देने अन्यथा बाहर निकल जाने की बात नहीं कह सकेंगे। तो फिर उन्हें बच्चे की आय में से वाजिब हिस्सा कैसे मिलेगा? और वाजिब हिस्सा होगा कितना? क्या ये बातें कानून में स्पष्ट की जाएँगी? पर अब तक स्पष्ट हो चुके कारणों से मैं ऐसा नहीं चाहूँगा। शायद यही प्रावधान उचित हो कि अपने प्राथमिक अभिभावकों के साथ रह रहे बच्चे की आय का एक निश्चित प्रतिशत सीधे ही अभिभावक को दे दिया जाए। और अगर बच्चे और अभिभावक को यह व्यवस्था अच्छी न लगे तो वे आपसी बातचीत से मसले को सुलटा सकते हैं।

कुछ लोग पूछेंगे कि अगर परिवार के हरेक सदस्य की अपनी निजी आय हो, हरेक अपना आयकर विवरण भरे, और उसे कर से छूट मिले, तो इससे संयुक्त आय कैसे बनेगी? क्या इससे, हरेक को साझे व्यय के लिए कितनी राशि डालनी चाहिए आदि विषयों पर अनन्त बहसें नहीं शुरू हो जाएँगी? क्या आज की मौजूदा व्यवस्था ही बेहतर नहीं है, जहाँ सब अपनी आय एक साझे कोष में

डालते हैं और परिवार को एकल आर्थिक इकाई के रूप में देखा जाता है? जिस स्थिति को मैं प्रस्तावित कर रहा हूँ उसमें परिवारों में पैसों को लेकर बहस की सम्भावना ज़रूर है। पर जिस तरीके से आज हम इस खतरे से बचते हैं वह तो और भी खराब है। यह कहना ठीक है कि परिवार एकल आर्थिक इकाई है और सभी को अपनी पूरी आय साझे व्यय के लिए डाल देनी चाहिए। किन्तु इसका व्यावहारिक अर्थ यह होता है कि परिवार की समूची सम्पत्ति और आय परिवार के मुखिया (जो अमूमन एक पुरुष होता है) की हो जाती है। शेष सदस्यों को अपनी आवश्यकताओं के लिए पैसों को लेकर मोलभाव करना पड़ता है, यहाँ तक की भीख माँगनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, परिवार के संसाधन कैसे बाँटे जाएँ, यह समस्या तो पहले ही मौजूद है। अन्तर इतना भर है कि आज आश्रित सदस्यों को एक कमज़ोर और असमान स्थिति से मोलतोल करना या भीख माँगनी पड़ती है। जब तक वे काम नहीं करते, न उनकी आय होती है, न आय पर उनका अधिकार ही। अगर प्रत्येक सदस्य की अपनी सुनिश्चित आय होती, और या तो वे कर देते या उन्हें कर विभाग से पैसे वापस मिलते, तो शायद पैसों को लेकर कम ही फसाद होता। ज़ाहिर है कि हमें इस प्रकार के तकनीकी सवालों के राजनैतिक जवाब तलाशने होंगे। उन पर न तो अभी निर्णय लिया जा सकता है, न आज ही निर्णय लेना ज़रूरी है।

एक अन्तिम बिन्दु का भी यहाँ उल्लेख होना चाहिए। गरीबी का खतरा या डर ही अधिकांश लोगों को पराश्रित बनाता है। कोई भी देश, वह देश भी जो हरेक को सुनिश्चित आय उपलब्ध करवाता हो, न तो गरीबी कम कर सकता है, न उसका भय ही दूर कर सकता है। ऐसा तब तक नहीं होगा जब तक वह देश सम्मानजनक जीवन जी पाने के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि को कम या कम से कम स्थाई नहीं कर देता। किसी देश के जीवन की गुणवत्ता के स्तर की सही जाँच इसी बात से हो सकती है कि उसके गरीबतम लोग कितनी अच्छी तरह जी पा रहे हैं।

23. कानूनी व वित्तीय दायित्व का अधिकार

बच्चों और किशोरों को दो अधिकार दिए जाने चाहिए जो फिलहाल उनके पास नहीं हैं। पहला है कानून की सम्पूर्ण व समान सुरक्षा। दूसरा है, अगर व्यक्ति चाहे तो कानूनी व वित्तीय रूप से ज़िम्मेदार नागरिक के रूप में जी सके।

पहले अधिकार से मेरा मतलब है बच्चों को अन्य लोगों या सरकार के मनमाने कृत्यों से ठीक वैसा ही संरक्षण मिलना चाहिए जो कानून व उसके प्रावधान वयस्कों को देते हैं। साथ ही, किसी भी स्थिति में कानून द्वारा बच्चों के साथ किया जाने वाला व्यवहार वयस्कों के साथ किए जाने वाले बर्ताव की तुलना में बुरा नहीं होना चाहिए। फिलहाल ये दोनों ही बातें मौजूद नहीं हैं। अधिकांश लोग सोचते हैं कि कानून बच्चों के प्रति अधिक दयालुता और कोमलता बरतता है, क्योंकि हम उनकी कम उम्र और अनुभवहीनता के कारण कुछ गुंजाइश रखना चाहते हैं। पर सच्चाई यह है कि हम उनसे वयस्कों की तुलना में कहीं खराब व्यवहार करते हैं। आज बड़ी संख्या में बच्चे और किशोर जेलों में हैं - यानी ऐसी संस्थाओं में हैं जहाँ से वे अपनी मर्ज़ी से निकल नहीं सकते और जहाँ उनसे आम तौर पर कठोर, निर्दयतापूर्ण और क्रूर व्यवहार किया जाता है। वे इन संस्थाओं में इसलिए नहीं हैं कि उन्होंने कुछ *किया* है, बल्कि इसलिए हैं क्योंकि सरकार ऐसा कोई व्यक्ति या परिवार नहीं तलाश सकी है जो उन्हें "प्रेम, सरोकार आदि" दे सके। यही उनकी तथाकथित ज़रूरत है। कई दूसरे बच्चे और किशोर जेलों में उन कृत्यों के लिए ठूँसे गए हैं जिन्हें अगर कोई वयस्क करता तो वह कृत्य न अपराध माना जाता, न कोई भूल ही। और वास्तविक अपराधों के लिए जेलों में भेजे गए कई बच्चे व किशोर ठीक वही अपराध करने वाले वयस्कों की तुलना में कहीं अधिक समय वहाँ बिताते हैं।

उदाहरणों की बाढ़ में से मैं कुछ उदाहरण सामने रखता हूँ। 25 दिसम्बर 1972 की *टाइम* पत्रिका में छपे एक लेख "चिल्ड्रन्स राइट्स : द लेटेस्ट क्रूसेड" (बाल अधिकार : ताज़ा जिहाद) में लिखा गया थाः

> किशोर जेरल्ड गॉल्ट ने सोचा होगा कि वह एक मज़ाक कर रहा है। उसने पास ही एरिज़ोना में ग्लोब नामक स्थान पर रहने वाली एक गृहणी को फोन किया। उसने कुछ ऐसी टिप्पणियाँ कीं जिन्हें

> सर्वोच्च न्यायालय ने बाद में "किशोर उम्र की सेक्स सम्बन्धी बेहूदी टिप्पणियाँ या सवाल" घोषित किया। बच्चे का कोई वकील नहीं था। गृहणी ने सार्वजनिक रूप से अपना बयान नहीं दिया। मामले की सुनवाई का कोई रिकॉर्ड नहीं रखा गया। और अपील करने की सम्भावनाएँ भी नहीं थीं। अगर वह वयस्क होता तो गॉल्ट को इस अपराध का *अधिकतम दण्ड दो माह* [इटैलिक्स मेरी तरफ से, विशेष ध्यान के लिए] का कारावास मिलता। किन्तु वह केवल 15 साल का था। अतः उसे 21 वर्ष का होने तक राजकीय औद्योगिक विद्यालय में भेज दिया गया। 1967 में सर्वोच्च न्यायालय ने जब उसे रिहा किया तब तक दो वर्ष हो चुके थे।...

इसी आलेख में एक दूसरी जगह हम पढ़ते हैंः

> ...16 वर्ष के पैम का दृष्टान्त लें। उसकी माँ, पिता द्वारा त्याग दिए जाने पर, जीवन से जूझ रही थी और वह पैम को सँभाल नहीं पा रही थी। अतः उसने पैम को सरकार को सौंप दिया। शिकागो के वकील पैट्रिक मर्फी बताते हैं कि "पैम एक बेहद तेज़ और संवेदनशील बच्ची है। पर वह बहुत आकर्षक नहीं है। उसे एक दत्तक परिवार में साल भर के लिए भेजा गया। इसके बाद वह वापस बाल अपराधी गृह में लौटी [मेरी टिप्पणी : हम इन जेलों को "गृह" क्यों कहते हैं?], वहाँ से इल्गिन राजकीय चिकित्सालय में गई। अपने रंग-रूप पर दूसरे बच्चों के तानों के कारण वह उनसे लड़ती थी। इल्गिन में स्थिति और खराब हुई [मेरी टिप्पणी : स्थिति खराब हुई, कहकर भला कौन-सी सच्चाई छुपाई गई है?], अतः उसे 28 दिनों तक बिस्तर से बाँधकर रखा गया। जब उसे छोड़ा गया तो उसने मेट्रन को मारा। अतः उसे अगले 30 दिनों के लिए बन्धन में रखा गया। इस समय तक वह उस स्थिति में पहुँच गई थी जहाँ उसे वास्तव में मनोचिकित्सा की ज़रूरत थी।"

पर मैं सुझाना चाहूँगा कि पैम की दरअसल ज़रूरत इस बात की थी कि सरकार अपने गन्दे हाथ उससे दूर रखे। बहरहाल वह लेख आगे चलता हैः

> ...शिकागो की कुक काउण्टी के बाल न्यायालय में पिछले वर्ष 28,740 प्रकरणों पर विचार हुआ था। इनमें से केवल 3500 गम्भीर जुर्म के मामले थे। 9200 दृष्टान्त माता-पिता की लापरवाही या घर से भागने से सम्बन्धित थे। घर से भागने के कई दृष्टान्तों में भागने का जायज़ कारण था - क्रूरता, उदासीनता या उपेक्षा। "माता-पिता

> को बच्चों को मारने की छूट है," स्टैनफोर्ड काट्ज कहते हैं, "और तब तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती जब तक बच्चा गम्भीर रूप से घायल न हो जाए।"...एक दत्तक परिवार के साथ रह रही मैसाच्यूसेट्स की एक हठीली 15 वर्षीय किशोरी को अदालत में इसलिए घसीटा गया क्योंकि उसने अपने दत्तक माता-पिता द्वारा बनाए गए नियम - वह लड़कों से बात नहीं करेगी - को तोड़ा था। उसे "चरित्रहीन लड़की" घोषित किया गया, पर अदालत कोई दण्ड तय नहीं कर सकी।

"चरित्रहीन", "दण्ड" और यह सब महज़ इसलिए कि उसने लड़कों से बात नहीं करने के आदेश को नहीं माना था। शायद कानून में कहीं यह भी दर्ज किया जाना चाहिए कि बच्चों को यह अधिकार है कि वे जिससे चाहें बात कर सकते हैं। यह सब कितना अविश्वसनीय है। पर वह आलेख आगे चलता है। मैं यहाँ जोड़ दूँ कि नीचे दी जा रही घटना अब उत्तरोत्तर आम हो चली है:

> ...हाल में पूरा शिकागो छह वर्षीय जॉनी लिण्डक्विस्ट के प्रकरण से सकते में आ गया। माता-पिता की इस घोषणा के बाद कि वे उसकी देखभाल नहीं कर सकते, वह मज़े से अपने दत्तक परिवार में रह रहा था। कुछ समय बाद माता-पिता ने अपना मन बदला और सामाजिक कार्यकर्ताओं [मेरी टिप्पणी : व्यावसायिक सहायकों] ने उसे माता-पिता के पास वापस लौटा दिया, हालाँकि बच्चे ने अपने पिता के प्रति भय अभिव्यक्त किया था। पुलिस के अनुसार, चार माह बाद, पिता ने उसे संज्ञाहीन होने तक मारा। जॉनी का सिर फट गया। चार सप्ताह तक बेहोश पड़े रहने के बाद वह मर गया। फलस्वरूप इलिनॉए की एक सिनेट समिति विचार कर रही है कि क्या उसे भी अपने बाल-देखभाल नियमों को बदलकर कैलीफोर्निया के नियमों की तरह नहीं बना डालना चाहिए, जहाँ अभिरक्षण के मामले में बच्चे की इच्छाओं पर भी "वाजिब बल" दिया जाता है, बशर्ते कि वह "पर्याप्त आयु का हो चुका हो व तर्कशक्ति रखता हो।"

मुझे नहीं मालूम कि इलिनॉए की विधान सभा इस नियम पर क्या कार्यवाही करेगी। मुझे शंका है कि यह नियम पारित किया भी जाएगा। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि अगर यह कानून किताबों में दर्ज होता तो भी उसका जॉनी लिण्डक्विस्ट या उस जैसे बच्चों के प्रकरण में रत्तीभर फर्क नहीं पड़ता। आज संयुक्त राज्य अमरीका में व्यावसायिक सहायकों का और बच्चों के संरक्षकों का कौन-सा समूह होगा जो यह स्वीकारेगा कि दस वर्षीय बच्चे "पर्याप्त आयु व

तर्कशक्ति" वाले हैं? किन्तु ठीक यही तो उपरोक्त दृष्टान्त का तर्क है जिससे *टाइम* पत्रिका पूरी तरह चूकी। इस मामले में *जॉनी ही सही था*। उसका फैसला और उसकी तर्कशक्ति सरकार तथा उसके वयस्क विशेषज्ञों से कहीं अधिक सटीक थे। *उसे पता था*। उन्हें नहीं। पर क्या हम भविष्य में किसी दूसरे छह वर्षीय बच्चे की बात को ध्यान से सुनेंगे जब वह कहेगा कि उसे मालूम है कि वह क्या चाहता है, और उसकी क्या ज़रूरत है? मुझे सम्भव नहीं लगता कि ऐसा होगा।

> ...येल लॉ स्कूल के वकील-मनोविज्ञानी जोसेफ गोल्डस्टाइन उन कानूनी अभिरक्षा अधिनियमों का विरोध करते हैं जो अनाथ बच्चे को उसके निकटस्थ रिश्तेदारों को सुपुर्द कर देते हैं।...[वे] उन कानूनों को बेहतर मानते हैं जो यह निर्णय न्यायाधीश के विवेक पर छोड़ते हैं, जो उचित लगे तो बच्चे को उन दूर के रिश्तेदारों या घनिष्ठ मित्रों को सुपर्द करे जिन्हें उस बच्चे से लगाव हो।

ज़ाहिर है कि यह एक सुधार होगा। पर बच्चे के विवेक पर कुछ छोड़ने के विषय में हमारा क्या सोचना है? इस मामले में उसकी राय क्यों नहीं पूछी जाती?

आलेख के अन्त में हम उसी जगह पहुँचते जाते हैं जहाँ से हम शुरू हुए थे। यहाँ उद्धृत वक्तव्य को मैं असाधारण कहता, सिवाय इसके कि अधिकांश लोग ठीक इसी तरह सोचते और ठीक यही कहते हैं:

> चुनौती यह होगी कि बच्चे के अधिकारों को इस प्रकार परिभाषित किया जाए कि उत्पीड़न के विरुद्ध उसका संरक्षण व्यापक बने पर उससे माता-पिता की सत्ता के मानसिक लाभों में कोई कमी न आए। "क्योंकि ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे सरकार माता-पिता द्वारा उपलब्ध करवाई जाने वाली चौबीसों घण्टों, सातों दिन और साल के 52 सप्ताहों की देखभाल बच्चे को उपलब्ध करवा सके।"

बकवास। अव्वल तो कोई भी माता-पिता ऐसी देखभाल करते ही नहीं, न दुनिया के समूचे इतिहास में किसी ने की है। लोगों के पास करने को तमाम काम हैं। किसी बच्चे को (अगर वह कृत्रिम लौह फेफड़ों के सहारे न जी रहा हो) ऐसी देखभाल की ज़रूरत भी नहीं है। अगर उसकी ऐसी देखभाल की जाए तो वह पागल ही हो जाए। ईश्वर बच्चों को उन लोगों से बचाए जिन्हें जीवन में बच्चों की चिन्ता करने के अलावा कोई काम ही नहीं हो। परन्तु इसके अलावा *टाइम* पत्रिका द्वारा की गई माँग कि सत्ता में कमी किए बिना सत्ता के दुरुपयोग से बचाव को बढ़ाना - यह असम्भव है। मात्र एक विरोधाभास है। माता-पिता

द्वारा अपनी सत्ता के दुरुपयोग से समुचित संरक्षण तब तक हो ही नहीं सकता जब तक पीड़ित बच्चे-बच्ची को उससे बच निकलने का अधिकार न दे दिया जाए।

टाइम पत्रिका "माता-पिता की सत्ता के मानसिक लाभ" बताते हुए जिस सत्ता की बात करती है वह सहज या प्राकृतिक सत्ता है ही नहीं। वह तो बाध्य करने, धमकाने, दण्डित और पीड़ित करने वाली शक्ति है। सच्चाई यह है कि बच्चों को माता-पिता या कानून लगातार दण्डित कर सकते हैं और करते भी हैं। यह दण्ड किसी भी कारण से दिया जा सकता है। और उन तमाम कारणों से भी दिया जाता है जिनके चलते गुलामों को सज़ा दी जाती थी। पलटकर जवाब देने के कारण, "असम्मान" जताने के कारण, आज्ञा न मानने पर, बिना अनुमति घूमने निकल जाने पर या घर से भागने पर। संक्षेप में, बच्चे को ऐसा कुछ भी करने पर दण्डित किया जाता है जो यह दर्शाता हो कि वह स्वतंत्र है या उसके भी अधिकार हैं।

हम 27 जून 1973 को *द न्यू यॉर्क टाइम्स* में छपी खबर के कुछ अंशों पर नज़र डालते हैं। उसका शीर्षक था "चाइल्ड अब्यूस हेल्ड ए लीडिंग किलर" और लेखक थे जेन ब्रोडीः

> इस देश के छोटे बच्चों में मृत्यु का एक आम कारण है बच्चों के साथ किया गया दुर्व्यवहार। यह बात चिकित्सकों के एक सम्मेलन में कल रात कही गई।
>
> बाल दुर्व्यवहार की समस्या के राष्ट्रीय विशेषज्ञ डॉ. विन्सेंट जे. फौंटाना ने यह भी बताया कि दुर्व्यवहार के कारण इस वर्ष 50,000 बच्चों की मृत्यु और 3,00,000 बच्चों के स्थाई रूप से क्षतिग्रस्त होने की सम्भावना है...
>
> उन्होंने अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में कहा कि बाल दुर्व्यवहार के व्यापक प्रचलन के बावजूद चिकित्सक इस समस्या के प्रति अपनी आँखें मींच लेते हैं। सरकार भी बचाव कार्यक्रमों को सहयोग नहीं देती और जनता बाल उत्पीड़न की उस व्यापकता से अनभिज्ञ ही है जो अब एक महामारी का रूप लेने लगा है...
>
> डॉ. फौंटाना के अनुसार सार्वजनिक ध्यान को आकर्षित करने वाले प्रत्येक प्रकरण के पीछे एक दर्ज़न ऐसे भी दृष्टान्त होते हैं जिनकी न तो पहचान हो पाती है न कोई शिकायत दर्ज होती है।

> "यह मानना भूल है कि यह बीमारी गरीब, कच्ची बस्तियों तक सीमित है, या ऐसे कृत्य वे लोग करते हैं जो मानसिक रूप से बीमार हैं," डॉ. फौंटाना ने अपने सम्बोधन से पहले आयोजित प्रेस कॉन्फ्रेंस में बताया। "मध्यम वर्ग में बच्चों की मार-पिटाई अक्सर बन्द दरवाज़ों के पीछे होती है। अमूमन इस पर चिकित्सकों का ध्यान नहीं जाता और अगर जाता भी है तो चिकित्सक परिवार की रक्षा करते हुए इसकी रिपोर्ट नहीं करता। और इस प्रक्रिया में वह बच्चे की रक्षा करने में असफल होता है।"...
>
> ब्रुकलीन के डाउनस्टेट मेडिकल सेंटर के बाल मनोचिकित्सक डॉ. आर्थर ग्रीन ने प्रेस कॉन्फ्रेंस में बताया कि बच्चों का उत्पीड़न करने वाली साठ माताओं का एक अध्ययन किया गया। अध्ययन से पता चला कि ये महिलाएँ एकांकी, अपरिपक्व, शक्की व किसी पर भरोसा न करने वाली महिलाएँ थीं। वे स्वयं तमाम समस्याओं से जूझ रही थीं।
>
> परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि "अधिकांश मनोविकृत नहीं थीं। बल्कि उनकी *अपने बच्चे पर मानसिक आश्रितता पाई गई। बच्चों की ज़रूरतों को पूरा करने की बजाए वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा अपने बच्चों से करती थीं। अगर ऐसी माताओं को यह लगे कि बच्चा उन्हें अस्वीकार रहा है या वह उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप काम नहीं करता तो वे उसका उत्पीड़न करती हैं।"* [इटैलिक्स मेरी ओर से विशेष ध्यान के लिए]

स्कूलों की और बच्चों द्वारा स्कूल जाना या न जाना चुनने के अधिकार की चर्चा की ही तरह मैं यहाँ यह बहस नहीं करना चाहता कि बच्चे का सबसे अच्छा संरक्षक कौन है - उसके माता-पिता या उसके संस्थागत या व्यावसायिक संरक्षक। कई बार माता-पिता ही बच्चे का वास्तविक पक्ष लेते हैं। वे शिक्षकों, चिकित्सकों, मनोवैज्ञानिकों या अन्य विशेषज्ञों से उसे बचाते हैं, जो सच में उसे नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। पर अक्सर दूसरे पैर का जूता भी काटता है और सरकारी कर्मचारी विनाशकारी माता-पिता से बच्चे को बचाने की चेष्टा करते हैं। *टाइम* पत्रिका की कहानी स्थिति को स्पष्ट कर देती है। इससे अधिक स्पष्टता भला कैसे सम्भव है? जॉनी लिण्डक्वेस्ट के पिता ने *उसकी* हत्या की; पैम के संस्थागत संरक्षकों ने *उसे* 58 दिनों तक बिस्तर से बाँधे रखा। [ईश्वर ही जानता है कि इसके अलावा उस पर क्या कुछ गुज़रा होगा - सरकार के हाथों में उसका जीवन तो अब शुरू हुआ है। भविष्य उसके लिए क्या लाएगा इसका किसे पता है?]

बात दरअसल यह है कि हम हमेशा-हमेशा के लिए यह तय नहीं कर सकते कि बच्चों के लिए सबसे श्रेष्ठ क्या है - माता-पिता, शिक्षक, सलाहकार, मनोवैज्ञानिक, पारिवारिक अदालतें, न्यायाधीश या कोई दूसरा। *महत्वपूर्ण मसलों में स्वयं बच्चे के अलावा कौन बेहतर जान सकता है?* यह जानने के लिए कि कौन आपका दोस्त है, और कौन दुश्मन, कौन आपको नापसन्द करता है, क्रूरता करता है या आपको पीड़ा देता है, बच्चे का बड़ी उम्र का होना या बहुत चतुर होना ज़रूरी नहीं है। कोई भी पाँच वर्षीय बच्चा एक क्रूर शिक्षक और एक अच्छे शिक्षक के अन्तर को जानता है। वह इतना चतुर भी होता है कि क्रूर शिक्षक से भागने की इच्छा रखे। वयस्क ही इतने बेवकूफ होते हैं कि वे यह सोचने लगें कि क्रूर शिक्षक बच्चे के लिए शायद अच्छा सिद्ध हो। ऐसा नहीं कि वयस्क स्वयं ऐसे लोगों के पास रहना चाहते हैं जो उनकी अवमानना करें या क्रूरता का व्यवहार करें। एक पल भी नहीं। यह हम दूसरों से, खासकर बच्चों और किशोरों से ही कहते हैं कि पीड़ा नुकसान नहीं पहुँचाती, बल्कि फायदेमन्द होती है। परन्तु बच्चे को भी, दूसरों की ही तरह, यह अधिकार होना चाहिए कि वह उस व्यक्ति या वस्तु से दूर हो जाए जो उसे तकलीफ देती है और उस व्यक्ति की ओर बढ़े जो उसे लगता है उसकी मदद करेगा।

कानून से समान सुरक्षा के विषय में कुछ उद्धरण देता हूँ। इनमें से पहला है इनिड नेमी का आलेख जो 3 नवम्बर 1973 को *द न्यू यॉर्क टाइम्स* में छपा थाः

> तलाक के प्रकरणों के अलावा, न्यू यॉर्क के नाबालिग अमूमन कोई भी अदालती कार्यवाही प्रारम्भ नहीं कर सकते जब तक कि कोई वयस्क उनके लिए ऐसा न करे।
>
> ...बाल अधिकारों में दो बड़ी कमियाँ हैं। इनमें से एक है उन्हें किसी भी चरण में मामला दायर करने के अधिकार से वंचित रखना...
>
> श्रीमती उविलर...उन अदालती प्रक्रियाओं से दुखी हैं जिन्हें गैर-अपराधी नाबालिगों (ऐसे व्यक्ति जिन्हें देखरेख की ज़रूरत है) के लिए अपनाया जाता है। "जिस बच्चे ने किसी प्रकार से कानून का उल्लंघन नहीं किया है... जो अड़ियल हो, सुधारातीत हो [मेरी टिप्पणी : मतलब जो यह कहती हो कि उसे लड़कों से बात करने का अधिकार है।] उसे कानूनी प्रक्रिया से बाहर रखना चाहिए। उन्हें मुख्यतः इसलिए अदालत में लाया जाता है क्योंकि माता-पिता परिस्थितियों से अभिभूत हो जाते हैं और सोचते हैं कि उन्हें यहाँ कोई मदद मिल सकेगी। परन्तु इन बच्चों के साथ जो बर्ताव होता है वह उससे भिन्न नहीं जो अपराधियों के साथ किया जाता है।"

> श्रीमती पिपेल तथा डॉ. हॉफमैन द्वारा तैयार टिप्पणी में कहा गया कि मौजूदा बाल-अदालत व्यवस्था के तहत एक बच्चे या किशोर से उसकी आज़ादी, उसी समान कृत्य करने वाले वयस्क की तुलना में, अधिक लम्बे समय के लिए छीन ली जाती है।

द रियल पेपर (बॉस्टन) में चक फ्रेजर ने 24 जनवरी 1972 को छपे अपने लेख "हाफवे टू रिफॉर्म : जैरी मिलर ओपन्ड द डोरस्" में लिखाः

> ...मैसाच्यूसेट्स के कई न्यायाधीश विधान सभा से वह शक्ति पाने की चेष्टा कर रहे हैं जिससे वे किसी बच्चे को "खतरनाक" घोषित कर सकें और महीनों तक बन्दी रख सकें। मैसाच्यूसेट्स की युवा सेवा शाखा के पूर्व अध्यक्ष मिलर ने कहा, "अभी तो वे यह कह रहे हैं कि इस सत्ता का वे बिरले ही उपयोग करेंगे, किन्तु आप उनके पिछले रिकॉर्ड में पाएँगे कि वे यह बात हर उस बच्चे के लिए कहते रहे हैं जो उनके सामने पेश किया गया था।"

हावर्ड जेम्स की पुस्तक *चिल्ड्रन इन ट्रबल* (पॉकेट बुक्स), लैरी कोल की *अवर चिल्ड्रन्स कीपर्स* तथा लुइस फोरे की *नो वन विल लिसन* हमें इस विषय में काफी कुछ बताती हैं। जेम्स लिखते हैं कि बच्चों के "संरक्षण" के लिए बनाए गए कानून और संस्थाओं में बच्चों के साथ कैसा बर्ताव किया जाता हैः

> हज़ारों बच्चे - कुछ तो मात्र सात या आठ साल की उम्र के - कई महीने, यहाँ तक कि वर्ष, ऐसे कृत्यों के लिए सलाखों के पीछे गुज़ारते हैं जिनके लिए किसी वयस्क को घण्टे भर के लिए भी जेल नहीं भेजा जा सकता।
>
> अपराध एवं बाल-अपराध की राष्ट्रीय परिषद का अनुमान है कि "संयुक्त राज्य अमरीका में प्रतिवर्ष एक लाख से भी अधिक सात से सत्रह वर्ष के बीच के बच्चे जेलों में या जेल सरीखे स्थानों में हिरासत में रखे जाते हैं...। इस तथ्य का महत्व केवल इतना नहीं है कि वे इतनी बड़ी संख्या में बन्दी बनाए जाते हैं, या यह कि जिन जेलों में वे रखे जाते हैं वे जेलें फेडरल ब्यूरो ऑफ प्रिज़न्स की निरीक्षण सेवा द्वारा वयस्क अपराधियों के लिए भी अनुपयुक्त करार दी गई हैं, बल्कि यह कि वास्तव में उन्हें ऐसे स्थानों में बन्दी बनाने की ज़रूरत ही नहीं थी।" व्यावसायिक कार्यकर्ताओं द्वारा तैयार किए गए वृत्तान्तों को पढ़ने से और परेशानी में फँसे सैकड़ों बच्चों के साथ साक्षात्कार करने के बाद मैंने पाया कि प्रत्येक बाल अपराधी का घर ही अनुपयुक्त था। कई बार माता-पिता की नशे

> की आदत जैसी गम्भीर समस्याएँ होती हैं। कई बार बच्चे की अवमानना होती है या उसे लगता है कि उसे अस्वीकार किया जा रहा है। मुझे ऐसे सैकड़ों बच्चे मिले हैं। कभी-कभी उनकी इतनी बुरी तरह और इतनी बार पिटाई हुई है कि *उन्हें लगता है कि कोई उनसे प्यार नहीं करता।* [इटैलिक्स मेरी ओर से, विशेष ध्यान के लिए]। लड़कियों का उनके पिता द्वारा यौन शोषण के दृष्टान्त भी मिले हैं।

"इतनी बुरी तरह और इतनी बार पिटाई हुई है कि उन्हें लगता है कि कोई उनसे प्यार नहीं करता" कटाक्ष के शब्द नहीं हैं। श्री जेम्स ये शब्द चेहरे पर कोई भाव लाए बिना कह रहे हैं। सम्भव है कि बच्चों ने उनसे बात करते समय ठीक इन्हीं शब्दों का उपयोग भी किया हो। ऐसे शब्द और ऐसी सोच भयावह है। एक मर्तबा ही जमकर की गई धुनाई मुझे यह विश्वास दिला दे कि पीटने वाला मुझे प्यार नहीं करता। अगर "प्यार" की कीमत पिटाई द्वारा चुकाई जानी है तो मैं ऐसे प्यार के बिना ही काम चला सकता हूँ।

> अटलांटा में एक प्रखर सोलह वर्षीय लड़के मिलर्ड को उसकी दत्तक माता से हुई बहसों के कारण लोक कल्याण विभाग ने कई उद्दण्ड छोकरों के साथ जेल में ठूँस दिया था। यद्यपि उसने कोई कानून नहीं तोड़ा था। उस महिला ने तय कर लिया कि वह एक बगावत करने वाले किशोर से निपट नहीं सकती। [हावर्ड जेम्स, पृष्ठ 31]

> जेलों में छोटे लड़कों पर वयस्क बन्दियों द्वारा समलैंगिक हमले आम हैं। अन्य शहरों के अलावा शिकागो व फिलेडल्फिया में भी ऐसा अक्सर होता है। [हावर्ड जेम्स, पृष्ठ 33]

इन संस्थाओं में बच्चों को मारने या चाबुकों से पीटने का काफी प्रचलन है। संस्थाओं के प्रभारियों ने जेम्स को बताया कि जब कभी पिटाई रोकी जाती है तो लड़कों के भागने की दर बढ़ जाती है। ऐसे में जनता तब तक शोर मचाती है जब तक पिटाई वापस न शुरू हो जाए।

> [जिम] को पहले 12 वर्ष की आयु में मारिआना [फ्लौरिडा बालक विद्यालय] भेजा गया। यहाँ उसे दो साल और दो माह तक रोके रखा गया। इस दौरान दरबानों ने उसकी पिटाई की और दो बार उस पर कोड़े बरसाए। एक बार तो इसलिए क्योंकि उसने *अपने से बड़े एक लड़के से झगड़ा किया था जो उससे ज़बरदस्ती समलैंगिक सम्भोग करना चाहता था।* [इटैलिक्स मेरी ओर से, विशेष ध्यान के लिए]

श्री जेम्स के अनुसार, मारिआना कस्बे के बाशिन्दों ने कोड़े लगाने की परिपाटी फिर से शुरू करने की माँग की थी। कई बार तो यह लगता है कि अमरीकियों की सज़ा की भूख क्रूर व्यावसायिक "खेलों" या मौजूदा फिल्मों, किताबों और पत्रिकाओं भर से सन्तुष्ट नहीं होती। सकारात्मक सन्तोष पाने के लिए उन्हें यह महसूस करने की आवश्यकता होती है कि जेलों में ठूँसे गए लोग पीड़ा भोग रहे हैं। इस सबसे उन्हें वितृष्णा भी नहीं होती। क्या हम अपने बच्चों का उपयोग प्रेम की वस्तुओं की तरह करने के बदले घृणा के पात्रों के रूप में भी कर रहे हैं, ताकि दुनिया पर हमारी नाराज़गी शान्त हो जाए?

बच्चों के साथ हमारे दुर्व्यवहार की अक्सर भारी कीमत चुकानी पड़ती है। कोई अन्दाज़ भी नहीं लगा सकता कि एक बच्चे को किसी ऐसी संस्था में रखने का क्या खर्च आता होगा जहाँ शिक्षण या मनोरंजन की कोई सुविधा न हो, वयस्कों से कोई सम्पर्क न हो, जहाँ उसे समुचित भोजन न मिलता हो, जहाँ वह एक बड़े कमरे की खाट पर या बरामदे में सोने पर मजबूर हो, जहाँ गार्ड ही उससे दुर्व्यवहार करते हों, पीटते हों या उस पर हमले करते हों। हाल के वर्षों में छपी खबरों के अनुसार मैसाच्यूसेट्स राज्य में इस "उपचार" की लागत 10 हज़ार से 14 हज़ार डॉलर प्रति वर्ष तक होती है! संस्थाओं के हिसाब से इस राशि में कुछ अन्तर होता है। जैसा एक लेख के लेखक ने संकेत दिया था। इस राशि से बच्चे को राज्य के सबसे महँगे आवासीय स्कूल या कॉलेज में पढ़ने भी भेजा जा सकता है और वह अपनी छुट्टियाँ बॉस्टन के बेहतरीन होटलों या रिज़ॉर्टों में बिता सकता है। हम कहते हैं कि बच्चे निर्णय नहीं ले सकते, अपने विवेक का उपयोग नहीं कर सकते। परन्तु सच्चाई यह है कि कोई भी आठ वर्षीय बच्चा जिसके पास साल भर के लिए बारह हज़ार डॉलर हों, अपने लिए पुलिस और संरक्षकों की सरकारी फौज से बेहतर व्यवस्था कर सकता है। *टाइम* पत्रिका ने जॉनी लिंडक्विस्ट की कहानी के प्रारम्भ में छापा था, "किन्तु छोटे बच्चों को यूँ छुट्टा भी नहीं छोड़ा जा सकता"। इस पर मेरा प्रश्न है, और मैं पूरी गम्भीरता से जानना चाहता हूँ, कि ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता? अगर उन्हें कोई वास्तव में प्यार नहीं करता, चाहता ही नहीं, और अगर उनके पास कोई ऐसा स्थान भी नहीं है जहाँ वे जा सकें, तो हम उन्हें खुद जीने लायक पैसे क्यों नहीं उपलब्ध करवा देते? यह राशि उसकी "देखभाल" में खर्ची जाने वाली राशि का एक हिस्सा मात्र होगी। वे अपनी देखभाल उस इतालवी बच्चे की तरह बेहतर कर सकेंगे जो युद्ध के दौरान बिना एक पाई के जी रहा था। उसकी स्थिति जॉनी लिंडक्विस्ट से तो बेहतर थी, या विलोब्रुक के उस बच्चे से जिसे अन्धा कर दिया गया था, या...पर ऐसे बच्चों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबका उल्लेख करना मुश्किल है।

मुझे लगता है कि मुझे वृत्त-चित्र निर्माता फ्रेंड वाइज़मैन (*टिटिकट फॉलीज़, हाई स्कूल, लॉ एण्ड ऑर्डर, बेसिक ट्रेनिंग, हॉस्पिटल* आदि के निर्माता) ने यह कहानी सुनाई थी। वे अपने वृत्त-चित्र *जुवेनाइल कोर्ट* के लिए विषय तलाश रहे थे और "बाल न्याय व्यवस्था" के विभिन्न पक्षों पर शोध कर रहे थे। इस दौरान उन्होंने खुद को एक अदालत में पाया जहाँ तीन-चार वयस्क एक 15 वर्षीय लड़के के प्रकरण पर चर्चा कर रहे थे। सभी विशेषज्ञ - शायद एक न्यायाधीश, एक वकील, एक मनोवैज्ञानिक आदि - इस चर्चा में व्यस्त थे कि उसके साथ क्या किया जाए। वह किशोर कक्ष के दूसरे कोने में बैठा था। वह बीच-बीच में अपनी आवाज़ उठाकर कहता था, "मुझे सिर्फ एक न्यायपूर्ण मुकदमा चाहिए, जैसा दूसरों के साथ चलाया जाता है। बस एक न्यायपूर्ण मुकदमा।" उसे अपनी ऊर्जा खर्चनी ही नहीं चाहिए थी। उसे एक न्यायोचित मुकदमा *मिलने ही* नहीं वाला था। वास्तव में तो *कोई* मुकदमा चलाया ही नहीं जाने वाला था।

पर ठीक यही मैं बच्चों और किशोरों के लिए चाहता हूँ - न्यायपूर्ण मुकदमे का अधिकार। उचित प्रक्रिया का संरक्षण और मुकदमा दायर करने का अधिकार। यह सच है कि गरीबों और अल्पसंख्यकों को भी न्याय नहीं मिलता। ऐसे तमाम वयस्क महीनों या सालों तक मुकदमा प्रारम्भ होने के इन्तज़ार में जेलों में सड़ते हैं। इसका कारण है ज़मानत की राशि का जुगाड़ न कर पाना। और जो ज़मानत की राशि जुटा भी लेते हैं वे अपने बचाव के लिए आवश्यक राशि नहीं जुटा पाते। मैं एक व्यक्ति को जानता हूँ जिसे अन्यायपूर्ण तरीके से स्कूल के प्रधानाचार्य पद की नौकरी से हटा दिया गया था। सिर्फ इसलिए क्योंकि छात्रों के साथ उसका व्यवहार दोस्ताना था। उन्होंने मामला अदालत में ले जाने का निर्णय किया। जब मैं उनसे मिला और उनके मुकदमे के लिए पैसा उगाहने के लिए एक बैठक में बोलने गया, तब तक वे पाँच हज़ार डॉलर से अधिक खर्च कर चुके थे। पर मामला अदालत में विचार के लिए पहुँचा तक नहीं था। कमोबेश यह कहा जा सकता है कि कानून अमीरों का है और न्याय उनके लिए है जो उसकी कीमत चुका सकते हैं। इस सबके बावजूद गरीब वयस्कों को बच्चों और किशोरों से बेहतर मौका मिल पाता है।

मैं बच्चों के लिए जो चाहता हूँ वह वयस्कों को प्रदत्त कानून के सम्पूर्ण संरक्षण से अधिक है। मैं चाहता हूँ कि बच्चों को यह निर्णय लेने का अधिकार भी दिया जाए कि वे अब बच्चे *नहीं* बने रहना चाहते। उन्हें किसी प्रकार के अभिभावकों पर आश्रित नहीं बने रहने का निर्णय लेने का अधिकार हो। उन्हें स्वतंत्र तथा वित्तीय व कानूनी रूप से ज़िम्मेदार नागरिक के रूप में रहने का अधिकार हो। मैं चाहता हूँ कि उन्हें हर प्रकार से बाल्यावस्था से बच पाने का अधिकार हो।

किसी बच्चे या किशोर को सम्पूर्ण कानूनी और वित्तीय ज़िम्मेदारी देने का क्या अर्थ होगा? ठीक वही जो आज किसी वयस्क के सन्दर्भ में होता है। इसका मतलब होगा कि व्यक्ति अपने सभी कृत्यों के लिए अन्य नागरिकों और कानून के प्रति जवाबदेह हो। इसका मतलब होगा कि वह दूसरों पर मुकदमा दायर कर सकता है और दूसरे उस पर। इसका मतलब होगा कि वह सम्पत्ति का मालिक हो सकता है, सम्पत्ति खरीद या बेच सकता है, अनुबन्ध कर सकता है, साख बना सकता है, ऋण ले सकता है, और तमाम ऐसे काम कर सकता है जो आज वयस्क कानूनी रूप से कर सकते हैं।

आदर्श स्थिति तो यही होगी कि बच्चा या किशोर किसी भी उम्र में यह चुन सके। शेष अधिकारों की ही तरह सम्भावना यही है कि अगर नागरिकता पाने की राह में खड़ी बाधाएँ नीची की जाएँगी तो ऐसा क्रमशः ही होगा। एक बार में साल या दो साल।

लोग पूछते हैं, "अगर कोई बच्चा सम्पूर्ण वित्तीय ज़िम्मेदारी लेने के बाद कर्ज़दार बन जाए और कर्ज़ चुका न सके तो क्या होगा?" जवाब है, वही जो दूसरों के साथ होता है। अगर वह ऋणदाताओं को रुकने का भरोसा न दिला सके, बाद में चुकारा करने का विश्वास न दिला सके तो वे या तो उसे अदालत में घसीटेंगे या फिर वह स्वयं को दिवालिया करार देगा।

इस स्थिति में उसकी सारी सम्पत्ति - उसकी मोटरसाइकिल, स्की, उसके तम्बू व दूसरे उपकरण, गाड़ी, साइकिल, स्टीरिओ सेट, जो कुछ उसके पास है - ज़ब्त हो जाएगी; जितनी राशि उन्हें बेचने से मिल सकती है इकट्ठी कर उसके कर्ज़दाताओं को दे दी जाएगी।

क्योंकि कोई बच्चा या किशोर नौकरीपेशा होने या सुनिश्चित आय पाने के बावजूद उतना पैसा नहीं कमा सकेगा जितना वयस्क कमाते हैं - बशर्ते वह कोई खेल या मनोरंजन के क्षेत्र का सितारा न हो - लोग उसे वैसे भी ज़्यादा राशि उधार या कर्ज़ पर नहीं देंगे। कानून के यह कहने का कि मैं कर्ज़ *ले सकता* हूँ मतलब यह तो नहीं होता कि लोगों को मुझे कर्ज़ देना ही होगा। मुझे फिर भी कर्ज़दाताओं को यह विश्वास तो दिलाना ही पड़ता है कि उन्हें पैसा वापस मिलेगा। ज़ाहिर है ऐसे में बच्चे की साख कोई खास मज़बूत नहीं होगी क्योंकि कमा पाने की उसकी ताकत भी सीमित ही होगी।

स्वतंत्र नागरिक के रूप में जीना तय करने वाला बच्चा क्या अपने माता-पिता के साथ रह सकेगा? हाँ, पर केवल तब ही जब वे भी इसके लिए तैयार हों। उसे उनके साथ ठीक उसी प्रकार मोलतोल करना पड़ेगा जैसा किसी वयस्क मेहमान को करना पड़ता है। अगर उन्हें उसका साथ अच्छा लगे और वे उसे

घर में मेहमान की तरह रखना चाहें तो वे कह सकते हैं, स्वागत है। इसे अपना ही घर समझो। पर जब तक वह उन पर फिर से आश्रित न होना चाहे, उसके माता-पिता पर बच्चे को रखने का *दायित्व* नहीं होगा।

यह भी सही लगता है कि व्यक्ति को स्वतंत्र होने के विषय में जल्दी से अपना मन बदलने की छूट न हो। अव्वल तो इसके लिए किसी तरह के लेखे-जोखे की ज़रूरत होगी। आज किसी व्यक्ति को वयस्क नागरिक बनने के लिए केवल आयु का प्रमाण प्रस्तुत करना पड़ता है। किन्तु अगर कोई बारह साल का बच्चा स्वतंत्र बनना चाहता है तो उसे इसके लिए किसी प्रकार के रिकॉर्ड या पहचान-पत्र की आवश्यकता होगी। जैसे पासपोर्ट, या सोश्यल सिक्योरिटी कार्ड, या क्रेडिट कार्ड। उसे पहले इसका आवेदन करना होगा, शायद कुछ स्थानीय या अन्य सरकारी अधिकारियों के सामने कुछ प्रपत्र आदि भरने होंगे। इसी प्रकार जब वह अपनी स्वतंत्रता वापस लौटाकर फिर से आश्रित बनना चाहे तो उसे अधिकारियों को इसकी सूचना देनी होगी। इसके लिए भी किसी प्रक्रिया से गुज़रना होगा। बच्चों या किशोरों द्वारा नागरिकता हासिल करना कोई हँसी-मज़ाक का हल्का-फुल्का कृत्य नहीं हो सकता। वैसे ही तमाम लोग इसे बड़ा हल्का मानते हैं।

क्या नाबालिगों को नागरिक बनने के लिए कुछ योग्यताएँ पूरी करनी होंगी? अब क्योंकि अधिकतर लोगों को एक तयशुदा उम्र में पहुँचने के साथ ही नागरिकता तथा सम्पूर्ण वित्तीय और कानूनी ज़िम्मेदारी मिल जाती है, दूसरों के लिए कुछ योग्यताएँ तय करना अन्याय ही होगा। क्योंकि वे उम्र में छोटे हैं सिर्फ इसलिए कुछ शर्तें रखना उचित नहीं लगता। फिर भी एक खास उम्र से कम आयु वाले लोगों से यह पूछना शायद ठीक ही हो कि एक नागरिक के रूप में वे अपनी जिन ज़िम्मेदारियों और दायित्वों को अब स्वीकारने जा रहे हैं क्या उन्हें वे कुछ-कुछ समझते हैं? गाड़ी चलाना शुरू करने से पहले एक परीक्षा देनी होती है। किसी दूसरे देश में रहने वाले लोगों को भी नागरिकता पाने के लिए कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं। अतः सम्भव है कि जो बच्चे या किशोर नागरिक बनना चाहते हों उनसे कुछ बैठकों या चर्चाओं में भाग लेने या किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने को कहा जाए। यह खतरा भी हमेशा रहेगा कि परीक्षा पूरी ईमानदारी से न ली जाए। हम यही उम्मीद कर सकते हैं कि जो देश इतना प्रबुद्ध हो जाएगा कि वह अपने बच्चों और किशोरों को नागरिकता देने को प्रस्तुत होगा वह इतना ईमानदार भी होगा कि उन्हें इससे वंचित रखने के लिए बेईमानी नहीं करेगा।

मैं जानता हूँ कि मेरे द्वारा अभी कही गई बात मतदान के सम्बन्ध में कही बात से अलग है। पर मुझे लगता है कि नागरिकता और सम्पूर्ण वित्तीय व कानूनी

ज़िम्मेदारी का बोझ मतदान के लिए पंजीकृत होने से कहीं अधिक गम्भीर कृत्य है। क्योंकि मत नहीं डालने का निर्णय तो व्यक्ति कर सकता है, या मत किसे दें के बारे में मतदान केन्द्र में लिए गए निर्णय पर पछतावा ही क्यों न हो, वह किसी को भी मत दे सकता है। पर इसके लिए बाद में उसे न तो वित्तीय दण्ड देना पड़ता है और न ही इसकी सज़ा या जेल भुगतनी पड़ती है। इसी कारण से शायद यही उचित होगा कि नागरिक बनना चाहने वाले एक तयशुदा आयु से कम उम्र के लोग यह दर्शा दें कि वे इसका अर्थ कुछ हद तक तो समझते हैं।

24. अपने शिक्षण को नियंत्रित करने का अधिकार

बच्चों तथा किशोरों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने सीखने को खुद दिशा दे सकें। यानी यह तय कर सकें कि उन्हें क्या सीखना है, कब, कहाँ, कैसे, कितना, कितनी जल्दी और किस तरह की मदद से सीखना है। और भी स्पष्ट करते हुए कहूँ तो मैं चाहता हूँ कि उन्हें यह अधिकार हो कि वे स्वयं तय कर सकें कि वे सीखना चाहते हैं या नहीं और अगर सीखना चाहते हैं तो कब, कितना और किससे। यह तय करने का भी अधिकार हो कि क्या वे स्कूल में सीखना चाहते हैं, और अगर हाँ तो किस स्कूल में और कितने समय के लिए।

जीवन के अधिकार के सिवा कोई भी मानव अधिकार इतना मूलभूत नहीं है जितना सीखने का अधिकार। व्यक्ति के सीखने की आज़ादी वैचारिक आज़ादी का ही हिस्सा है, जो बोलने की स्वतंत्रता से भी अधिक मौलिक है। जब हम किसी से यह अधिकार छीन लेते हैं कि उसकी जिज्ञासा किस बारे में हो, तो हम उसके सोचने के अधिकार को ही नष्ट कर देते हैं। अर्थात् तब हम दरअसल उससे कह रहे होते हैं, तुम्हें उस बारे में नहीं सोचना है जिसमें *तुम्हारी* रुचि है और जिससे तुम्हारा सरोकार है, बल्कि उस विषय में सोचना है जिसमें *हमारी* रुचि है और जिससे हमारा सरोकार है।

हम इसे जिज्ञासा का अधिकार कह सकते हैं। उन सवालों को पूछने का अधिकार जो हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण हैं। वयस्कों के रूप में हम यह मानकर चलते हैं कि हमें अधिकार है कि हम ही तय करें कि हमें क्या रोचक लगता है, हम किसे देखेंगे, क्या छोड़ देंगे। हम इस अधिकार को प्रदत्त मानते हैं; हम यह कल्पना तक नहीं कर सकते कि यह अधिकार हमसे छिन सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ यह अधिकार किसी नियम-कानून में दर्ज तक नहीं है। हमारे संविधान के रचयिताओं ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सोचा था कि बोलने की स्वतंत्रता और अपने विचारों को दूर-दूर तक प्रचारित करने का अधिकार सुनिश्चित करना काफी है। उन्हें यह सूझा तक नहीं कि सबसे तानाशाह सरकारें भी लोगों के दिमाग को, वे क्या सोचते और जानते हैं को नियंत्रित करना चाहेंगी। यह विचार तो बाद में अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा के जामे में छिपकर आया।

अपने सीखने को स्वयं नियंत्रित करने का अधिकार अब खतरे में है। एक निरंकुशतावादी विचार को अपने कानूनों में शामिल करने का कदम नीचे जाने वाले एक खतरनाक रास्ते पर उठा कदम था। वह विचार यह था कि सभी बच्चे या किशोर क्या सीखेंगे इसे कोई दूसरा व्यक्ति तय कर सकता है या उसे यह तय करना चाहिए। इसके भी परे जाकर, बच्चों और किशोरों को सीखने के लिए बाध्य करने के लिए जो कुछ भी ज़रूरी लगे (इसमें अब नशीली दवाएँ भी शामिल हैं) उसे भी किया जा सकता है। यह कानूनी ज़रूरत कि बच्चा प्रतिदिन छः घण्टों के लिए, साल में 180 दिन, लगभग दस सालों तक स्कूल जाए - चाहे वह वहाँ कुछ सीखे या नहीं सीखे, चाहे सिखाई जाने वाली चीज़ों को वह पहले से जानता ही क्यों न हो, या कहीं और अधिक गति से और बेहतर ही क्यों न सीखता हो - नागरिक स्वतंत्रता का ऐसा गम्भीर उल्लंघन है जिसे अधिकांश वयस्क नहीं स्वीकारेंगे। इसका विरोध करने वाले बच्चे को अपराधी करार दिया जाता है। इस ज़रूरत के साथ हमने एक उद्योग की रचना कर डाली है। ऐसे लोगों की एक फौज बना डाली है जिनका काम बच्चों और किशोरों को यह बताना है कि उन्हें क्या-क्या सीखना है और फिर उन्हें वह सब सीखने के लिए बाध्य करना है। ऐसे लोगों में से कुछ दूसरों पर अपनी सत्ता बढ़ाने के लिए और उनके लिए और भी अधिक "मददगार" बनने के लिए या इसलिए कि उद्योग पर्याप्त तेज़ी से नहीं बढ़ रहा, उसमें उन तमाम लोगों के लिए स्थान नहीं बन पा रहा जो उसमें घुसना चाहते हैं, अब कुछ और भी कहने लगे हैं। वे कहते हैं कि "अगर यह बच्चों के लिए अच्छा है कि हम ही उनके लिए तय करें कि उन्हें क्या सीखना चाहिए और उन्हें वह सब सीखने पर बाध्य करें तो यह बात शेष लोगों के लिए भी क्यों उचित नहीं है? अगर अनिवार्य शिक्षा अच्छी चीज़ है, तो उसमें अति हो ही कहाँ सकती है? हम किसी उम्र के व्यक्ति को यह निर्णय लेने की अनुमति ही क्यों दें कि वह काफी सीख चुका है? बड़ों या छोटों को यह अनुमति क्यों दें कि वह वह सब न जाने जो हम जानते हैं? खासकर तब जब उनका अज्ञान हमारे लिए भी बुरे परिणाम ला सकता है? हम उन्हें वह सब जानने पर *मजबूर* क्यों न करें जो उन्हें जानना *चाहिए*?"

वे अब कह रहे हैं कि शिक्षा *गर्भ से कब्र तक* (वूम्ब टू टूम्ब स्कूलिंग) होनी चाहिए। एक व्यक्ति ने इसे एक राष्ट्रीय टीवी शो में कहा था। अगर बच्चों के लिए कुछ घण्टों का गृहकार्य अच्छा है तो हम सबके लिए भी क्या यह अच्छा न होगा? और तो और यह हमें टीवी और ऐसे ही दूसरे घटिया कामों से दूर भी रखेगा। विशेषज्ञों का कोई दल कहीं बैठकर बड़ी खुशी से यह तय करेगा कि हमें क्या-क्या जानना-सीखना चाहिए। वह बीच-बीच में हम पर नज़र भी

रखेगा कि हम वह सब जान-सीख रहे हैं या नहीं, और अगर हम नहीं सीखते तो उसके लिए समुचित दण्ड भी तय करेगा।

मैं यह पूरी गम्भीरता से कह रहा हूँ कि अगर हम इसे रोकने के लिए उचित कदम नहीं उठाते तो यही स्थिति आएगी। जिस अधिकार की माँग मैं बच्चों और किशोरों के लिए कर रहा हूँ वही अधिकार मैं हम सबके लिए भी बचाए रखना चाहता हूँ। *वह अधिकार यह तय करने का है कि हमारे दिमाग में क्या जाए।* यह अधिकार इस निर्णय के अधिकार से कहीं अधिक है कि हमें स्कूल जाना है या नहीं, कब जाना है, कितने समय के लिए जाना है, या किस स्कूल में जाना है। यह अधिकार महत्वपूर्ण है। पर यह एक अधिक व्यापक, एक अधिक मूलभूत अधिकार का हिस्सा है। इसे मैं शिक्षण का अधिकार (राइट टू बीइंग एज्यूकेटेड), अर्थात् वह सीखने पर बाध्य होना जो कोई दूसरा आपके लिए उचित बताए, के विपरीत सीखने का अधिकार (राइट टू लर्न) कह सकता हूँ। मैं अनिवार्य रूप से स्कूल भेजे जाने (कम्पलसरी स्कूलिंग) के विरुद्ध नहीं हूँ, मैं अनिवार्य शिक्षा (कम्पल्सरी एज्यूकेशन) को खत्म करना चाहता हूँ।

यह तथ्य कई लोगों को भयभीत और क्रोधित करता है कि बच्चे स्वयं अपने सीखने को नियंत्रित कर सकेंगे और यह खुद तय कर सकेंगे कि कब, कितने समय और किस स्कूल में जाएँ। वे मुझसे पूछते हैं कि क्या आप यह कह रहें है कि अगर माता-पिता बच्चे को किसी एक स्कूल में भेजना चाहते हैं और बच्चा किसी दूसरे स्कूल में जाना चाहता है तो बच्चे को इस विषय में निर्णय लेने का अधिकार होगा? जी हॉ, ठीक यही मैं कहता हूँ। कुछ लोग यह भी पूछते हैं कि अगर स्कूल भेजना अनिवार्य नहीं होता तो क्या कई माता-पिता अपने बच्चों को स्कूलों से निकालकर उनके श्रम का किसी न किसी रूप में उपयोग नहीं करेंगे? ऐसे प्रश्न दम्भी होने के साथ-साथ पाखण्ड भरे होते हैं। प्रश्नकर्ता स्पष्ट शब्दों में कहे बिना यह मानता है, या संकेत करता है, कि ऐसे खराब माता-पिता दरअसल स्वयं उससे गरीब और कम शिक्षित हैं। साथ ही, यद्यपि वह बच्चों के पढ़ने-लिखने और स्कूल जाने के अधिकार की हिमायत करता प्रतीत होता है, वह दरअसल सरकार द्वारा चाहे-अनचाहे उन्हें बाध्य करने के अधिकार का पक्ष ले रहा होता है। संक्षेप में, वह बस इतना ही चाहता है कि बच्चे स्कूलों में होने चाहिए। इस मामले में उनको कोई विकल्प दिया ही नहीं जाना चाहिए।

स्कूल जाना है या नहीं जाना है, यह चुनने के अधिकार की बात करना यह कहना नहीं है कि माता-पिता के विचारों या इच्छाओं का कोई वज़न ही नहीं होगा। जब तक बच्चा माता-पिता से नाराज़ ही न हो गया हो, उनका विद्रोह

न करने लगा हो, उसे इस बात की चिन्ता रहती है कि माँ-बाप क्या सोचते हैं, क्या चाहते हैं। ज़्यादातर समय वह उन्हें नाराज़, चिन्तित या नाउम्मीद नहीं करना चाहता। अभी भी जिन परिवारों में माता-पिता यह मानते हैं कि शिक्षण को लेकर चयन के कुछ अधिकार बच्चों को भी हैं, वहाँ स्कूलों को लेकर खूब बहस और मोल-तोल होता है। ऐसे माता-पिता अपने छोटे बच्चों से भी अक्सर पूछते हैं कि वह नर्सरी में जाना चाहेगा या किंडरगार्टन में। या वे उसे कुछ समय के लिए स्कूल में ले जाते हैं और उसका अनुभव लेने देते हैं। या कई स्कूलों का विकल्प सामने हो तो उन सभी को दिखाते हैं ताकि वह सबसे अच्छे को चुन सके। बाद में भी उन्हें यह चिन्ता होती है कि बच्चे को स्कूल अच्छा लग रहा है या नहीं। अगर उसे स्कूल नापसन्द हो तो इस बारे में वे कुछ करने की कोशिश भी करते हैं। उसे वहाँ से निकालते हैं और ऐसा स्कूल तलाशते हैं जो उसे पसन्द आए।

मैं कई ऐसे माता-पिता को जानता हूँ जिनका सालों-साल तक अपने बच्चों से यह स्थाई समझौता था, "जिस किसी दिन तुम्हें स्कूल जाने का ख्याल ही बुरा लगे, तबियत ठीक न हो, या तुम्हें यह डर हो कि कुछ हो जाएगा, अपना कुछ काम हो जो तुम करना चाहते हो, तो उस दिन स्कूल जाने की ज़रूरत नहीं है।" ज़ाहिर है कि सारे स्कूल अपने विशेषज्ञों की मदद से इस नज़रिए का पुरज़ोर विरोध करते हैं - बच्चे की ज़िद के सामने मत झुको, उसे स्कूल ज़रूर भेजो, उसे कितना कुछ सीखना है। कुछ माता-पिता ऐसे हैं जो जब उनकी योजना बनती है कि वे रोचक यात्रा कर सकें तो वे अपने बच्चों को भी साथ ले जाते हैं। वे स्कूल से अनुमति भी नहीं लेते। अगर बच्चा साथ नहीं जाना चाहता है, स्कूल में ही रहना चाहता है, तो वे इसकी व्यवस्था भी करते हैं। कुछ माता-पिता, जब उनके बच्चे स्कूल में भयभीत हों, दुखी हों या पीड़ित हों, तो उन्हें वहाँ से निकाल लेते हैं। हैल बैनेट अपनी बेहतरीन किताब *नो मोर पब्लिक स्कूल* में इसके कई उपाय बताते हैं।

मेरी एक मित्र ने बताया था कि जब उसका बेटा तीसरी कक्षा में था तो उसकी शिक्षिका बड़ी खराब थीं। वे उसे डराती-धमकातीं, उसका अपमान करतीं, कटाक्ष करतीं, क्रूरता करतीं। कई बच्चों ने अपना सेक्शन बदल डाला। पर मेरी मित्र का बेटा बड़ा कड़ा था। वह उद्दण्ड और हठीला था, सो वहीं जमा रहा। एक दिन (इस घटना का माता-पिता को दो साल बाद पता चला) जब वह शिक्षिका के घटियापन से आजिज़ आ गया, वह उठा और बिना एक शब्द कहे कक्षा से निकला और घर लौट आया। उसकी मज़बूती और लचीलेपन के बावजूद यह अनुभव उसके लिए कड़वा था। वह दब्बू बनने लगा, झगड़ालू बना। उसका बहिर्मुखी स्वभाव और आत्मविश्वास घट गया। उसकी सामान्य

खुशमिज़ाजी खत्म हो गई। उसका सुलेख तक गड़बड़ाने लगा। उस वर्ष बसन्त में स्थिति पिछली सर्दियों से भी खराब हो चली। बसन्त की एक सुबह वह नाश्ता कर रहा था। कुछ समय बाद उसने नाश्ता करना बन्द कर दिया और चुपचाप बैठकर अपने सामने खड़े दिन पर सोचने लगा। उसकी आँखें भर आईं और दो मोटी-मोटी बून्दें गालों पर लुढ़क पड़ीं। अमूमन स्वयं को बच्चों के स्कूली जीवन से दूर रखने वाली उसकी माँ ने यह देखा और वे बात समझ गईं। "सुनो" वे बोलीं, "हमें यह जारी रखने की ज़रूरत नहीं है। अगर तुम्हारी टीचर तुम्हारे लिए स्कूल को इतना मुश्किल बनाए दे रही हैं, तो मैं बड़ी खुशी-खुशी तुरन्त तुम्हें वहाँ से निकालने को तैयार हूँ। तुम कहो तो हम सब प्रबन्ध कर लेंगे।" वह सकते में आ गया। नाराज़ हुआ, "ना, यह मैं नहीं कर सकता।" "ठीक है" माँ बोली "तुम्हें जो चाहिए हो मुझे बता देना।" बच्चे ने तय किया कि वह स्थिति का सामना करेगा, और ठीक यही उसने किया भी। पर मेरा पक्का विश्वास है कि माँ के पूरे साथ ने और इस भरोसे ने कि अगर न निभे तो वह स्कूल छोड़ सकता है ने ही उसे वह ताकत दी जो उसके लिए उस वक्त बेहद ज़रूरी थी।

बच्चों को अपने सीखने को नियंत्रित तथा निर्देशित करने का तथा स्कूल जाने या न जाने का निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिए, यह कहने का अर्थ यह नहीं कि कानून माता-पिता को इस मामले में अपनी राय, इच्छा या तीव्र आशा अभिव्यक्त करने से भी रोके। इसका मतलब केवल इतना भर है कि अगर माता-पिता की स्वाभाविक सत्ता इतनी मज़बूत न हो कि वे बच्चों से वह सब नहीं करवा सकते जो वे उससे करवाना चाहते हों, तो उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे पुलिस को बुलाकर उनसे यह सब करवाएँ। इसके साथ ही कानून यह भी कह सकता है कि अभिभावक अपने बच्चे पर जो दबाव डालते हैं उसकी भी एक सीमा है। वे बच्चे के विकल्प चुनने के कानूनी अधिकार का हनन नहीं कर सकते।

जब मैं कहता हूँ कि बच्चों को अपने सीखने को निर्देशित करने का अधिकार होना चाहिए तो एक तर्क लोग कई बार देते हैं। ऐसा इतनी बार होता है कि मुझे लगता है कि मुझे उसको सम्बोधित कर लेना चाहिए। तर्क कहता है कि स्कूल वह स्थान है जहाँ बच्चों को कुछ समय के लिए बाहरी दुनिया के कुप्रभावों से बचाया जा सकता है। खासकर दुनिया के लोभ, बेईमानी और बाज़ारीकरण से। यह भी कि स्कूलों में बच्चों को ऐसे लोगों की झलक भी मिलती है जो लोभ और भय के परे बेहतर कारणों से प्रेरित होते हैं। लोग कहते हैं, "समाज तो निकृष्ट है ही, और जल्दी ही बच्चे उसका सामना भी करेंगे, उससे भ्रष्ट होंगे। पर अगर हम बच्चों को, जितनी जल्दी वे चाहें, उस बड़ी

दुनिया में विचरने की छूट दे देंगे तो वे उतनी ही जल्दी उसके प्रलोभनों में फँसेंगे और भ्रष्ट हो जाएँगे।"

लगता है कि लोग स्कूलों को बाहरी दुनिया से बेहतर और अधिक ईमानदार स्थान मानते हैं। हार्वड विश्वविद्यालय का मेरा एक मित्र उन्हें "सद्गुणों का अजायबघर" कहता था। या फिर लोग यह मानते हैं कि बाहर की तुलना में स्कूलों में लोग - बच्चे तथा वयस्क दोनों ही - कुछ उच्चतर तथा बेहतर उद्देश्यों से प्रेरित होकर काम करते हैं। यह धारणा भूल है। कुछ अच्छे स्कूल ज़रूर हैं। पर मोटे तौर पर वे बाहरी दुनिया के विपरीत या उसकी काट नहीं हैं। बाहरी दुनिया में जो जलन, भय, लालच व भयावह स्पर्धा नज़र आती है, स्कूलों में भी ठीक वैसी ही होती है। या वे उससे भी खराब होते हैं। वे बाहरी दुनिया की एक डरावनी, अमूर्त और कुछ सरल बना डाली गई नकल मात्र हैं। स्कूल के बाहर की दुनिया में कम से कम कुछ काम तो ईमानदारी और बढ़िया तरीके से किया जाता है। और यह उस काम के लिए ही किया जाता है, दूसरों से आगे बढ़ जाने के लिए नहीं। वहाँ सभी जगह और हमेशा ही लोगों को दूसरों से स्पर्धा नहीं करनी पड़ती। वहाँ लोग (कम से कम अब तक) अपने जीवन के हर पल दूसरों की मनमानी, अपरिवर्तनीय आज्ञाओं या फैसलों को नहीं झेलते। पर अधिकांश स्कूलों में एक छात्र हर पल दूसरों की आज्ञानुसार काम करता है, उनके विवेक के अधीन होता है। और यह सब ऐसी स्थिति में जहाँ वह दूसरे छात्र-छात्राओं की कीमत पर ही जीत सकता है।

स्कूलों के विषय में यह राय कठोर और कड़ी है। पर मैं फिर से दोहरा रहा हूँ कि दरअसल स्कूल उसमें मौजूद लोगों से कहीं खराब होते हैं। और स्कूलों में काम करने वाले अधिकांश लोग तमाम ऐसे नुकसान पहुँचाने वाले काम करते हैं जिन्हें वे नुकसानदेह मानते तक नहीं। स्कूल की समग्रता उसके हिस्सों के योग से कहीं अधिक खराब है। संयुक्त राज्य अमरीका में (और शायद कहीं भी, किसी भी समय में) किसी भी दूसरे व्यवसाय में ऐसे लोग कम ही होंगे जिन्हें इतने भरोसे से दूसरों को नियंत्रित करने की इतनी ताकत सौंपी जाती हो जितनी स्कूलों में बच्चों के मामले में शिक्षकों को सौंपी जाती है। मुझे स्कूल आधुनिक समाज की सबसे अलोकतांत्रिक, तानाशाह, विनाशकारी और खतरनाक संस्थाएँ लगती हैं। कोई भी दूसरी संस्था इतना अधिक और इतना स्थाई नुकसान इतने सारे लोगों को नहीं पहुँचाती। वे बच्चों की जिज्ञासा, स्वतंत्रता, विश्वास, सम्मान, उनकी अस्मिता और स्वमूल्य को खत्म कर डालते हैं। सबसे दयालु स्कूल तक बच्चों और शिक्षकों के इस ज्ञान से भ्रष्ट हो जाते हैं कि वे दूसरों के फैसले और अनुमोदन के लिए *प्रदर्शन* कर रहे हैं - बच्चे शिक्षकों के लिए, शिक्षक माता-पिता, निरीक्षकों, स्कूल संचालन समिति या राज्य के लिए

प्रदर्शन करते हैं। कोई भी इस भाव से कभी मुक्त नहीं हो पाता कि उसका लगातार मूल्यांकन किया जा रहा है, या जल्दी ही मूल्यांकन किया जाएगा। कक्षा में श्रेष्ठतम अनुभव के बावजूद शिक्षकों को स्वयं से पूछना पड़ता है, "क्या यह करके मैंने ठीक किया? क्या हम सिद्ध कर सकते हैं कि हम सही थे? क्या इससे हम परेशानी में फँसेंगे?"

स्कूलों को जो चीज़ भ्रष्ट करती है और जो उन्हें उनसे जुड़े लोगों से भी अधिक खराब बनाती है, या जो उन्हें इतना खराब बनाती है जितना खराब ये लोग बनना नहीं चाहते - वह है उनकी सत्ता। ठीक उसी तरह जिस तरह छात्रों की सत्ताहीनता उन्हें भ्रष्ट करती है। स्कूल भ्रष्ट इसलिए होते हैं क्योंकि माता-पिता लगातार यह जानना चाहते हैं कि उनका बच्चा ठीक काम कर रहा है या नहीं। अर्थात् वह दूसरे बच्चों से आगे है या नहीं। और माता-पिता की यह माँग भी रहती है कि वह दूसरों से आगे बना रहे। स्कूल बच्चों को बाहरी दुनिया की खराबियों से सुरक्षित नहीं रखते। वे तो खुद ही कम से कम उतने खराब तो होते ही हैं जितनी बाहरी दुनिया है। उनके नियंत्रण के तहत जितने बच्चे होते हैं उन्हें स्कूल इतना नुकसान पहुँचाते हैं कि उससे ही बाहरी दुनिया में खराबी पैदा होती है। आधुनिक दुनिया का रोग कई अर्थों में स्कूल जनित रोग है। स्कूल में ही अधिकांश लोग यह उम्मीद करना, यह स्वीकारना सीखते हैं कि कोई विशेषज्ञ उन्हें हमेशा किसी श्रेणी, किसी स्तर पर रख सकता है। स्कूल में हम पूर्णतः नियंत्रित समाज से परिचित होते हैं, उसका आदी होना और उसमें विश्वास करना सीखते हैं। हम अधिक विज्ञान नहीं सीखते पर "वैज्ञानिक" को पूजना सीखते हैं। और यह विश्वास करना सीखते हैं कि भविष्य में हमें जिस किसी भी चीज़ की ज़रूरत या इच्छा होगी वह किसी दिन हमें उनसे ही मिलेगा। हक्सले ने जिस *ब्रेव न्यू वर्ल्ड* तथा उसके अल्फा, बीटा, डेल्टा तथा इप्सिलॉन की कल्पना की थी स्कूलों में ही हम उसके निकटतम पहुँच सके हैं। और स्कूलों में उसका सोमरस भी है। बच्चों समेत प्रत्येक व्यक्ति को उसे ठुकराने का, "ना!" कहने का अधिकार होना चाहिए।

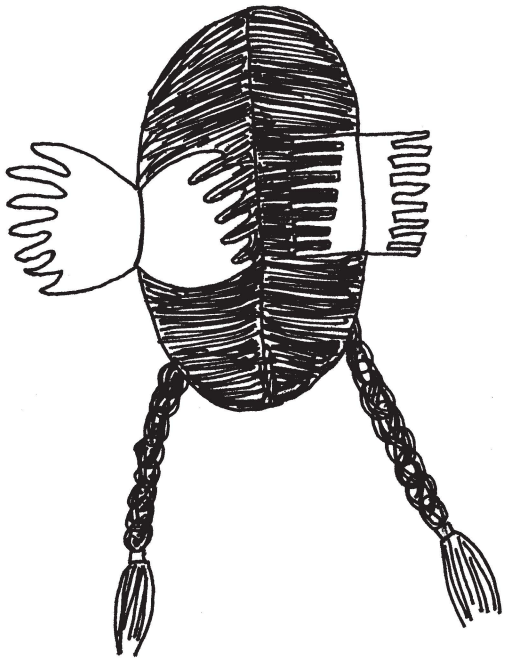

25. नशीली दवाओं के उपयोग का अधिकार

नशीली दवाओं के सन्दर्भ में जो अधिकार वयस्कों के हैं, ठीक वे ही बच्चों को भी दिए जाने चाहिए। अगर कोई बच्चा एक आश्रित के रूप में अपने माता-पिता या अभिभावकों के घर में रहता है तो उसके लिए ज़िम्मेदार वयस्क ही इससे सम्बन्धित नियम बनाएँ। अगर माँ-बाप नहीं चाहते कि बच्चा *घर में* सिगरेट-बीड़ी पिए, तो उन्हें यह कहने का अधिकार है। बल्कि घर के बाहर भी उन्हें धूम्रपान वर्जित करने का अधिकार है। पर यह मामला *उनका* होना चाहिए। कानून या पुलिस को यह नियम लागू करने का अधिकार न हो। माता-पिता और वयस्क जो नशीली दवाओं के बारे में नियम बनाना चाहते हैं उन्हें उन नियमों को लागू करने के लिए अपनी प्राकृतिक सत्ता का ही उपयोग करना होगा।

मेरा मानना है कि नशीली दवाओं का उपयोग करना चाहने वालों को ऐसा करने देना चाहिए। दवाएँ बेचने वालों को कानून बाध्य करे कि वे अपनी दवाओं में मौजूद रसायन की घोषणा करें। बताएँ कि जो रसायन हैं उनके निकट व दूरगामी प्रभाव क्या हो सकते हैं। कम से कम जितना उन्हें पता है उसे सार्वजनिक करें। संक्षेप में, आज तम्बाकू विक्रेता हर पैकेट पर जो "धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो सकता है" की इबारत लिखते हैं, वह नाकाफी है। उन्हें साफ-साफ लिखना चाहिए कि एक अर्से तक तम्बाकू सेवन से हृदयाघात, वातस्फीति (एम्फीसीमा), मुँह, गले और फेफड़ों का कैंसर हो सकता है। शायद यह भी कि निकोटीन केवल धीमा ज़हर ही नहीं है, बल्कि वह लत डालने वाला नशा है, जिसे लेना बन्द करने पर लोगों को भारी तकलीफ होती है। यह बात मारियुआना, कॉफी, शराब, नींद की गोलियों, उत्साह और ऊर्जा पैदा करने वाली गोलियों और ऐसी तमाम अन्य दवाओं के बारे में भी कही जानी चाहिए। जो भी दवा व्यापारिक रूप से बाज़ार में, डॉक्टर की पर्ची के मार्फत या उसके बिना बेची जाए, उसके गुणों, दुष्प्रभावों और खतरों का उल्लेख किसी निर्देशिका में होना चाहिए। यह आम जनता के लिए उपलब्ध भी हो। शायद इसे आवश्यक भी बनाया जा सकता है कि यह निर्देशिका हर दुकान में ग्राहकों को दिखाने के लिए उपलब्ध हो। ज़ाहिर है कि कुछ दवाओं के बारे में मतभेद होगा - जैसा विटामिन "सी" या "ई" आदि को लेकर है। ऐसे

में उसके अच्छे और बुरे प्रभावों की जानकारी को सम्भावित ग्राहकों को देने के उपाय करने चाहिए ताकि वे इस बारे में निर्णय ले सकें। कई लोगों को लगता है कि विटामिन "सी" की वजह से उन्हें बार-बार ज़ुकाम नहीं होता। उन्हें यह नहीं कहा जाना चाहिए कि क्योंकि इससे हरेक को मदद नहीं मिल पाती है, उन्हें भी इसका उपयोग नहीं करना चाहिए।

लोग जो दवाएँ चाहें उनका उपयोग कर पाएँ, ऐसी अनुमति देने के प्रस्ताव का घोर विरोध होगा। विरोधी कहेंगे कि इस छूट से उस "नशीली दवाओं की संस्कृति" को प्रोत्साहन मिलेगा जो उन्हें पसन्द नहीं और जिसे वे नौजवानों, अल्पसंख्यकों और समाज से बाहर जी रहे, जात बाहर कर दिए गए समूहों से जोड़ते हैं। पर उनकी एक बात तो सच्ची है। हमारी संस्कृति सच में "नशीली दवाओं की संस्कृति है।"

पर यह कोई नई बात नहीं है और इसका नौजवानों के साथ कोई गहरा ताल्लुक भी नहीं है। नौजवानों में नशीले पदार्थों का प्रचलन बढ़ने के बहुत पहले से ही हम एक "नशीली दवाओं की संस्कृति" थे। अधिकांश वयस्क तीन मनोसक्रिय (साइकोएक्टिव) दवाओं का नियमित और भारी मात्रा में सेवन करते रहे हैं - कॉफी, तम्बाकू और शराब। ये तीनों ही बड़े सशक्त पदार्थ हैं। सभी की कमोबेश लत भी पड़ती है। और यह केवल मानसिक लत नहीं होती, बल्कि अधिक गम्भीर होती है। सबके दुष्परिणाम भी होते हैं और सभी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं - उन तमाम दवाओं से भी अधिक हानिकारक जो कानूनन वर्जित कर दी गई हैं।

इस सूची में हम एक चौथा रसायन भी जोड़ सकते हैं - चीनी। अगर इसे पूरी तरह लत डालने वाला पदार्थ न भी कहा जाए तो भी इसकी मानसिक लत तो ज़रूर पड़ती है। बच्चों समेत हमारी अधिकांश आबादी घोर रूप से इसकी आदी हो चुकी है। 23 अगस्त 1973 के *न्यू साइंटिस्ट* के अंक में छपे *ड्रग्स एण्ड पब्लिक मॉरेलिटी* नामक आलेख में डॉक्टर हेनरी मिलर की पुस्तक *मेडिसिन एण्ड सोसाइटी* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) के कुछ अंश छपे थे। उसमें यह भी कहा गया थाः

> "ड्रग" शब्द का उपयोग मात्र भावोत्तेजक है और प्रश्न उठाता है। शराब और तम्बाकू वे सबसे महत्वपूर्ण और खतरनाक दवाएँ हैं जिनका उपयोग पश्चिमी दुनिया में किया जाता है। पर नशेड़ियों की समस्या पर चर्चा करने वाले पत्रकार का तात्पर्य इनसे नहीं होता। मनोसक्रिय पदार्थों का उपयोग उतना ही पुराना है जितना मानव का दर्ज किया गया इतिहास। कोई ऐसा समय और स्थान

> नहीं जहाँ उनका उपयोग न किया गया हो, और जब उनमें से कुछ को पूर्णतः स्वीकार्य, तो कुछ के उपयोग को अपराध न माना गया हो।
>
> उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में अफीम का किसी न किसी रूप में उपयोग करने का प्रचलन था। खासकर गरीब और दुखियारी जनता में। आधुनिक औषध साहित्य भी यह बताता है कि वह व्यक्ति के आचरण पर अपने प्रभाव में शराब से बेहतर है। यही नज़रिया भारत के स्थानीय शासकों का भी था जो अपने इलाकों में विदेशी शराब के बदले अफीम के सेवन के पक्षधर थे। ठीक यही बात चरस और गांजा के विषय में भी लागू होती है। भारतीय गांजा आयोग, 1894, की टिप्पणी थी कि इस नशीले पदार्थ के सेवन का गम्भीर दुष्परिणाम नहीं होता। जो होता है वह भी इसके सेवन करने वाले तक सीमित रहता है और समाज पर इसका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता। [पृष्ठ 442]

डॉ. जेम्स विलिस ने अपनी ताज़ा पुस्तक *एडिक्ट्स* में कहा है कि भारत में बहुत ज़्यादा मीठी या चटपटी चीज़ें खाना पसन्द करने वाले लोगों को एक तरह की लत वाला माना जाता है। इस "लत" को वे चटोरापन कहते हैं। ऐसे पुरुषों को चटोरा और महिलाओं को चटोरी। परम्परागत या सम्मानीय लोग मिठाई पसन्दगी की इस लत को नैतिकता के नज़रिए से देखते हैं। अतः विलिस लिखते हैंः

> ...चटोरेपन के शिकार लोगों को समाज निकम्मा और अपरिपक्व मानता है। धारणा यह भी है कि ऐसे लोग यौनिक रूप से उच्छृंखल होते हैं। लेखक ने सूचना देने वाले लोगों से साक्षात्कार किया। इन लोगों ने बेतहाशा मिठाई खाने वाले पड़ौसियों का ऐसे लोगों के रूप में वर्णन किया जो सामाजिक व नैतिक पतन की प्रक्रिया में प्रवेश कर चुके हों और अधिक पैसों के लिए बेईमानी, चोरी या दूसरे तरीके अपनाते हों। अन्य सूचनादाताओं ने बताया कि कई चटोरे अपराध करते हैं और कई बार बन्दी बनाए जाते हैं...। माना जाता है कि उनका *अति आत्मपरितोष* [इटैलिक्स मेरी ओर से विशेष ध्यान के लिए] ही उन्हें व्यक्तिगत, नैतिक और सामाजिक पतन की ओर ले जाता है। [पृष्ठ 40]

मीठे के अलावा कई वयस्क दूसरे तरह की बहुत-सी नशीली दवाओं का भी उपयोग करते हैं। लाखों लोग एस्परीन, शान्त करने की गोलियों, उत्साह

जगाने वाली गोलियों, पतले होने की गोलियों, नींद की गोलियों का निरन्तर उपयोग करते हैं। ब्रूस जैकसन का एक लेख "व्हाइट कॉलर पिल पार्टी" कुछ सालों पहले *एटलाण्टिक* पत्रिका में छपा था। उसमें लिखा था कि शिकागो के एक सम्पन्न इलाके के कई अमीर और सफल लोग ऐसी उत्तेजक और शान्त करने वाली दवाओं को लगातार लेते हैं जो सामान्यतः चिकित्सक की पर्ची होने पर ही प्राप्त हो सकती हैं। इन लोगों द्वारा ऐसी दवाओं का सेवन चिकित्सकों द्वारा बताई गई मात्रा से दस से बीस गुना अधिक होता है। ये तमाम दवाएँ उन्हें उनके चिकित्सक ही लिखकर देते हैं। हाल ही में *न्यू यॉर्क* पत्रिका व अन्य प्रकाशनों में, जिसमें *द न्यू यॉर्क टाइम्स* भी शामिल है, ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं जिनमें "मस्त रहो" (फील गुड) चिकित्सकों का ज़िक्र है, ऐसे चिकित्सक जो मोटे शुल्क के एवज़ में अपने पास आने वाले मरीज़ों को ढेरों विटामिन और एम्फेटामाइन से भरने को तैयार रहते हैं। इसे युवावर्ग "स्पीड" कहता है। कई प्रसिद्ध व सत्तावान लोग कई बार ऐसे इंजेक्शन लगवाते हैं। इसके अलावा विज्ञापनों और चिकित्सकों द्वारा प्रोत्साहित की जा रही यह भावना भी प्रचलित है कि स्वस्थ रहने के लिए एक अदद चिकित्सक की दरकार है जो आपको यह बता देगा कि गड़बड़ क्या है, और उसे ठीक करने के लिए गोली भी लिख देगा।

बाल-नशेड़ियों का अध्ययन करने वालों ने पाया है कि इनमें से कइयों ने दवाओं के साथ अपने पहले प्रयोग माता-पिता की अलमारियों में मिली दवाओं से किए थे। कुछ समय पूर्व मैंने एक उपनगरीय कस्बे के बारे में पढ़ा था जहाँ बच्चों को गोल्डफिश नाम के एक नए खेल का शौक चर्राया था। वे अपनी पार्टी या समूह में अपने माँ-बाप की अलमारी से चुराई मुट्ठी भर दवाओं के साथ पहुँचते। सारी गोलियाँ एक बर्तन में डालकर मिला ली जातीं। इसके बाद हरेक उस पात्र में से बिना देखे पाँच-छह गोलियाँ निकालता और निगल लेता। फिर इसका असर देखा जाता। यह विचार कि दवाओं के सहारे कई तरह की अनूठी और आनन्ददाई भावनाएँ जगती हैं, न तो नया है, न इसे बच्चों या किशोरों ने जन्म दिया है।

जो लोग यह कहते हैं कि बच्चों को धूम्रपान या शराब का सेवन नहीं करने देना चाहिए, वे अक्सर यह भी कहते हैं कि ऐसा इसलिए करना चाहिए कि उनकी उम्र कम है और वे समझदार नहीं हुए हैं। क्या जो अधिक उम्र के हैं वे अधिक समझदार हैं? क्या *उन्होंने* धूम्रपान बन्द कर दिया है? ना, ऐसा कुछ भी नहीं है। 5 नवम्बर 1973 में *न्यू यॉर्क टाइम्स* की एक खबर के अनुसार 1969 से प्रति वर्ष पी जाने वाली सिगरेटों की संख्या में और अठारह वर्ष से अधिक आयु के लोगों द्वारा प्रति व्यक्ति पी जाने वाली सिगरेटों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है। और तो और वृद्धि की दर भी बढ़ती जा रही है। 42 प्रतिशत वयस्क

पुरुष और 32 प्रतिशत वयस्क महिलाएँ सिगरेट पीती हैं। आलेख में बाकी लोगों द्वारा धूम्रपान की कोई दर नहीं बताई गई है। अगर समस्या यह है कि लोग नशीले पदार्थों के सेवन से होने वाली हानि को नहीं जानते तो हम उन्हें यह कच्ची उम्र में ही आसानी से बता सकते हैं। यद्यपि कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध करे कि बच्चों को दवाओं के खतरे से सावधान करने से वे उनका उपयोग करना बन्द कर देंगे। स्कूलों में चल रहे नशीले पदार्थों के शिक्षा कार्यक्रमों की रिपोर्टों (जिनमें तम्बाकू, शराब और कॉफी की कोई चर्चा तक नहीं होती) और बच्चों व किशोरों पर इन कार्यक्रमों के प्रभाव से पता चलता है कि अव्वल तो युवा वर्ग उन बातों पर ही विश्वास नहीं करता जो वयस्क उन्हें बताते हैं। दूसरे, जिन बातों पर उन्हें विश्वास होता भी है, वे नशीले पदार्थों के बारे में उनकी जिज्ञासा को और उकसाती हैं। उनमें उन्हें इस्तेमाल करने की इच्छा जगाती हैं। शायद इसी सिद्धान्त के आधार पर कि अगर माता-पिता और शिक्षक सभी इसकी इतनी बुराई करते हैं तो ज़रूर वे इतनी खराब भी नहीं होंगी। एक लेखक ने तो लिखा था कि बच्चे और किशोर नशीली दवाओं के खतरों को खूब जानते हैं, *इसीलिए तो वे उनका उपयोग करते हैं।* न्यू यॉर्क समेत कई राज्यों में यह नियम है कि स्कूलों में छात्र-छात्राओं को शराब के खतरों से अवगत करवाया जाए। क्या इन राज्यों के निवासी उन दूसरे लोगों से कम शराब पीते हैं जहाँ ऐसे कार्यक्रम नहीं चलते, और उन तमाम विधायकों का क्या जो ऐसे कार्यक्रम बनाते हैं? बिलाशक उनमें से अधिकांश विधायक जमकर पीते हैं।

बहरहाल क्योंकि तमाम लोग तथाकथित रूप से शराब, तम्बाकू, कॉफी, चीनी, नींद की गोलियों तथा स्फूर्ति देने वाली गोलियों के दुष्प्रभावों के बारे में जानते हैं और फिर भी साल दर साल उनका अधिकाधिक उपयोग करते हैं, इसलिए यह मानने का क्या कारण है कि बच्चों और किशोरों के लिए उनका उपयोग तब तक वर्जित किया जाए जब तक वे "समझने लायक उम्र" के न हो जाएँ? कुछ के लिए लोग कह सकते हैं कि नाबालिग नशीली दवाओं के उपयोग में वयस्कों से भी खराब चुनाव करेंगे। पर वयस्कों द्वारा उनका उपयोग करने से अधिक खराब विकल्प भला और क्या होगा? कुछ कहेंगे कि इनका दुष्प्रभाव वयस्कों की तुलना में बच्चों पर अधिक खराब होगा - उनकी बढ़त रुक जाएगी, उनके हृदय का नाश हो जाएगा। अगर यह सच है तो इन दवाओं के निर्माताओं और वितरकों को यह जानकारी बच्चों समेत सबको देनी चाहिए।

बहरहाल यह मानने का कोई कारण ही नहीं है कि बच्चों को यह कहने से कि अभी नहीं, तुम बड़े होने पर धूम्रपान कर सकते हो, उनकी धूम्रपान की इच्छा पर अब या बाद में अंकुश लग सकेगा। किसी को पहली बार धूम्रपान अच्छा

नहीं लगता, या दूसरी, तीसरी या दसवीं बार। उसका स्वाद खराब होता है और संवेदन (अगर आप बिना खाँसे या दम घुटाए, धुआँ अन्दर ले पाएँ तो) तेज़ और असुखद। धूम्रपान के बाद मुँह का स्वाद भी कड़ुवा हो जाता है। इसकी आदत डालने के लिए दृढ़ता की ज़रूरत पड़ती है। बच्चे या किशोर क्यों अड़े रहते हैं? इसलिए, क्योंकि यह एक ऐसी दुनिया में वयस्क होने की निशानी है जिसमें वयस्कता की बहुत कम निशानियाँ उपलब्ध हैं। और फिर वे तमाम वयस्कों को ऐसा करते देखते हैं। अतः उनकी अपनी इन्द्रियाँ धूम्रपान के बारे में जो कुछ कहें, उसके बावजूद वे सोचते हैं कि साग्रह जुटे रहने पर कभी न कभी तो उन्हें इसकी रहस्यमय अच्छाई समझ आ ही जाएगी। बड़ों की तरह, कुछ समय बाद उन्हें भी इसकी लत पड़ जाती है। पर छोटे बच्चे अपनी इन्द्रियों पर अधिक भरोसा करते हैं। जब किसी चीज़ का स्वाद उन्हें अच्छा नहीं लगता, वे उसका उपयोग लगातार करते नहीं जाते। वे मना करते हैं। अगर हम सच में चाहते हैं कि बच्चे धूम्रपान न करें, तो शायद हमें धूम्रपान को ठीक उसी नज़रिए से देखना चाहिए जिससे हम पढ़ाई को देखते हैं। अर्थात् हमें हर बच्चे को स्कूल में एक या दो सिगरेट पिलानी चाहिए। और जो न पिए या न पी पाए, या *मना करे,* उसका अपमान करना चाहिए, उन्हें सज़ा देनी चाहिए।

आज कई बच्चे कानून द्वारा अनुमति पाने से काफी पहले से ही धूम्रपान करते हैं (केवल सिगरेट ही नहीं, मारियुआना भी), शराब पीते हैं और वह भी सिर्फ घर में नहीं। ज़्यादातर बच्चे बारह साल की उम्र के पहले ही तम्बाकू पी चुके होते हैं (शायद मारियुआना भी), और कुछ तो नियमित रूप से पीते हैं। ज़्यादातर बच्चे इस उम्र तक शराब भी चख चुके होते हैं। और कई, शायद अधिकांश, चौदह-पन्द्रह साल के पहले धुत्त होने का अनुभव भी ले चुके होते हैं। अगर उन्हें अनुमति होती तो शायद वे इससे भी ज़्यादा धूम्रपान करते या शराब पीते। फिर भी यह इन्हें वर्जित करने का अच्छा या पर्याप्त कारण नहीं है। मेरा निजी विश्वास यह है कि बच्चे व किशोर इसलिए धूम्रपान करते हैं या शराब पीते हैं क्योंकि वे एक ऐसे समाज में बड़े *नज़र आना* चाहते हैं जहाँ बड़े *हो जाने* का कोई वास्तविक या गम्भीर तरीका है ही नहीं। या फिर वे ऐसा आचरण अपने हमउम्र साथियों के दबाव में करते हैं ताकि वे सिद्ध कर सकें कि वे भी बड़े साहसी हैं। यह भी इसलिए क्योंकि हमारे समाज में साहसिकता को सिद्ध करने का कोई गम्भीर और प्रामाणिक तरीका नहीं है। या फिर वे अपने कृत्यों से वयस्कों को दिखाना या डराना चाहते हैं। ऐसे में उनका सिद्धान्त रहता है, "उनमें मिल न सको तो उन्हें भाड़ में जाने दो!"

अगर छोटे अपने हमउम्र साथियों के सामाजिक दबाव में इतनी आसानी से आ

जाते हैं तो शायद यह इसलिए भी होता है क्योंकि वे किसी दूसरे समूह का हिस्सा बन ही नहीं सकते। उन्हें दूसरों से मिलने का न तो अवसर मिलता है, न अनुमति ही होती है। जब वे वयस्कों से मिलते हैं तो वे महज़ बच्चों, अधीनस्थ लोगों या उनसे हीन लोगों के रूप में ही मिलते हैं, जिनके पास न तो ज्ञान है, न आत्मसम्मान, न अधिकार, और न ही जिनका कोई मूल्य है। ऐसे लोगों से उनका कोई सम्पर्क ही नहीं होता जो हमउम्र साथियों के दबाव का प्रतिकार एक बेहतर उदाहरण द्वारा कर सकें। वे ऐसे वयस्कों से बिरले ही मिलते हैं जिन्हें वे अपनी बेवकूफी या विनाशकारी व्यवहार से निराश या दुखी नहीं करना चाहते हों। ऐसे सौभाग्यशाली बच्चे बिरले ही हैं जो एक भी ऐसे वयस्क को जानते हों जिसे वे पसन्द करते हों, जिस पर भरोसा करते हों या जिसका इतना सम्मान करते हों कि अपने बारे में उसकी अच्छी राय को बनाए रखना चाहते हों।

छुटपन में शराब पीते वक्त मैं लगभग हमेशा ही जानबूझकर ज़्यादा पीता था। ऐसा मैं केवल स्पर्धात्मक सामाजिक परिस्थियों में ही करता - दावतों, नृत्य समारोह आदि में। वहाँ मैं स्वयं को बेहद असहज पाता और दूसरों में नज़र आने वाले आत्मविश्वास (परन्तु जो दरअसल होता नहीं था) को जगाने के लिए पीता था। पर समस्या तो उन सामाजिक समारोहों और स्पर्धा की थी। ऐसे समाजों में जहाँ बच्चों के प्रति अधिक सम्मान हो, ऐसे अवसर भी अधिक होंगे जिनमें विभिन्न आयु के लोग एक दूसरे से मिलें, जहाँ व्यक्ति की "हैसियत" इतनी महत्वपूर्ण नहीं होगी, और जहाँ बड़ी उम्र के अधिक अनुभवी और दयालु लोग, वहाँ लोग व्यापक समाज में बच्चों के प्रवेश को अधिक आसान बना सकेंगे। जब मैं छोटा था तो उन समारोहों में ही स्वयं को अधिक सहज पाता था जहाँ अधिकांश लोग बड़े होते थे और मुझे अपनी लोकप्रियता की फिक्र नहीं करनी पड़ती थी।

जिन परिवारों में शराब को एक रहस्यमय और वर्जित वस्तु नहीं बनाया जाता, उनमें बच्चों का शराब के प्रति नज़रिया भी अधिक समझदारी भरा होता है। ऐसे परिवारों में खूब छोटे बच्चों को भी उसका स्वाद चख लेने दिया जाता है जो वयस्क पी रहे हों। पाँच साल की उम्र तक उन्हें ऐसा करना अच्छा ही लगता है। पर उसके बाद वे इसे नापसन्द करने लगते हैं, और काफी बड़े हो जाने तक फिर से उसमें रुचि नहीं लेते। खास मौकों पर उन्हें थोड़ी वाइन या शैम्पेन पीने की छूट मिलती है। बारह के हो जाने पर उन्हें माता-पिता या मेहमानों के साथ एक गिलास बीयर भी थमा दी जा सकती है। ऐसे बच्चे अमूमन यह भ्रान्ति नहीं पालते कि दारू पीने से बड़े होने का करिश्माई सबूत दिया जा सकता है। शराब उनमें शायद तीव्र इच्छा भी नहीं जगाती। और शायद वे यह भी जानते

हैं कि शराब का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है और इसी कारण इसके उपयोग में अधिक समझदारी बरतते हैं।

संक्षेप में, मुझे नहीं लगता कि हमें बच्चों को उन नशीले पदार्थों से "बचाने" की ज़रूरत है जिनका उपयोग उनके बड़े-बुज़ुर्ग करते हैं। जिस समाज में अधिकांश लोग किसी न किसी तरह का नशा करते हैं, और कुछ तो अत्यधिक और अविवेकपूर्ण नशा करते हैं, हम बच्चों को उनसे "बचा" भी कैसे सकते हैं? कुछ साल पहले फ्रांस में एक बड़ा-भारी हंगामा खड़ा हुआ। शोधकर्ताओं ने पाया कि देश के कुछ हिस्सों में कई बच्चे दस साल की आयु के भी पहले नशेड़ी बन जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण बड़ा सीधा-सा था। उन इलाकों में वयस्क सिर्फ शराब ही पीते थे - वाइन, साइडर और ब्रांडी। बच्चे सक्रिय होते हैं। उन्हें प्यास भी लगती है। उन्हें पीने को ढेर-सा चाहिए होता है। अगर पीने को शराब के अलावा कुछ हो ही नहीं तो वे नशेड़ी ही बनते हैं। इसका सबसे अच्छा और एकमात्र उपाय है पीने की दूसरी चीज़ें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करवाना। इसके अलावा जो हम कर सकते हैं वह है :(1) जिसका उपयोग वे कर रहे हैं, उसकी पूरी सूचना उपलब्ध करवाना; (2) ऐसे वयस्कों के उदाहरण प्रस्तुत करना जो नशेबाज़ न हों; (3) एक ऐसा समाज रचना जहाँ वयस्कता सिद्ध करने के लिए शराबखोरी से बेहतर तरीके मौजूद हों; (4) ऐसा समाज रचना जो इतना उबाऊ, निरर्थक, आशाहीन या भयावह न हो कि लोगों को उससे बचने के लिए नशे का सहारा लेना पड़े।

हमारे स्कूल भी बच्चों में नशीले पदार्थों के उपयोग का प्रसार करने में अक्सर मददगार रहे हैं। अंशतः इसलिए कि वे बच्चों के लिए एक दूसरे से मिलने का स्थान, अतः आपूर्ति के केन्द्र भी हैं। इस अर्थ में स्कूलों ने कोने वाली दवा-दुकान की जगह ले ली है : वे अब नशीली दवाओं के अड्डे *बन चुके हैं।* साथ ही वे ऐसे स्थान भी हैं जहाँ बच्चे एक दूसरे से नशीली वस्तुओं के सेवन के निजी अनुभवों की चर्चा करते हैं। उससे हुई संवेदनाओं और प्रभावों की तुलना करते हैं। साथ ही स्कूलों की तुच्छ, स्वयं को बेहतर सिद्ध करने वाली स्पर्धात्मकता फैलकर नशीले पदार्थों की दुनिया में भी लागू हो जाती है। जिन बच्चों को अध्ययन में स्पर्धा करना सिखाया जाता है, एक दूसरे की कीमत पर जीतना सिखाया जाता है, वही बच्चे नशा करने और इस या उस पदार्थ के उपयोग में स्पर्धा करने पर उतर आते हैं। ताकि वे सिद्ध कर सकें कि वे दूसरों की तुलना में अधिक साहसी और प्रयोगशील हैं। स्कूली गतिविधियाँ भी अक्सर बहुत उबाऊ, चिन्ता पैदा करने वाली, बदशक्ल और सज़ाओं से भरी होती हैं। कई बच्चे कहते हैं कि वे स्कूल भवनों में ही नशा करते हैं ताकि उनका दिन किसी तरह कट सके। इस अर्थ में स्कूल काफी कुछ एक कारखाने जैसा ही

नीरस होता है, जहाँ नशीले पदार्थों का उपयोग क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

हमारे देश में कुछ समय तक हेरोइन तक का उपयोग कानूनी था। डॉ. थॉमस त्सैज़्ज़ ने यह कई बार कहा है। कई सम्मानजनक व्यक्ति इसका उपयोग करते थे और उनमें से कई के जीवन काफी सामान्य और उत्पादक भी रहे थे। यह कहना सच नहीं है, या आवश्यक रूप से हमेशा सच नहीं है, कि हेरोइन का उपयोग लोगों को सामान्य स्थितियों में कार्य नहीं करने देता। आज भी हेरोइन के कई नशेड़ी नौकरियाँ करते हैं। जब तक वे इस तथ्य को गुप्त रख सकते हैं तब तक काम करते रहते हैं। पर जब यह बात उजागर हो जाती है तो उन्हें निकाल दिया जाता है और तब यह सच में एक सामाजिक समस्या पैदा करती है। न ही यह सच है कि हेरोइन अपने आप में, आवश्यक रूप से एक जीवननाशक दवा है, जैसा अधिकारी तथा प्रेस हमें बताते हैं। एक शोधकर्ता और चिकित्सक ने हाल ही में लिखा था कि उन्होंने अपने तात्कालिक और दूरगामी प्रभावों में शुद्ध हेरोइन को सबसे कम नुक्सानदेह नशीले पदार्थों में से एक पाया है! जीवननाशी है हेरोइन के उपयोग की जीवन शैली - हेरोइन पाने की दिक्कतें, उस पर लुटाई जाने वाली कीमत। यह सब तथा यह तथ्य कि अक्सर हेरोइन इस कदर अशुद्ध और मिश्रित रूप में ली जाती है कि वह खतरनाक बन उठती है। अतः कई मौतें, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे हेरोइन के अत्यधिक उपयोग के कारण हुई हैं, वास्तव में क्विनीन या दूसरे प्रकार के ज़हर से होती हैं। शुद्ध हेरोइन से खुद को मारना हो तो जितनी मात्रा की ज़रूरत होगी उसकी कीमत कोई नशेड़ी झेल नहीं सकता। अपने आप में हेरोइन शायद उतनी हानिकारक नहीं जितने हानिकारक तम्बाकू या शराब होते हैं। पर वह उसके सेवन करने वालों को तत्काल और सस्ता आनन्द उपलब्ध करवाती थी। हमारे जैसे अतिनैतिक देश में यह अपने आप में एक खराब बात थी। साथ ही यह दवा सेवन करने वालों को महत्वाकांक्षी और निष्क्रिय भी बनाती थी। यह सबको और भी खराब लगता था। जिस बात से लोगों को गुस्सा आता था वह यह विश्वास था कि हेरोइन (या मारियुआना) लेने वाले लोग काम करना ही नहीं चाहते। सो जनता को यह विचार बेचा गया कि हेरोइन भयानक रूप से खतरनाक है और तब उसे गैरकानूनी घोषित करने के नियम बनाए गए। इससे हेरोइन नियंत्रक उद्योग जन्मा जो अब एक बड़ा भारी धन्धा है। और जन्मा हेरोइन आपूर्ति उद्योग, जो और भी बड़ा व्यापार है। (ये दोनों व्यापार कई स्तरों पर परस्पर जुड़े हुए भी हैं। पर यह मानने का खास कारण नज़र नहीं आता कि हेरोइन उपयोग प्रारम्भ में एक महत्वपूर्ण स्वास्थ्य समस्या रही होगी। जिस वक्त हेरोइन का उपयोग वैध था तब भी अनुमानतः दो लाख लोग इसका आदतन उपयोग करते थे। इस आँकड़े की तुलना वर्तमान

में देश के नब्बे लाख शराबियों से करें, या उन पचास हज़ार लोगों से करें जो प्रतिवर्ष कार दुर्घटनाओं में मरते हैं या इससे भी अधिक जो उनमें घायल होते हैं।

बीच-बीच में कुछ हेरोइन विरोधी विशेषज्ञ या प्रशासक यह भी कहते हैं कि कुछ देशों में इस नशीली दवा को कानूनी घोषित करने का प्रयोग भी किया गया। पर वह "सफल" नहीं रहा। जब हम यह पूछते हैं कि "सफल नहीं रहा से क्या मतलब है? किन अर्थों में असफल रहा?" तो वे कहते हैं कि असफल इस तरह से कि लोग अब भी वहाँ इसका नशा करते हैं, शायद पहले से भी अधिक। इसे ही तर्क शास्त्र में "भ्रान्तिपूर्ण प्रश्न" कहते हैं। जब लोगों को हेरोइन के इस्तेमाल की छूट होगी तो कुछ लोग इसका उपयोग करेंगे ही, क्योंकि उन्हें यह पसन्द है। ठीक उसी तरह जैसे लोग कॉफी या तम्बाकू या शराब का उपयोग करते हैं। अगर कुछ लोग अपने शरीरतंत्र में तेज़, मनोसक्रिय व लत डालने वाली दवाएँ महज़ इसलिए ठूँसते हैं कि उन्हें वे पसन्द आती हैं, तो कुछ दूसरे लोग अन्य प्रकार की दवाएँ ठीक इसी कारण से क्यों नहीं लेंगे!*

हाल की रिपोर्टों से पता चलता है कि जैसे-जैसे हेरोइन अधिक महँगी, कठिनाई से उपलब्ध होने वाली और घटिया गुणवत्ता वाली होती जा रही है, अधिक से अधिक लोग दूसरी, अधिक आसानी से उपलब्ध दवाओं की ओर आकर्षित हो रहे हैं - नींद की गोलियाँ, शान्त करने वाली गोलियाँ, शामक गोलियाँ। इससे उपजने वाली स्वास्थ्य समस्या अधिक खतरनाक है। नींद की गोलियों में क्रमशः जमा होने वाला विष नहीं होता। शरीर अपनी सामान्य प्रक्रियाओं से उसे बाहर निकाल देता है। अधिक मात्रा में उन्हें ले लेने पर व्यक्ति को खतरे से बाहर लाने के लिए केवल आगामी आठ घण्टों तक जीवित और जगाए रखना पड़ता है। पर यह प्रशांक, शामक व सम्मोहक दवाओं के बारे में सच नहीं है जो शरीर में बनी रहती हैं। उन्हें अधिक मात्रा में लेने के बाद अगर व्यक्ति ज़िन्दा रह भी जाता है तो उसे दो सप्ताहों से भी अधिक सघन देखभाल में रहना पड़ता है।

अक्सर यह अनुमान लगाया जाता है कि उत्तेजक व शामक दवाओं का लगभग दो-तिहाई कानूनी उत्पादन आज काला बाज़ारों तक पहुँच रहा है। इससे उनके उपयोग को "नियंत्रित" करना लगभग असम्भव बन चुका है। ये "कानूनी"

* *द न्यूयॉर्कर* के 24 सितम्बर और 1 अक्टूबर 1973 के *रिपोर्टर एट लार्ज* परिशिष्ट में होरेस फ्री लैण्ड जडसन का एक आलेख "द ब्रिटिश एण्ड हेरोइन" छपा था। हेरोइन से निपटने के ब्रिटिश और अमरीकी तरीकों की तुलना करने वाला एक बढ़िया और सम्भवतः सबसे ताज़ा और संतुलित लेख।

दवाएँ न केवल भारी मात्रा में उपलब्ध हैं बल्कि उन्हें तरह-तरह से मिश्रित करने की असीम सम्भावनाएँ भी हैं। ऐसा एक मिश्रण है नींद की दवाओं और शराब का, जो बेहद खतरनाक है। उनके अकेले के दुष्प्रभावों से कई गुना खतरनाक।

यह भी सच है कि ऐसे नशीले पदार्थ बनाना बहुत कठिन भी नहीं है। रसायनशास्त्र का जिसे थोड़ा-बहुत भी ज्ञान हो वह ऐसे उपकरण बना सकता है जो उसके घर के किसी कमरे में आसानी से रखे जा सकते हैं। यह एल.एस.डी. के साथ किया जा सकता था। आज एल.एस.डी. की माँग घट चुकी है। कुछ तो इसलिए क्योंकि यह प्रदूषित और बदनाम हो चुकी थी और कुछ इसलिए कि दूसरी दवाएँ फैशन में आ गई हैं। पर अगर फैशन फिर बदले तो इसके असंख्य छोटे वितरक मिलेंगे। यह बात कई अन्य दवाओं पर भी लागू होती है। नशीली दवाओं के रोगियों के पुनर्वास में लगे लोगों में से एक भी नहीं मानता कि बड़ी दवा कम्पनियों के ज़रिए बाज़ार में आने वाली नशीली दवाओं के स्रोत कभी भी खत्म होंगे। ज़ाहिर है कि नशीली दवाओं के नियंत्रण के लिए जो प्रयास वितरण रोकने या उन्हें गैर-कानूनी घोषित करने के माध्यम से किए जा रहे हैं वे उतने ही असफल सिद्ध होंगे जितना नशाबन्दी अभियान सिद्ध हुआ था। इनका नतीजा भी वही रहा है - आपराधिक वितरण उद्योग की वृद्धि हुई है, नागरिकों के निजी जीवन में पुलिस की दखल बढ़ी है, पुलिस तथा कानून लागू करने वाले अधिकारियों में हिंसा और भ्रष्टाचार बढ़ा है।

हाल में *द न्यू यॉर्क टाइम्स* समेत कई प्रकाशनों में कुछ भयावह आलेखों में नारकॉटिक्स एजेंटों के गैर-कानूनी, हिंसक और खूनी कृत्यों का वर्णन छपा था। इन अधिकारियों ने एक के बाद एक, तमाम प्रकरणों में वॉरण्ट या अदालती आदेश के बिना, और अक्सर बिना किसी सबूत या कारण के, केवल अपने निजी अन्दाज़ या अफवाह के आधार पर, बिना अपनी यूनिफॉर्म या पहचान पत्र के साथ, आधी रात को भी लोगों के घरों में धावा बोला। उन्हें डराया, धमकाया और कुछ दृष्टान्तों में उन लोगों को मार तक डाला जिन्होंने स्वाभाविक रूप से उनका विरोध किया था या भागने की कोशिश की थी। ऐसे हिंसक और गैर-कानूनी छापों के दौरान जब एजेंट किसी निर्दोष व्यक्ति को मार गिराते हैं (जैसा कैलीफोर्निया के हुम्बोल्ट काउण्टी में हुआ) तो भी उन्हें सज़ा नहीं होती। उक्त प्रकरण में सैन फ्रांसिस्को की एक अदालत ने यह फैसला सुनाया कि जिस व्यक्ति की हत्या की गई थी उसके किसी भी नागरिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं किया गया था। ऐसे में हम सिर्फ यही सवाल पूछ सकते हैं कि भेष बदले हुए पुलिस वाले, बिना प्रमाण या वारण्ट के, आपके घर पर बिना नागरिक अधिकारों का उल्लंघन किए सशस्त्र और अकारण हमला कर

सकते हैं, तो वे भला कौन-से नागरिक अधिकार हैं जो हमारे पास बचे रहते हैं? हमारे नशीले पदार्थ विरोधी कानून और उनके पीछे जो उन्माद है वही इस तरह की वैध हत्याओं को आमंत्रित करता है और हम ऐसी तमाम अन्य घटनाओं की उम्मीद कर सकते हैं।

एन्ड्रयू मैल्कम ने 19 अगस्त 1973 के रविवारीय *द न्यू यॉर्क टाइम्स* में "ड्रग रेड विक्टिम्स् स्ट्राइव टु कंस्ट्रक्ट ए न्यू लाइफ" शीर्षक से एक खबर लिखी थी। इसमें एक ऐसी ही गैरकानूनी व हिंसक नशीली दवाओं के छापे के बाद जो घटा उसका उल्लेख थाः

> इलिनॉए में कॉलिन्सविले में रहने वाले एक दम्पत्ति हर्बर्ट तथा इवेलिन गिग्लिओट्टो, जो अपने घर पर गैर कानूनी सरकारी छापे और उसके बाद *सताए जाने* [इटैलिक्स मेरी तरफ से, विशेष ध्यान के लिए] के कारण घर से भागने पर मजबूर हुए थे, अब अपना नया जीवन प्रारम्भ करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।
>
> ...नशीली दवा दुरुपयोग कानून को लागू करने वाले संघीय कार्यालय के 15 एजेंट, बिना वॉरण्ट और बिना अपने वरिष्ठ अधिकारी की अनुमति के, उनके अपार्टमेंट में देर रात घुस आए। अश्लील गाली-गलौज के बाद उन्हें बन्दूक की नोक पर बिस्तर पर बैठाए रखा और उनके दो कमरों के अपार्टमेंट को तहस-नहस कर डाला। और तब जाकर उन्हें समझ आया कि वे गलत पते में घुस आए हैं। किसी प्रकार की नशीली दवा उस घर से बरामद नहीं हो सकी।
>
> गिग्लिओट्टो दम्पत्ति ने संघीय नशीली दवा निरोधक विभाग पर 10 लाख डॉलर का मुकदमा दायर किया...विभाग ने अपने छह नारकोटिक्स एजेंटों को नौकरी से बरखास्त करने की कार्यवाही शुरू की...
>
> गिग्लिओट्टो दम्पत्ति द्वारा इस छापे की शिकायत करने के बाद से देर रातों को अनाम फोन आने लगे। उनकी दोनों खड़ी गाड़ियों को तोड़-फोड़ डाला गया। श्री गिग्लिओट्टो के भाई की कार को भी नुकसान पहुँचाया गया। और हाल में इलिनॉए निवासी उनकी माँ के घर में किसी ने जबरन घुसने की कोशिश की।
>
> श्री गिग्लिओट्टो ने अपने नए किराए के मकान में बताया कि "हमने जुलाई के प्रारम्भ में तय किया कि हम शहर छोड़ देंगे।"

> उन्होंने आग्रह किया कि उनका नया पता किसी को न बताया जाए।
>
> "सम्भव है कि इन छापों को प्रकाश में लाकर हमने कुछ हासिल किया हो। पर हमारी ज़िन्दगियों को तो उन्होंने तबाह कर डाला है।" यह 31 वर्षीय श्री गिग्लिओट्टो का कथन था, जो इलिनॉए की अपनी नौकरी त्यागने के बाद कोई काम तक नहीं तलाश पा रहे हैं...।

यह एक आश्चर्यजनक घटना है। यह सिद्ध नहीं हो सका है पर इसे मानने के कई कारण हैं कि नशीली दवा निरोधक अधिकारी स्वयं या उनसे जुड़े लोग इस दम्पत्ति को सताने पर आमादा थे। इससे परेशान हो उन्हें अपना शहर और नौकरियाँ त्यागनी पड़ीं। क्या हम इस हद तक पहुँच चुके हैं कि सरकारी अधिकारी एक बार हम पर आपराधिक हमला करने के बाद, हमारे द्वारा शिकायत करने पर हम पर फिर से हमला करेंगे? और जिस नागरिक ने सरकारी अधिकारियों की गैर-कानूनी हरकतों की शिकायत की उसे अपने बचाव में छुपते फिरना होगा जैसे कि *वह* अपराधी हो? सम्भव है कि यह कहानी पूरी भी नहीं हुई हो, पर फिलहाल उसकी यही स्थिति है।

बहरहाल वयस्कों द्वारा नशीली दवाओं के उपयोग को नियंत्रित करने के कानून का लाभ कम और नुकसान ही अधिक होगा। और ठीक यही असर ऐसे कानूनों का होगा जो बच्चों को वह सब करने से रोकते हैं जिसे करने की वयस्कों को छूट हो। अगर यह सच भी हो कि किसी नागरिक द्वारा नशीली दवाओं का उपयोग एक "समस्या" है, एक ऐसी खराब चीज़ है जो होनी नहीं चाहिए, तो भी इस "समस्या" का समाधान है एक ऐसे समाज, एक ऐसी दुनिया की रचना करना जिसमें नशाविहीन जीवन भी इतना रोचक, सुन्दर और सार्थक हो कि लोग नशे के बिना ही जीना चाहें। अगर अधिकांश लोग यह जानते होते कि शारीरिक रूप से पूर्णतः चुस्त-दुरुस्त रहना कितना अच्छा लगता है, और वे ऐसे स्थानों पर रहते जो उन्हें अच्छे लगते हों, और ऐसे काम करते जो उन्हें पसन्द आते हों, तो उन्हें नशा करने पर अधिक अच्छा लगने की बजाए अधिक बुरा ही लगता। पर अधिकांश लोग छह साल की उम्र के बाद से यह जानते ही नहीं कि पूरी तरह स्वस्थ, ऊर्जावान और दुनिया से जुड़े होने का अनुभव क्या होता है। यही वह स्थिति है जिसे एन्ड्रू वाइल अपनी पुस्तक *द नेचुरल माइंड* में "प्राकृतिक नशा" (ए नेचुरल हाई) कहते हैं। समस्या एक ऐसे समाज को रचने की है जो ऐसी जीवन शैलियों को प्रोत्साहित करे जिसमें वही स्वास्थ्य, ऊर्जा

और चेतनता ताउम्र बनी रहे जिसका अनुभव लोगों ने छह साल की उम्र में किया था।

परन्तु तब भी, किसी भी समाज में, चाहे वह कितना ही बढ़िया क्यों न हो, कई लोग होंगे जो किन्हीं खास अवसरों पर नशीली दवाओं का उपयोग करना चाहेंगे। सभी संस्कृतियों और मानव इतिहासों में इंसान उतना ही नशीले पदार्थों का उपयोग करने वाला रहा है जितना औज़ार इस्तेमाल करने वाला। शायद वह हमेशा ही ऐसा रहे।

26. वाहन चलाने का अधिकार

अमरीका के अधिकांश राज्यों में बच्चों को वयस्कों के अन्य अधिकार देने के काफी पहले ही वाहन चलाने का अधिकार दे दिया जाता है। इसके सम्भावित कारण हैं उन वयस्कों के दबाव जो अब अपने बच्चों के ड्राइवर नहीं बने रहना चाहते और वाहन उद्योग तथा उसके दबाव समूह। कई और, शायद अधिकांश राज्यों में बच्चों को कानूनी तौर पर सिगरेट का पैकेट खरीदने की अनुमति के काफी पहले वाहन चलाने की अनुमति मिल जाती है। यह एक बेवकूफी है। मेरा मानना यह है कि वाहन चलाने के लाइसेंस के पहले होने वाली परीक्षाएँ न केवल और कठिन बनाई जानी चाहिए बल्कि लोगों को अधिक बार इन परीक्षाओं को देने पर बाध्य करना चाहिए। वाहन चलाने सम्बन्धी कई अपराधों के करने पर उनके लाइसेंस भी ज़ब्त कर लेने चाहिए। पर किसी भी उम्र के उस व्यक्ति को वाहन चालन की अनुमति मिलनी चाहिए जो यह दिखा सके कि उसे सुरक्षित वाहन चालन का ज्ञान है, कि यह कौशल उसके पास है।

कई लोग आँकड़ों के सहारे बताते हैं कि पच्चीस वर्ष से कम उम्र के लोग कार दुर्घटनाओं में अधिक फँसते हैं। उनका तर्क है कि वाहन चालन का सम्बन्ध दरअसल विवेक से है जो उम्र के साथ ही आता है। अतः हमें वाहन चालन की अनुमति की उम्र कम करने के बदले बढ़ा देनी चाहिए। मेरा उत्तर यह है कि अगर आँकड़े वास्तव में यह सिद्ध करते भी हों तो भी कानून में आँकड़ों के आधार पर इस प्रकार का भेदभाव अन्यायपूर्ण है। आँकड़े यह सिद्ध नहीं करते, कभी कर ही नहीं सकते, कि क्योंकि कोई पच्चीस वर्ष से कम आयु का है, अतः वह एक खराब चालक है या अपने से अधिक उम्र वालों से खराब है। अपनी तेज़ दृष्टि और तत्काल प्रतिक्रिया के कारण वह शायद बेहतर चालक ही हो। इस प्रकार के फैसले सुनाने अगर ज़रूरी हों तो समूहों के लिए शायद सुनाए जा सकते हैं। पर व्यक्तियों के लिए नहीं।

हमारे राजमार्गों (हाइवे) में होने वाली भयावह मौतों को व लोगों का गम्भीर रूप से घायल होने को रोकने के लिए कई ऐसे कदम उठाए जा सकते हैं जो युवा वर्ग के साथ भेदभाव करने वाले कानूनों से बेहतर सिद्ध हों। बल्कि उनसे उन तमाम बच्चों की भी जानें बचाई जा सकती हैं जो फिलहाल सवारियों के

रूप में मरते या घायल होते हैं। इनमें निम्नोक्त कदम भी शामिल हैंः (1) वाहन चालन की अनुमति के लिए अधिक कठोर परीक्षाएँ; (2) शराब के नशे में वाहन चलाने पर अधिक कठोर और अनिवार्य दण्ड; (3) बेहतर कारें यानी ऐसे वाहन जिनके ब्रेक बेहतर हों और जिन्हें चलाना अधिक सुविधाजनक हो; (4) ऐसे वाहन जो टक्कर से इतनी आसानी से न टूटें, जैसे रोवर, वॉल्वो और मर्सीडीज़ बेन्ज़ जो सालों से उपलब्ध हैं; (5) ऐसी कारें जो कम शक्तिशाली हों तथा उनकी शक्ति पर कठोर नियंत्रण हो; (6) गोद व कन्धों की बेल्टों के उपयोग की अनिवार्यता और न उपयोग करने वालों को कठोर दण्ड; (7) वाहन निर्माता व वाहन बेचने वालों की जवाबदेही, अर्थात् जनता को यह जानकारी देना कि होने वाली दुर्घटनाएँ किस सीमा तक वाहनों की कमियों के कारण होती हैं; (8) गति सीमा को कम करना, और सड़क निर्माण के अन्य उपाय जैसे गति अवरोधक, खुरदुरी सड़कें आदि, ताकि अपनी जान बचाने के लिए धीमे न चलने वाले लोग अपने वाहनों को बचाने के लिए धीमी रफ्तार अपनाएँ; (9) उन लोगों के लिए नकद या अन्य पुरस्कार जो बिना दुर्घटना किए वाहन चलाते हों; (10) उन लोगों के लिए कठोर पुनर्परीक्षण जो दुर्घटना करें या सुरक्षा नियमों का उल्लंघन करें; (11) वाहनों की कठोर व ईमानदार सुरक्षा जाँच। और इन उपायों से भी अधिक सूझबूझ भरा काम जो हमें करना चाहिए, और जो जल्दी ही करने पर हम पेट्रोल की कमी से बाध्य भी होंगे, वह है वाहनों और वाहन चालन में कमी लाना - कारों द्वारा तमाम स्थानों पर जाना मुश्किल बना देना और वहाँ पहुँचने के आसान, सस्ते और सुरक्षित सार्वजनिक साधन उपलब्ध करवाना।

एक और बात है जो बच्चों व किशोरों तथा उनके द्वारा शराब पीने और वाहन चलाने के बारे में कहनी चाहिए। वे शराब पीकर तथा/या अविवेकपूर्ण तरीके से वाहन सिर्फ इसलिए नहीं चलाते क्योंकि उनकी उम्र कच्ची है, वे अनुभवहीन हैं या उनमें विवेक नहीं है। वे यह अज्ञान के कारण नहीं बल्कि शेखी बघारने के लिए करते हैं। वे जानते हैं कि जो वे कर रहे हैं वह खतरनाक है। और ठीक इसीलिए वे ऐसा करते हैं। कई बच्चों या किशोरों को लगता है, और शायद यह लड़कियों की तुलना में लड़कों को अधिक लगता है, कि वाहन चलाना और दारू पीना, या दोनों ही काम करने का *मतलब है* बड़ों-सा काम करना। अपनी हिम्मत और ताकत को सिद्ध करना। पर यह सब नाटक ही तो है। ऐसे समाज में जो उन्हें बड़े होने का कोई दूसरा रास्ता उपलब्ध न करवाता हो, जहाँ उनकी क्षमता और साहस को जाँचने की दूसरी सार्थक परीक्षाएँ ही न हों, वहाँ दूसरा कुछ हो भी क्या सकता है? अगर वाहनों के प्रति हमारा नज़रिया इतना रूमानी न होकर अधिक व्यावहारिक हो, अगर हम वाहनों को भरोसेमन्द और सुरक्षित

बना सकें ताकि वे पौरुष और यौन-सफलता के ग्लैमर भरे प्रतीक भर न रहें, अगर हम उन्हें नियंत्रित रख सकें, अगर ज़्यादातर वयस्क उन्हें अधिक समझदारी से, सुरक्षित तरीके से चलाएँ, और अगर बच्चों व किशोरों को वयस्क समाज से बाहर न रखकर उनका उसी वक्त स्वागत हो जब वे इसके लिए तैयार हों - तो इन स्थितियों में युवा अपने बड़ों की तरह अच्छे चालक बनेंगे। और क्योंकि उनकी आँखें, शारीरिक प्रतिक्रियाएँ और समन्वय बेहतर होते हैं, कई युवक-युवतियाँ वयस्कों से बेहतर चालक सिद्ध होंगे।

27. कानून, युवा तथा सेक्स

युवाओं समेत सभी लोगों को अपने निजी यौन जीवन व कृत्यों को नियंत्रित करने का अधिकार होना चाहिए। राज्य या सरकार इन मामलों पर नज़र रखे यह अनुचित है। मैं उन लोगों से सहमत हूँ जो मानते हैं कि वयस्क आपसी सहमति से अपने निजी स्तर पर यौन सम्बन्धी जो भी कृत्य करते हैं उसकी उन्हें छूट होनी चाहिए। यह उनका निजी मामला है। इससे किसी तीसरे व्यक्ति का कोई लेना-देना ही नहीं है। अगर कभी कानून लोगों को आज की तुलना में कम उम्र में स्वतंत्र तथा ज़िम्मेदार नागरिक बनने की छूट दे, तो मैं चाहूँगा कि ऐसे नागरिकों को भी सेक्स के सम्बन्ध में शेष नागरिकों के समान अधिकार हों। बाद में मैं उन युवाओं के अधिकारों के सवाल की भी चर्चा करूँगा जो स्वतंत्र नागरिक न हों और अभिभावकों पर आश्रित जीवन बिताते हों। यह एक और भी कठोर सवाल है।

एक कारण जिसके चलते हम यह अधिकार युवाओं को तो क्या वयस्कों को भी नहीं देते, वह हमारी यह सोच है कि सेक्स गन्दा, खराब और गलत है। हमारा समाज कामुक होने के साथ अतिनैतिक भी है। यह एक खतरनाक सम्मिश्रण है। अमरीका के कई स्थानों में प्रभावी राजनैतिक बहुमत का विश्वास है कि विवाह के तहत बच्चे पैदा करने या विवाह की संस्था को बनाए रखने के अलावा सभी प्रकार के यौनिक कृत्यों को नैतिक तथा कानूनी दृष्टि से अवैध और दण्डनीय अपराध घोषित कर देना चाहिए। अन्य दृष्टिकोणों की ही तरह शायद यह दृष्टिकोण भी तभी खत्म होगा जब इसे मानने वाले लोगों का स्थान भिन्न दृष्टिकोण वाले लोग लेंगे।

बच्चों को उनके सेक्स-जीवन को नियंत्रित करने देने से डरने का एक दूसरा कारण यह भी है कि हम उन्हें "निष्कपट" और "पवित्र" मानते हैं, अर्थात् यौनातीत मानते हैं। हम सोचते हैं कि उनके यौन सम्बन्धी विचार, भावनाएँ या इच्छाएँ होती ही नहीं। यह धारणा उन लोगों की भी है जो वयस्कों के यौन सम्बन्धों को लेकर काफी उदारवादी होते हैं। इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि बच्चों के विषय में उपरोक्त धारणा बहुत छोटे बच्चों के बारे में भी सच नहीं है। और यह दस-ग्यारह साल की उम्र के बाद के बच्चों के लिए तो बिलकुल भी सच नहीं है। कई अध्ययन दर्शाते हैं कि बच्चे अब कम आयु में ही परिपक्व

होने लगे हैं। पर बच्चों के विषय में इस धारणा से हम कई कारणों से चिपके रहते हैं। खासकर इसलिए कि उनमें यौन भावनाएँ नहीं हैं ऐसा मानने से हमारे लिए इसे मानना और इसको अनदेखा करना भी आसान हो जाता है कि हमारे प्रति उनके आकर्षण में यौनिकता का भी पुट है। तब हम प्रेम वस्तुओं के रूप में उनका अधिक आसानी से उपयोग कर पाते हैं। हम स्वयं को विश्वास दिला पाते हैं कि क्योंकि यह असम्भव है, अतः न हम उनका, न वे हमारा उपयोग यौन वस्तुओं के रूप में कर सकेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि क्योंकि यौन कृत्य के परिणाम - गर्भाधान व प्रसव - औरतों को ही भुगतने पड़ते हैं, अतः कानून को उन्हें यौन से सुरक्षा देनी चाहिए। खासकर जब वे छोटी हों ताकि वे अपनी इच्छा के विरुद्ध गर्भवती न बन जाएँ। यह बात ऐसे समाज में ठीक भी लगती है क्योंकि आज हम औरतों को यह तय ही नहीं करने देते कि वे बच्चे चाहती हैं या नहीं या कितने बच्चे चाहती हैं। बल्कि हम उन्हें बच्चे पैदा करने वाली मशीन ही मानते हैं जिसका नियंत्रण पुरुषों तथा राज्य के हाथ में है। आज पहले से कहीं अधिक संख्या में और उत्तरोत्तर कम होती जा रही उम्र में लड़कियाँ, तमाम कानूनों के बावजूद (या शायद उन्हीं के कारण), अपनी इच्छा के विरुद्ध गर्भवती होती हैं और उन्हें ऐसे बच्चे कोख में पालने और जनने पड़ते हैं जिनके साथ वे क्या करें यही उन्हें समझ नहीं आता। इससे उन्हें और निश्चित रूप से उनके बच्चों को कई ऐसी गम्भीर सामाजिक व भावनात्मक समस्याओं को झेलना पड़ता है जिनसे सभी मानवतावादी लोग उनको बचाना चाहेंगे। इसके भी परे अब इस बात के सबूत भी हैं कि कच्ची उम्र में गर्भवती होने से बच्चों के विकलांग होने का ठीक वैसा ही खतरा रहता है जो बहुत बड़ी उम्र में बच्चे होने पर रहता है।

हम इन समस्याओं, खतरों और त्रासदियों से बच सकते हैं बशर्ते हम बच्चों को छोटी उम्र में खुद ही यौन, प्रजनन तथा गर्भनिरोध के विषय में बताएँ या उन्हें यह जानकारी स्वयं तलाश लेने दें। अगर बच्चे दस साल की आयु तक यह जान लेते कि गर्भ कैसे ठहरता है और उससे कैसे बचा जा सकता है, और अगर गर्भनिरोधक और उनके उपयोग की सलाह चाहने वालों को यह आसानी से उपलब्ध हो जाए, तो सम्भवतः अवांछित गर्भाधान की समस्या का कुछ हल मिल पाता। और अगर इसके भी आगे जाकर प्रसवोत्तर गर्भ निरोधक या पुरुषों के उपयोग की गर्भनिरोधक गोलियाँ बना पाते और उसके उपयोग की सलाह उन लोगों को आसानी से उपलब्ध करवाते जो यह सलाह चाहते हों, तो अवांछित गर्भाधान की समस्या शायद होती ही नहीं। साथ ही, इसके बावजूद ठहर जाने वाले अवांछित गर्भों के गर्भपात के अगर सुरक्षित और सस्ते तरीके उपलब्ध होते तो अवांछित बच्चे हमारे समाज में नहीं होते। और तब यह

मानने का भी कोई कारण नहीं होता कि हमें अनुभवहीन किशोरियों को यौन के खतरों से बचाना है।

कुछ लोगों ने यह भय जताया है कि अगर वयस्कों को नाबालिग पर सहमत बच्चों के साथ यौनक्रिया की अनुमति दे दी जाए तो चरित्रहीन वयस्क उनका यौन शोषण करेंगे। इस कल्पना में जो छवि है वह एक निश्छल बालिका और चरित्रहीन बड़े पुरुष की है; पर एक छोटा लड़का जिसका एक वयस्क महिला से यौन सम्बन्ध स्थापित हो, उसको लेकर लोग कम चिन्तित होते हैं। यहाँ भी वही परम्परागत मिथक हावी है कि यौनिकता केवल पुरुषों में होती है तथा महिलाएँ पवित्र हैं, इसके परे हैं। ज़ाहिर है कि इस धारणा से यह विचार भी पुष्ट होता है कि अगर आयु में बड़े किसी पुरुष के साथ किसी कम उम्र की युवती का सम्बन्ध बनता है तो वह उस पुरुष का शिकार ही होगी।

तीन बेटियों की एक माँ ने मुझे एक बार बताया था कि उसने समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए अपनी एक बेटी को तमाम प्रकार की धमकियों के उपयोग से अपने किशोर साथी के साथ सम्बन्ध बनाने से रोका, उसे बचा लिया। बालिका को खुद ना भी नहीं कहना पड़ा। उसे यह कहने की छूट थी कि "मैं तो चाहती हूँ, पर मेरी माँ मेरा कत्ल कर डालेंगी।" पर यह सन्दर्भ ही उस समाज का है जिसमें पुरुष महिलाओं का शोषण करते हैं, उन्हें यौन उपभोग की वस्तुएँ मानते हैं। जिस समाज को मैं प्रस्तावित कर रहा हूँ उसमें यौन के खतरे (बेटियों के लिए) कम होंगे। साथ ही किशोरों पर यह दबाव भी नहीं होगा कि वे जीतें और स्वयं को सिद्ध करें। अगर यौन सम्बन्धों को लेकर हमारी धारणाएँ इतनी खतरों भरी, रूमानी और अल्हादक होने के साथ गन्दी और जुगुप्सा लिए न होतीं तो लोगों को उससे बचाने की आवश्यकता भी कम होती, और ज़रूरत पड़ने पर वे स्वयं को खुद ही बचा लेते। जिन महिलओं को यह लगता है कि उनका अपना कोई मूल्य ही नहीं है और जो अपने प्रति पुरुषों के यौनिक आकर्षण पर निर्भर हैं, वे उस तरह की धमकियों में न आतीं जैसी धमकियाँ आज लड़के लड़कियों के साथ काम में लेते हैं। बल्कि लड़कियाँ ऐसी धमकियों से उनसे दूर हो जातीं। अर्थात् जो युवक धमकियों का सहारा लेता उसकी दाल ही नहीं गलती।

किन्तु ऐसे भी युवा लोग हैं जो स्वतंत्र व ज़िम्मेदार नागरिकों के रूप में जीवन बिता रहे हैं और जिन्हें यौन मसलों में शेष नागरिकों की तरह अधिकार हैं। इसी तरह वे युवा लोग जो आश्रितों के रूप में जी रहे हैं, क्या उनको भी अपने यौन-जीवन को स्वयं नियंत्रित करने का अधिकार होना चाहिए? क्या इस विषय में उनके अभिभावकों का मत कोई मायने नहीं रखता? अगर वे असहमत हों तो

क्या कानून को कोई कदम उठाना चाहिए? अगर हाँ, तो कैसे कदम उठाए जाने चाहिए?

यहाँ मैं स्वयं को तमाम तनावों और आन्तरिक संघर्षों में घिरा पाता हूँ। मैं नहीं चाहता कि राज्य को लोगों के, चाहे वे बच्चे हों या वयस्क, निजी जीवन में दखल देने का उससे *अधिक* अधिकार हो जितना अब है। इसी तरह मैं यह भी नहीं चाहता कि किसी व्यक्ति का, चाहे वह छोटा हो या वयस्क, अपने यौन जीवन पर आज जितना नियंत्रण है उससे *कम* नियंत्रण हो। संक्षेप में, मैं यह नहीं चाहता कि कानून कहे कि युवा लोग ऐसे कृत्य नहीं कर सकते जो वास्तव में वे आज भी कर रहे हैं। पर आज यह कहना आसान नहीं है कि राज्य की शक्तियाँ दरअसल क्या हैं। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि बच्चों और किशोरों के इस सम्बन्ध में मौजूदा अधिकार क्या हैं।

यौनिक आचरण सम्बन्धी हमारे कई कानून अब अपनी मौत मर चुके हैं। वे न तो अब लागू किए जाते हैं, न किसी को उन्हें लागू करने की मंशा या उम्मीद है। कानूनी किताबों में उनका वजूद अभी भी इसलिए है क्योंकि विधायकों के लिए यह राजनैतिक रूप से अधिक सुरक्षित है कि उन्हें हटाने के बदले उनकी उपेक्षा की जाए। क्योंकि अन्यथा उन पर लांछन लगेगा कि वे यौनिक उच्छृंखलता के हिमायती हैं। कई लोगों ने यह लिखित टिप्पणी भी की है कि अगर इन पुराने कानूनों को सख्ती से लागू किया जाता तो हमारी अधिकांश आबादी आज जेल की सलाखों के पीछे होती। सौभाग्य से राज्य वह सब रोकने की कोशिश ही नहीं करता जो कानूनन वर्जित है। जब वह इसे रोकने की कोशिश करता भी है तो इसे रोक नहीं पाता। इन तमाम कठिनाइयों, खतरों और कानून के खतरों के बावजूद लगातार कम से कमतर उम्र के लोग, पहले से कहीं अधिक, आपसी यौन सम्बन्ध बनाते हैं। मुझे इससे कोई परेशानी नहीं है। अगर राज्य वह सब करना चाहता है जो उसे दरअसल करना ही नहीं चाहिए, तो वह यह सब जितनी अकुशलता से करे उतना ही बेहतर है। पर दूसरी ओर मुझे मृत कानून नापसन्द हैं, ऐसे कानून जिन्हें राज्य लागू तो नहीं करना चाहता पर जिन्हें वापस लेने की हिम्मत भी नहीं जुटा पाता। इसका मतलब होता है चुनिन्दा दृष्टान्तों में उन्हें लागू करना। इसका खतरा यह है कि ऐसे कानूनों का उपयोग राज्य केवल उन लोगों को सताने या बन्दी तक बनाने के लिए कर सकता है जिन्हें वह नापसन्द करता हो। कानून हमेशा सुस्पष्ट होना चाहिए और जो वह कहता है वही उसका अर्थ भी होना चाहिए। पर यौन मसलों में ऐसा करने की कोशिश का मतलब होगा राज्य को इन मामलों में दखल देने का कम नहीं बल्कि और अधिक अधिकार देना, जहाँ उसको ऐसा कोई अधिकार दरअसल होना ही नहीं चाहिए।

एक दूसरी चिन्ता भी है। एक ओर तो मुझे लगता है कि किसी दूसरे व्यक्ति के साथ यौन सम्बन्ध बनाने का कृत्य लापरवाही का न होकर एक ज़िम्मेदार कृत्य होना चाहिए, क्योंकि इसके निश्चित रूप से भावनात्मक परिणाम तो होते ही हैं, भले ही हम भौतिक परिणामों को नियंत्रित कर लें या उनसे बच सकें। इसका तार्किक अर्थ यह होता है कि यौनिक आज़ादी केवल उन लोगों को होनी चाहिए जिन्होंने शेष मामलों में भी ज़िम्मेदारी और स्वतंत्र नागरिक बनने का निर्णय ले लिया है। पर इसका मतलब होगा उन सभी युवाओं को यह अधिकार नहीं मिलना जो आश्रितों के रूप में जी रहे हैं। ऐसे में उन्हें रोकने का काम किसका होगा और वे इसे कैसे करेंगे? इससे वयस्क लगातार जासूसी करेंगे, नज़र रखेंगे, उपदेश या धमकियाँ देंगे। पर यह सब उतना ही अप्रभावी रहेगा जितना आज है। साथ ही बड़ों और छोटों के रिश्ते भी विषैले बनेंगे। यानी उपचार रोग से भी अधिक खतरनाक बन जाएगा। इससे भी खराब यह होगा कि आज जो बुराई मौजूद है, जिसमें कई किशोरियों को किशोरों के साथ यौन सम्बन्ध बनाने पर सालों-साल के लिए जेल में ठूँस दिया जाता है, वह बुराई बरकरार रहेगी। इससे तो हर कीमत पर हमें बचना चाहिए। किसी को बन्दी बनाने का औचित्य केवल तब ही हो सकता है जब व्यक्ति ने किसी दूसरे को गम्भीर नुकसान पहुँचाया हो। किन्तु जो यौन कृत्य पारस्परिक आनन्द के लेन-देन का हो, उसके आधार पर किसी को बन्दी बनाना न केवल भूल है बल्कि नैतिक रूप से गलत भी है।

एक और चिन्ता है। एक ओर तो यह बिलकुल उचित लगता है कि जब तक माता-पिता पर आश्रित कोई बच्चा बच्चा बना रहना चाहता है, तब तक (कम से कम माता-पिता के घर में) उसका यौन जीवन उसके माता-पिता का सरोकार भी हो। अगर उनकी सहमति हो या उन्हें कोई आपत्ति न हो तो किसी दूसरे व्यक्ति के साथ यौन सम्बन्ध बनाने में कोई समस्या नहीं है। पर अगर उन्हें यह नापसन्द हो, वे इसे अनुचित मानते हों, तो कोई कारण नहीं कि माता-पिता यह सब अपने घर में, अपनी नाक के नीचे होने दें। अप्रधान अभिभावक तो यह कह ही सकते हैं कि "तुम्हारा यौन-जीवन तुम्हारा मामला है। पर इस घर में जो होता है, वह हमारा सरोकार है। और यह हमारे घर में नहीं चलेगा। अतः अगर तुम्हें यह ठीक न लगता हो तो तुम्हें जाना होगा।" वे यह भी कह सकते हैं कि "अगर तुम हमारे संरक्षण में हो, तो हम यह नहीं चाहते कि तुम ऐसा कहीं भी करो। हम इसे अनुचित मानते हैं और इससे हमारी बदनामी होगी।" अगर माता-पिता या अभिभावक दूसरों की तथा खुद अपनी दृष्टि में अपने बच्चों के कृत्यों के लिए ज़िम्मेदार हैं, तो महत्वपूर्ण मसलों में उनके बच्चे क्या करें क्या न करें के विषय में उन्हें भी कुछ कहने का अधिकार

जायज़ ही है। बच्चों के उन अधिकारों को छोड़कर जो राज्य ने खास तौर से उन्हें प्रदत्त किए हों (जैसे मतदान का या काम करने का अधिकार), अगर बच्चे अपने माता-पिता द्वारा बनाए गए नियमों के साथ नहीं जीना चाहते और उन्हें बदलने पर माता-पिता को सहमत नहीं कर पाते, तो उनके पास यह विकल्प तो है कि वे अपने लिए किसी दूसरे अभिभावक को चुन लें या स्वतंत्र जीवन जिएँ।

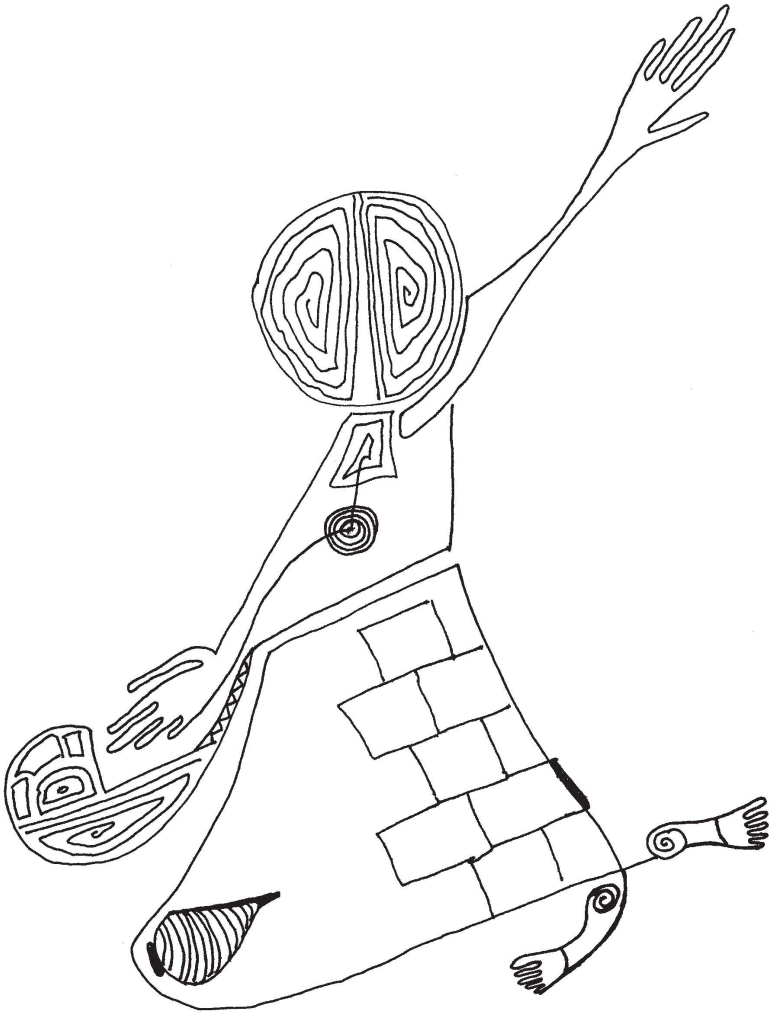

28. कदम जो उठाए जाने चाहिए

पॉल गुडमैन बच्चों और किशोरों को दिए गए अपने भाषणों में कहते थे कि एक सचमुच में भिन्न और बेहतर दुनिया के लिए काम करने का एक अच्छा उपाय है। और वह यह कि हम अपने दैनिक जीवन में यथासम्भव यह मानकर चलें कि वह दुनिया वास्तव में मौजूद है। अगर दुनिया का रूप लगभग वैसा बन जाए जैसा तुम चाहते हो, तो तुम जैसे जिओगे, दूसरों के साथ जैसा आचरण करोगे, ठीक उसी तरह आज जिओ, लोगों से आज भी वैसा ही आचरण करो। अगर इस तरह जीने में कोई अड़चन आए, तो उससे निपटने का कोई उपाय करो। शुरुआत हम इससे कर सकते हैं - हम सभी बच्चों से, चाहे वे कितने ही छोटे क्यों न हों, ऐसा व्यवहार करें जैसा हम अपने बनाए हुए समाज में चाहते हैं।

अव्वल तो हम उनसे शिष्टता बरत सकते हैं। यह उनके लिए कठिन होगा जिन्होंने अनुभव से ताकतवरों के सामने अतिविनम्र और कमज़ोरों से अभद्र व्यवहार करना और उन पर धौंस जमाना सीखा है, या जिन्होंने बच्चों को प्रेम वस्तुओं के रूप में देखना और उनसे अपने पसन्दीदा पालतू कुत्ते या बिल्ली-सा व्यवहार करना सीखा है। क्योंकि शिष्ट आचरण की पहली शर्त है हमारे द्वारा सामने वाले व्यक्ति के आत्मसम्मान और अस्मिता का आदर करना। हमें हरेक बच्चे से तब तक कुछ औपचारिकता बरतनी होगी जब तक हम यह न जान लें कि उसे कैसा बर्ताव पसन्द है। हमें न केवल उसके भौतिक वरन् उसके भावनात्मक स्थान का लिहाज़ भी तब तक रखना होगा जब तक वह स्वयं यह न जता दे कि इन स्थानों में हमारा कितनी दूर तक स्वागत करना चाहता है। यद्यपि शिष्टता का अर्थ औपचारिकता या विनम्रता से कहीं अधिक होता है, फिर भी कम से कम विनम्रता तो होता ही है। हमें बच्चों से "कृपया", "ज़रा माफ करें" या "धन्यवाद" उसी लहज़े में कहना सीखना होगा जिस लहज़े का उपयोग हम दूसरों के लिए करते हैं। हम बच्चों से नौकरों-सा बर्ताव नहीं कर सकते और उनसे उन तमाम कामों और सेवाओं की माँग नहीं कर सकते जिनकी माँग हम अपने हमउम्र लोगों से करने की कल्पना तक नहीं करते। अब क्योंकि बच्चा इस दुनिया में नया होता है और उसे दुनिया को देखने की दृष्टि भी उसके प्रति हमारे व्यवहार से ही मिलती है, यह बेहतर ही होगा कि हम

उसके प्रति अधिक विनम्रता दर्शाएँ। ठीक उन समझदार माता-पिता की तरह जिन्होंने मुझे बताया था कि वे अपने चार वर्षीय पुत्र से ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वह उनके घर में पधारा हुआ, अनजान व विदेशी सभ्यता का अतिथि हो जिसे हमारे तौर-तरीकों का कोई ज्ञान न हो, पर जो उन्हें सीखने को आतुर हो।

विनम्र बनने का एक दूसरा आसान उपाय है बच्चे की एकान्तता (प्राइवेसी) का सम्मान और उसकी सुरक्षा करना। जब तक कानून उसे (कम से कम कागज़ों पर) मनमाने ढंग से तलाशी और जब्ती से सुरक्षा नहीं देता, जैसी सुरक्षा वह हमें देता है, हमें ऐसा आचरण करना चाहिए मानो यह अधिकार उसके पास हो। तमाम अन्य चीज़ों के अलावा इसका मतलब होगा बच्चे के कमरे में बिना उसकी अनुमति माँगे और पाए नहीं घुसना। कई बच्चों के कमरों के बाहर "बाहर रहो!", "खतरा", "निजी क्षेत्र" आदि संकेत लगे होते हैं। इनकी कठोरता पर हम हँस सकते हैं, पर सम्भव है कि वह अपनी एकान्तता और सम्मान की गुहार कर रहा हो जो हमने उसे कभी दी ही नहीं और उसे हमसे इसे पाने की उम्मीद भी नहीं है। ऐसे संकेत टाँगने वाले बच्चे जानते हैं कि उसकी एकान्तता का कोई सम्मान नहीं करेगा और "उसका" कमरा घर के दूसरे कमरों की तरह ही माना जाएगा।

एकान्तता का मतलब अपने खुद के वैचारिक और भौतिक स्थान से होता है। ढेरों लोग यह मानते हैं कि यह उनका अधिकार ही नहीं बल्कि दायित्व भी है कि वे वह सब कुछ जानें जो बच्चा कर या सोच रहा है। वे पूछते हैं, "आज स्कूल में क्या किया?" अक्सर बच्चे का उत्तर होता है, "कुछ नहीं"। यह कहते वक्त उसका मतलब दरअसल होता है, "ऐसा कुछ नहीं जो मैं बताना चाहूँ"। या शायद यह कि "ऐसा कुछ नहीं जिसे मैं तुम्हें बताना चाहूँ (या बताने की हिम्मत करूँ) - कम से कम फिलहाल तो नहीं।" जिन लोगों को वास्तव में यह सुनना अच्छा लगता है कि उनके बच्चे क्या कर रहे हैं, उन्हें अमूमन यह सवाल पूछना भी नहीं पड़ता।

मैं पहले ही कुछ ऐसे सुझाव दे चुका हूँ जिनसे हम बच्चों को अधिक जानकार, दक्ष और आत्मनिर्भर बनाने को प्रोत्साहित कर सकते हैं। कुछ और सुझाव। लोग दावा करते हैं कि अगर बच्चों के पास अपना पैसा होता और वे उसे अपनी मनमर्ज़ी से खर्च सकते तो वे अपना पैसा बेवकूफी में उड़ा देते या उनसे पैसा ऐंठ लिया जाता, या वे ऐसी चीज़ें खरीद लेते जिसकी कीमत वे चुका ही नहीं पाते। हाल ही में एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा, "क्या कोई बच्चा अपना क्रेडिट कार्ड लेकर गोलियों की दुकान में नहीं पहुँच जाएगा और वहाँ से दस डॉलर की टॉफियाँ नहीं खरीद लेगा?" ऐसे सवाल उस भय और असम्मान को दर्शाते

हैं जो आम तौर पर सब वयस्कों में बच्चों के प्रति होता है। मैंने कहा कि मैंने अब तक किसी ऐसे बच्चे को नहीं देखा जो एक बार में दस डॉलर की टॉफियाँ खरीद ले। मुझे शक है कि किसी ने यह कभी किया भी होगा। और फिर भी अगर कोई बच्चा ऐसा करता है तो वह इस अनुभव से भी कई बातें सीखेगा। वह यह समझ लेगा कि इतनी ढेर सारी टॉफियाँ वह न चाहता है, न खा सकता है। सम्भव है कि वह बची हुई टॉफियाँ स्कूल में अपने दोस्तों को बेच दे और उसे कुछ मुनाफा हो जाए। वह शायद इतना ही सीखे कि पूरे दस डॉलर की सिर्फ टॉफियाँ खरीदना समझदारी का काम नहीं है। पर इस अनुभव से उसे बहुत नुकसान होगा, ऐसा भी नहीं लगता।

बहरहाल जो बच्चा एक ऐसी संस्कृति में पल रहा हो जहाँ पैसा महत्वपूर्ण है तो उसे पैसों के बारे में बहुत कुछ सीखना होगा - लोगों को पैसा कमाने के लिए क्या-क्या करना होता है, किस काम के लिए कितने पैसे मिलते हैं, वे अपनी कमाई को कैसे-कैसे सँभालते हैं। अधिकांश परिवार अपने बच्चों को ऐसे मौके नहीं देते जिनसे बच्चे ये तमाम बातें सीख सकें। ज़्यादातर बच्चे यह जानते तक नहीं कि उनके माता-पिता क्या काम करते हैं, कितना कमाते हैं, उस पैसे को कैसे खर्चते हैं, आदि। पर कई बच्चे यह जानना चाहते हैं और बेहतर हो कि वे यह सब जान लें।

परिवार की वित्तीय व्यवस्था की जानकारी से परे हम, जितना जल्दी हो सके, उसे यह विकल्प दे सकते हैं कि जो राशि हम उस पर खर्चते हैं, उसका कुछ भाग या पूरा ही वह स्वयं नियंत्रित करे। सालों-साल मध्यमवर्गीय माता-पिता अपने बच्चों को काफी कम उम्र से ही जेबखर्च के लिए कुछ निश्चित राशि देते हैं। यह राशि अमूमन बहुत छोटी होती है और बच्चे इसे छुटपुट चीज़ों के लिए खर्चते हैं। यद्यपि कुछ बच्चे इसे इकट्ठा कर, किसी ज़रूरी चीज़ पर भी खर्चते हैं। थोड़े बड़े बच्चों को कुछ ज़्यादा राशि मिलती है जिसे वे कपड़ों या मनोरंजन आदि पर खर्चते हैं। इसके बावजूद माता-पिता बच्चों की तमाम ज़रूरतों और कपड़ों आदि पर खुद खर्च करते हैं और जेबखर्च की राशि का कोई हिसाब नहीं पूछते। हम दरअसल इससे भी आगे बढ़ सकते हैं। साल-दो-साल तक हम बच्चे की मदद से उस पैसे का हिसाब रख सकते हैं जो उसकी आवश्यकताओं पर खर्च किया जाता है। हम उसे वह राशि सुपुर्द करने की व्यवस्था भी कर सकते हैं। वह राशि उसके विशेष खाते में डलवा सकते हैं जिसे वह नियंत्रित करे और स्वयं अपनी ज़रूरतों पर खर्चे। कई बच्चों की शायद इसमें खास रुचि भी न हो, पर जिनकी होगी वे कई महत्वपूर्ण बातें सीख सकेंगे। वे अपनी प्राथमिकताएँ तय करना, उनमें से चुनना सीखेंगे। और वे यह सब जितनी जल्दी सीखें, उतना ही अच्छा है। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि हम

बच्चे को अधिक महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारियाँ स्वीकारने और गम्भीर निर्णय लेने के अवसर उपलब्ध करवाएँ।

मैंने पहले भी कहा था कि बच्चों को अधिक वयस्क मित्र या अपनी आयु से भिन्न आयु वर्ग के मित्र बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। आज हम बच्चों को ऐसा करने से कमोबेश रोकते हैं। हम अपने बच्चों को बहुत कम लोगों को जानने की *अनुमति* देते हैं। हम उन्हें केवल हमउम्र दोस्त ही बनाने देते हैं। या फिर ऐसे बच्चों से दोस्ती करने देते हैं जो उनसे कुछ ही बड़े या छोटे हों। हम उन्हें केवल उन्हीं वयस्कों के सम्पर्क में आने देते हैं जो या तो हमारे मित्र हों या उसके मित्रों के माता-पिता हों। ऐसे वयस्क बच्चों को अपने मित्रों के बच्चों या अपने बच्चे के मित्रों के रूप में ही देखते हैं। बिरले ही उन्हें एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए, आठ वर्षीय टॉम के माता-पिता श्रीमती व श्री स्मिथ, सैम के माता-पिता श्रीमती व श्री जोन्स को फोन करते हैं और जानना चाहते हैं कि क्या सैम उनके घर खाना खाने आ सकता है या किसी पिकनिक पर साथ चल सकता है, या किसी खेल या फिल्म को देखने साथ चल सकता है या नहीं। ऐसे में जोन्स परिवार सोचेगा कि ठीक है, यद्यपि वे यह मानकर चलेंगे कि टॉम स्मिथ भी अपने माता-पिता के साथ जा रहा होगा। किन्तु मान लें कि स्मिथ परिवार का कोई बच्चा टॉम की उम्र का न हो, या उनका कोई बच्चा ही न हो। ऐसे में जोन्स परिवार इस आमंत्रण को ही विचित्र मानेगा और शायद सैम को जाने की अनुमति नहीं देगा। और अगर बच्चे को आमंत्रित करने वाला वयस्क अविवाहित महिला या पुरुष हो और जोन्स परिवार में बेटा न होकर बेटी हो, तो जोन्स परिवार सच में डर जाएगा।

हम बच्चों को हमेशा कहते हैं कि "अजनबियों" से बात न करना। इसका मतलब है कि अपने माता-पिता के मित्र या अपने मित्रों के माता-पिता को छोड़कर शेष सभी वयस्क वर्जित श्रेणी में आते हैं। अर्थात् हम अपने बच्चों को वयस्कों से सीमित प्रकार के सम्बन्ध बनाने की अनुमति देते हैं। इसका कारण निश्चित रूप से भय है। कहीं कोई बड़ा व्यक्ति बच्चे का अपहरण या बलात्कार न करे। उसका शोषण न करे। यह भयावह घटना होगी। पर हम पाएँगे कि अजनबियों द्वारा शोषित किए गए या मार डाले गए बच्चों की संख्या दुर्घटनाओं में मृत या गम्भीर रूप से घायल बच्चों की संख्या से बहुत कम होती है। और उन्हें "अजनबियों से सुरक्षित" करने की प्रक्रिया में हम बच्चों से अपनी उम्र से बड़े लोगों से विविध प्रकार के सम्बन्ध बनाने का अधिकार भी छीन लेते हैं। और यूँ शायद हम उन्हें भारी नुकसान भी पहुँचाते हैं।

जनता में प्रचलित ऐसे व अन्य दृष्टिकोणों को बदलना कठिन है। यह शायद

स्कूलों तथा शिक्षण के प्रति दृष्टिकोणों को बदलने से भी ज़्यादा मुश्किल है। स्कूलों पर एक अर्से से चर्चा और बहस होती रही है। किन्तु बच्चों के प्रति हमारे विचारों और दृष्टिकोणों पर, जिन्हें मैं बदलते देखना चाहता हूँ, कम ही लोग बोलते या सोचते हैं। अतः इस स्थिति में जो महत्वूपर्ण काम हम कर सकते हैं वह है इन विचारों को अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाना। साथ ही जो बच्चे हमारे नियंत्रण में हों उन्हें हम अधिक जगहों को देखने, अधिक लोगों को जानने, अधिक विकल्पों में से चुनने, अधिक चीज़ें करने के अवसर दे सकते हैं। संक्षेप में कहें तो हम उन्हें हम पर निर्भरता से हटाकर ज़्यादा से ज़्यादा स्वतंत्र होने दे सकते हैं। हमारे निजी जीवन में, एक ऐसे समाज में भी जहाँ कानून और दृष्टिकोण इसके विरोधी हों, हम काफी कुछ कर सकते हैं।

सार्वजनिक और राजनैतिक क्षेत्रों में हम जो कदम उठा सकते हैं, उनका आंशिक उल्लेख "लेस स्कूल - मोर वर्क" शीर्षक से *टाइम* पत्रिका के 27 अगस्त 1973 के अंक में छपे लेख में किया गया है। उसका कुछ भाग नीचे उद्धृत करता हूँः

> "प्रत्येक दशक के साथ शिक्षण की अवधि बढ़ती रही है। और शायद तब तक बढ़ती रहेगी जब तक कोई विचारवान व्यक्ति यह न पूछे कि क्या हमारे पास बच्चों को वयस्कता तक ले जाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।" यह कथन समाजशास्त्री जेम्स कोलमैन, अध्यक्ष युवामंच, राष्ट्रपति विज्ञान सलाहकार समिति का है। अपनी नई रिपोर्ट में कोलमैन तथा उनके समाजशास्त्री सहकर्मियों ने सुझाया है कि 14 से 24 वर्षीय अमरीकी युवा वर्ग को अधिक काम और कम शिक्षण के अवसर दिए जाएँ।
>
> ...स्कूलों की परिकल्पना में वयस्कों की आवश्यकताओं, जैसे अपने मामलों के प्रबन्धन या किसी भी गतिविधि में सघन रूप से जुड़ने के लिए कोई स्थान नहीं है। न ही ऐसे स्थान हैं जहाँ यह सीखा जा सके कि ज़िम्मेदारी कैसे उठाई जाए या दूसरों के साथ काम कैसे किया जाए।
>
> कोलमैन समिति का कहना है कि स्कूल ऐसी क्षमताएँ विकसित करने में न केवल असफल रहते हैं, बल्कि बच्चों के सारे समय पर हावी रहने के कारण वे यह सम्भावना भी खत्म कर देते हैं कि युवा वर्ग ये कौशल कहीं और से सीख सके...।
>
> ...इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि हम शिक्षण को सीमित करें और युवाओं को अध्ययन के साथ काम के अवसर दें। गम्भीर कामों

> में भागीदारी, जो विभिन्न पृष्ठभूमियों व आयु के लोगों के साथ किए जाएँ, युवाओं में वयस्क क्षमताओं का विकास करेगी तथा स्कूलों के अलगाव और निष्क्रियता को काट सकेगी।
>
> समिति का सबसे उत्तेजक सुझाव यह है कि बच्चों को स्कूलों से जल्दी निकाला जाए और उन्हें अन्य संगठनों से जोड़ा जाए। अस्पताल, वाद्यवृन्द, डिपार्टमेंटल दुकानों, कारखानों - सभी से आग्रह किया गया है कि वे इस योजना का प्रयोग करें। सोलह साल के किशोरों को लें और उनके श्रम का आवश्यकतानुसार उपयोग करें। साथ ही उन्हें नए कौशल सिखाते हुए उनकी औपचारिक शिक्षा-दीक्षा पर भी नज़र रखें। यह प्रयोग पुरानी प्रशिक्षु या शागिर्दी (एप्रेण्टिस) पद्धति की दिशा में भी बढ़ सकता है।
>
> कोलमैन स्वयं समिति के प्रस्ताव के भी आगे बढ़ते हुए सुझाते हैं कि ऐसे कर्मचारी समुदाय बनाए जाएँ जिनमें हर उम्र के लोग हों। ऐसे संगठनों में 5 से 13 वर्ष के एक हज़ार बच्चे हों तो 65 वर्ष तक की आयु के सौ वयस्क.....।

ठीक यही बात पॉल गुडमैन सालों से कहते और लिखते आए थे। यह बात उत्साहवर्धक है कि राजनैतिक सत्ता के केन्द्र के इतने सन्निकट कोई समिति भी इन विचारों का समर्थन करे। ज़ाहिर है कि इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सरकार इस मामले में कुछ ठोस कदम उठाएगी। पर कम से कम जब हम राजनैतिक सत्ताधारियों से बातचीत करते हैं, उस वक्त हमारे पास उल्लेख करने को कुछ तो होगा जिसके कारण वे हमें सिरफिरे नहीं मानेंगे। इन विचारों को सम्मानजनक बना देने भर से उन पर ठोस कार्यवाही तो सुनिश्चित नहीं होगी, पर अगर वे सम्मानजनक न दिखें तो कोई कार्यवाही कभी होगी ही नहीं।

टाइम में छपे आलेख के अगले भाग में, जिसका शीर्षक था "इफ यू कैन फाइंड इट", सम्भावित कदमों में से एक ऐसे कदम का सुझाव था जो हम संघीय स्तर पर या अपने शहरों तथा राज्यों में उठा सकते हैं:

> गत तीन वर्षों से कनाडा की सरकार ने "युवाओं के लिए अवसर" (औपर्च्यूनिटीस फॉर यूथ) नाम से एक नवाचारी कार्यक्रम प्रारम्भ किया है। इस कार्यक्रम में युवा जिस तरह के काम करना चाहते हैं, वे उन्हें सोचते और करते हैं, जैसे मुसीबत में फँसे साइकिल चालकों की सहायता के लिए गश्ती दल या निम्न आय वर्ग के बच्चों के लिए दिवा शिविर आदि।

ये काम या कार्यक्रम स्कूलों द्वारा नियंत्रित नहीं होने चाहिए, अन्यथा वे स्कूल

में अच्छे प्रदर्शन का पुरस्कार बन जाएँगे। और तब वह होगा जो आज तक सभी मौजूदा "सम्वर्धन कार्यक्रमों" में होता है - जिन्हें इन अवसरों की सर्वाधिक ज़रूरत होगी, उन्हें ही ये सबसे कम मिलेंगे।

आज भी तमाम ऐसे संगठन हैं जिन्हें युवाओं से मदद की ज़रूरत है और जो इसका स्वागत करेंगे - छोटे अखबार तथा पत्रिकाएँ, फिल्म या नाट्य समूह, छोटे स्वतंत्र स्कूल और वे संगठन जो कम लोकप्रिय मुद्दों पर कार्यरत हैं। ऐसे संगठनों की ढेरों सूचियाँ और निर्देशिकाएँ उपलब्ध हैं जहाँ काम किया जा सकता है। इनमें से पहली निर्देशिका थी "वोकेशन्स फॉर सोश्यल चेंज ऑफ कैन्यॉन" (कैन्यॉन के सामाजिक बदलाव के लिए व्यवसाय), जिसमें कैलीफोर्निया की सूचनाएँ थीं। तब से ऐसी कई पुस्तकें छप चुकी हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि *समव्हैयर एल्स* शीर्षक से एक प्रकाशन तो इन्हीं तमाम स्रोतों को सूचीबद्ध करता है। अधिकांश बड़े शहरों में या कॉलेज/विश्वविद्यालयों वाले कस्बों में कुछ किताबों की दुकानों में ऐसी जानकारी उपलब्ध है। कई किशोर और युवा ऐसी संस्थाओं के साथ अवैतनिक काम करना और भी पसन्द करेंगे अगर उन्हें इसके बदले स्कूलों में अंक मिल सकें। या अंक न भी मिलें पर ऐसा करने के बदले में वे स्कूलों से कानूनन छुटकारा पा सकें। स्कूल उपस्थिति की अनिवार्यता सम्बन्धी हमारे कानून इसे सम्भव बनाने के लिए बदले जाने चाहिए।

साथ ही हम विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में युवाओं के नागरिक अधिकारों के घोर उल्लंघनों को सुधारने के लिए भी कुछ कर सकते हैं। इनमें सबसे भयानक है स्कूलों में दिया जाने वाला "शारीरिक दण्ड" जिसे हम शायद बच्चों पर वयस्कों द्वारा किया जाने वाला कानून सम्मत हमला भी कह सकते हैं। और अमूमन ये पिटने वाले बच्चे निर्धन या अल्पसंख्यक परिवारों से होते हैं। यह परिपाटी अधिकांश राज्यों में, कम से कम कुछ समय पहले तक, कानूनी रूप से मान्य थी और मैसाच्यूसेट्स में इसका खूब प्रचलन था, जहाँ अब यह गैर-कानूनी है। इस नृशंस और भयावह तरीके के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। खासकर जौनैथन कोज़ोल की पुस्तक *डेथ एट एन अर्ली एज* में। अतः इस पर बहुत कुछ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। अब शारीरिक दण्ड समाप्त करने के लिए एक राष्ट्रीय समिति का भी गठन किया जा चुका है। समिति एक समाचार पत्रिका भी छापती है (सम्पादक हैं, एमरी विश्वविद्यालय, एटलाण्टा की डौना हज़ूरी)। एक दूसरी समिति है, भावी पीढ़ी पर हिंसा समाप्ति समिति (कमिटी टू एण्ड वायलेन्स अगेन्स्ट द नेक्स्ट जेनेरेशन) जो कैलीफोर्निया के बर्कले शहर में स्थित है।

व्यापक अर्थों में हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि कानून भविष्य में युवाओं

को वयस्कों से अधिक दण्ड न दे। या कोई अपराध या कृत्य किए बिना ही सरकार के चंगुल में फँसे युवाओं से नृशंस व्यवहार के बदले मानवीय व्यवहार हो। इन उद्देश्यों की दिशा में काम कर रहा संगठन है बाल न्याय संस्थान (इन्स्टिट्यूट फॉर जुवेनाइल जस्टिस)। यह न्यूयॉर्क में है।

कुछ विधानसभाओं में उन अधिकारों के बिल प्रस्तुत करवाने की चेष्टा करना भी उपयोगी होगा जो मैंने प्रस्तावित किए हैं। चाहे उनके पारित होने की सम्भावना पहले न भी हो। इससे इन प्रस्तावों पर बातचीत होगी। लोगों का कुछ ध्यान आकर्षित होगा। विधानसभाओं की समितियों के समक्ष लोग अपने बयान दे सकेंगे। कुछ सहृदय विधायक भी मिलेंगे जिनके साथ हम भविष्य में इन नियमों के लिए काम कर सकेंगे।

इसके अलावा कुछ नियम निकट भविष्य में राजनैतिक रूप से सम्भव लगते हैं। सम्भव है कि हम धीमे-धीमे कानूनी वयस्कता की आयु को अठारह वर्ष घोषित करवा सकें। ऐसे कानून पारित करवा सकें जो काम करने का अधिकार, अठारह वर्ष या उससे भी पहले स्वतंत्र नागरिकों के रूप में जीने का अधिकार, उन युवाओं को दिलवा सकें जिनके परिवार नहीं हैं और जो राज्य के अभिभावकत्व में या उसकी कैद में जीने को मजबूर हैं। शायद हम ऐसा नियम भी पारित करवा सकें जैसा मैसाच्यूसेट्स में पारित किया गया था। इसके तहत स्कूलों के लिए यह अनिवार्य बनाया गया कि वे बच्चों के माता-पिता को या स्वयं बच्चों को भी (अगर वे अठारह वर्ष के हैं) स्कूल के सभी रिकॉर्ड उपलब्ध करवाएँ। और तब यह चेष्टा करें कि उससे भी कम उम्र के बच्चों के रिकॉर्ड भी उपलब्ध हों। हम वयस्कों के विरुद्ध मुकदमे दर्ज़ करने के बच्चों के अधिकार के विषय में भी कोशिश कर सकते हैं। यह खासकर उन मामलों में उपयोगी होगा जो बच्चों के शोषण से सम्बन्धित हैं। कोई भी माता-पिता, चाहे वे कितने भी गर्म मिजाज़ क्यों न हों, बच्चे को सीढ़ियों से लुढ़काने या खिड़की से धकेलने की हिम्मत नहीं करेंगे जब वे यह जानते होंगे कि अगर बच्चा ज़िन्दा रहा तो उन पर मुकदमा कर सकता है, या खामियाज़े का दावा कर सकता है। दरअसल करने को तो बहुत कुछ है।

मैं उसी बात से समाप्त करता हूँ जो आशा है मैं स्पष्ट भी कर चुका हूँ। मैं यह बखूबी जानता हूँ कि आधुनिक बाल्यावस्था वयस्कों और बच्चों दोनों के लिए कठिन है। बच्चे को पालना उतना ही कठिन है जितना बच्चा होना। और यह दिन-ब-दिन अधिक कठिन होता जा रहा है। मैं आशा करता हूँ कि मैं जो प्रस्तावित कर रहा हूँ उससे दोनों के लिए कुछ आसानी सम्भव होगी।

जॉन होल्ट (1923-1985)

जॉन होल्ट का जन्म न्यू यॉर्क में हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वे अमरीकी नौसेना में रहे। बाद में वे विश्व सरकार आन्दोलन से जुड़े और अन्ततः संयुक्त विश्व संघवादियों की न्यू यॉर्क राज्य शाखा के कार्यकारी निदेशक बने। उन्होंने कॉलरेडो और मैसाचुसेट्स के विभिन्न स्कूलों में पढ़ाया। वे हार्वर्ड ग्रैज्युएट स्कूल ऑफ एज्यूकेशन और कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी, बर्कले में विज़िटिंग लेक्चरर भी रहे। वे होम स्कूलिंग मूवमेंट के अग्रणी प्रवक्ता थे और तमाम वैधानिक संस्थानों के समक्ष इस बाबत ठोस साक्ष्य भी प्रस्तुत करते रहे। अपने बच्चों को घर पर ही शिक्षा दे रहे अभिभावकों के लिए वे *ग्रोइंग विदाऊट स्कूलिंग* नामक एक पत्रिका भी निकालते थे। जॉन होल्ट एक समर्पित चेलो वादक भी थे।

उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखीं, मसलन, *हाऊ चिल्ड्रन लर्न, हाऊ चिल्ड्रन फेल, फ्रीडम एण्ड बियॉन्ड, द अण्डर-अचीविंग स्कूल, इंस्टेड ऑफ एजुकेशन, नेवर टू लेट* और *टीच यॉर ओन*। उनके लेख और समीक्षाएँ द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स, *बुक वीक, लुक और पीस न्यूज* (लंदन) जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई।

एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी, रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। किताबें तथा पत्रिकाएँ इन साधनों का एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका *चकमक* के अलावा *स्रोत* (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा *शैक्षणिक संदर्भ* (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्य प्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, इन्दौर व शाहपुर (बैतूल) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।

इस किताब की सामग्री एवं सज्जा पर आपके सुझावों का स्वागत है। इससे आगामी किताबों को अधिक आकर्षक, रुचिकर एवं उपयोगी बनाने में हमें मदद मिलेगी।

सम्पर्कः books@eklavya.in

एकलव्य फाउंडेशन फॉर्च्यून कस्तूरी के पास जाटखेड़ी,
भोपाल - 462 026 (मप्र)

एकलव्य द्वारा प्राकशित जॉन होल्ट की अन्य पुस्तकेंः

बच्चे असफल कैसे होते हैं?

Escapes from Childhood

The Under- achieving School

असफल स्कूल

***बचपन से पलायन* मुक्ति के बारे में है...हरेक की मुक्ति!**

कितनी बार ऐसा होता है कि उन्हें सुरक्षित रखने की आड़ में बच्चों को बचपन के "दीवारों से घिरे बगीचे" में रखा जाता है जहाँ वे मानवीय अनुभव की दुनिया से पूरी तरह अछूते रहते हैं। आजकल के कितने एकल परिवार बच्चों तथा उनके माता-पिता के लिए भी कारागार बन गए हैं।

यदि बच्चों को कानून द्वारा समान व्यवहार का अधिकार होता...यदि वे अपने जीवन और अपने व्यवहार के लिए कानूनी तौर पर खुद ज़िम्मेवार होते...यदि उन्हें यात्रा करने, घर से दूर रहने, अपना घर चुनने या बनाने का अधिकार होता... यदि वे वह सब-कुछ कर सकते जो कोई भी वयस्क कानूनी तौर पर कर सकता है?

जो पाठक इन प्रश्नों का सामना करने की हिम्मत रखता है, वह परिवार में ऐसे नए सम्बन्ध खोज पाएगा जो माता-पिता के नियंत्रण पर आधारित नहीं होंगे...बल्कि अनुभवों और दायित्वों पर टिके होंगे।

ISBN: 978-81-87171-63-8

9 788187 171638

एकलव्य

मूल्य: ₹ 115.00

A0421H